



श्री परमात्मने नमः

धन्यमुनिदशा

भाग - 3

वीतरागी दिगम्बर जैन मुनि भगवन्तों की महिमा, मुनिराज के भेद-
प्रभेद एवं उनका स्वरूप दर्शानेवाले, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी
के विविध प्रवचनों का अनुपम सङ्कलन

सङ्कलन, हिन्दी रूपान्तरण एवं सम्पादन :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियां, जिला-भीलवाड़ (राज.)

: प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250

फोन : 02846-244334

: सह-प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णाकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

विक्रम संवत्
2077

वीर संवत्
2547

ई. सन
2021

—: प्रकाशन :—

वात्सल्य पर्व : मुनिरक्षा दिन, श्रावण शुक्ल पूर्णिमा
एवं
प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबहिन की
108वीं जन्म-जयन्ती (भाद्र कृष्ण दूज)
के पावन अवसर पर

—: प्राप्ति स्थान :—

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250 फोन : 02846-244334
2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046
www.vitragvani.com, email - info@vitragvani.com

टाईप सेटिंग :
विवेक कम्प्यूटर
अलीगढ़।

प्रकाशकीय

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के, परमपूज्य दिगम्बर जैन मुनिदशा की भावना, महिमा एवं मुनिराज के भेद-प्रभेद तथा उनके स्वरूप को दर्शानेवाले विविध प्रवचनों का अद्भुत सङ्कलन **धन्य-मुनिदशा (भाग-3)** का प्रस्तुत संस्करण सद्धर्म प्रेमी साधर्मिजनों को समर्पित करते हुए, हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

वर्तमान शताब्दी में दृष्टिगोचर दिगम्बर जिनधर्म की प्रभावना में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का अविस्मरणीय योगदान रहा है। पूज्यश्री ने स्थानकवासी श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में जन्म लेकर, स्वयं बुद्ध की तरह न केवल सत्य का अनुसन्धान ही किया, अपितु उसे प्राप्त भी किया और प्रचारित भी किया। आज इसमें कोई मतभेद नहीं है कि यदि पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का उदय नहीं हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में आध्यात्मिक जागृति का नितान्त अभाव ही रहता।

विक्रम सम्वत् 1978 की वह पावन घड़ी, जिस दिन पूज्य गुरुदेवश्री के करकमलों में शासनस्तम्भ श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा विरचित समयसार परमागम आया, जिसे प्राप्त कर उन्होंने क्या नहीं पाया ? क्या नहीं छोड़ा ? भगवान समयसारस्वरूप शुद्धात्मा को पाया और मिथ्यामताग्रह का विष छोड़ा। तभी से लगातार 45 वर्षों तक पूज्यश्री के द्वारा वीतरागी जिनशासन की जो अभूतपूर्व प्रभावना हुई, वह आज देश-विदेश में अपनी जड़ें जमा चुकी है।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री आज सदेह उपस्थित नहीं हैं, तथापि उनकी वाणी कैसेट्स, सी.डी. एवं डी.वी.डी. में अवतीर्ण होकर तथा सत्साहित्य के रूप में प्रकाशित होकर, साथ ही वर्तमान सुलभ साधनों के माध्यम से इंटरनेट, यूट्यूब इत्यादि के रूप में प्रकाशित होकर

इस पञ्चम काल के अन्त तक भव्यजीवों को मुक्तिमार्ग का बोध प्रदान करती रहेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री के मङ्गल प्रभावना उदय में सैकड़ों जिन मन्दिरों एवं कई भव्य सङ्कुलों का निर्माण हुआ है, जो उनके द्वारा प्रसारित भगवान महावीर के जीव मात्र को हितकारी आध्यात्मिक सन्देशों के व्यापक प्रचार-प्रसार में संलग्न है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में समागत प्रवचनों का सङ्कलन पूज्य गुरुदेवश्री के विविध परमागमों पर हुए प्रवचनों से किया गया है, जो आत्मधर्म के प्राचीन अङ्कों, सद्गुरु प्रवचन प्रसाद दैनिक एवं विविध प्रवचन ग्रन्थों में गुजराती भाषा में प्रकाशित हो चुके हैं। इस ग्रन्थ में समाहित प्रवचनों का सुव्यवस्थित सम्पादन एवं हिन्दी अनुवाद कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलिया द्वारा सम्पन्न किया गया है। जो हमें मुनि भगवन्तों के सम्यक् स्वरूप का परिचय कराने के साथ-साथ उनके गरिमामय जीवन की उल्लेखनीय प्रस्तुति में भी कारणभूत है।

प्रस्तुत धन्य मुनिदशा (प्रवचन शृंखला) ग्रन्थ के भाग-1 का प्रकाशन तीर्थधाम मंगलायतन द्वारा अनेक वर्षों पूर्व किया जा चुका है। अब इस ग्रन्थ का भाग-2 और भाग 3 का प्रकाशन कर जन-जन तक पहुँचाने का सफल प्रयास किया जा रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ www.vitragvani.com वेब साईट पर शास्त्रभण्डार, पूज्य गुरुदेवश्री के संकलित प्रवचन में भी उपलब्ध है। साथ ही वीतरागवाणी एप भी इसका लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

सभी साधर्मीजन इस प्रवचन ग्रन्थ का स्वाध्याय करके निज आत्महित साधें – यही भावना है।

ट्रस्टीगण,
श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,
विलेपार्ला, मुम्बई

सम्पादकीय

वीतरागमार्ग के साधक / उपासक ज्ञानी धर्मात्माओं के अन्तःस्थल में वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के प्रति दृढ़ आस्था, समर्पण एवं उछलती हुई भक्ति विद्यमान होती है। प्रत्येक सम्यग्दृष्टि साधक का अन्तरङ्ग, संयम की उत्कृष्ट भावना से ओतप्रोत होता है। अपनी चारित्रिक निर्बलता के कारण संयम धारण न कर पाने पर भी उनके जीवन में संयम एवं संयमियों के प्रति अहो भाव विद्यमान रहता है।

जैनदर्शन के अनुसार वीतरागी देव तो पूर्णता को प्राप्त परमात्मा कहलाते हैं, वे कृतकृत्य एवं पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द के भोगी सर्वज्ञ होते हैं। उनकी वाणी एवं उसी परम्परा से कथित वीतरागी सन्तों, ज्ञानी धर्मात्माओं की वाणी, जिनवाणी कहलाती है। जो पूर्णता के लिए प्रयत्नशील हैं, अतीन्द्रिय आनन्द के भोजी एवं विषय-वासनाओं की भावना से अत्यन्त दूर, ज्ञान-ध्यान और तप में लीन हैं, वे मुनिराज ही हमारे गुरु कहलाते हैं।

मुनिराज की अन्तःपरिणति को दर्शाते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है कि —

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।

ज्ञानध्यानतपोरक्तः तपस्वी स प्रशस्यते ॥ 10 ॥

अर्थात् जो पाँच इन्द्रियों के विषयों की आशा, अर्थात् वाँछा से रहित हों; छह काय के जीवों का जिसमें घात होता है, ऐसे आरम्भ से रहित हों; अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग समस्त परिग्रहों से रहित हों; ज्ञान-ध्यान-तप में आसक्त हों, वे तपस्वी, अर्थात् गुरु हैं, वे ही प्रशंसनीय हैं।

अनेक ग्रन्थों के आधार पर पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ (पृष्ठ-3) में मुनिदशा का सजीव चित्रण इस प्रकार किया है —

‘जो विरागी होकर, समस्त परिग्रह का त्याग करके, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अङ्गीकार करके — अन्तरङ्ग में तो उस शुद्धोपयोग द्वारा अपने को आपरूप अनुभव करते हैं, परद्रव्य में अहंबुद्धि धारण नहीं करते, तथा अपने ज्ञानादिक स्वभाव ही को अपना मानते हैं, परभावों में ममत्व नहीं करते, तथा जो परद्रव्य व उनके स्वभाव ज्ञान में प्रतिभाषित होते हैं, उन्हें

जानते तो हैं परन्तु इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें राग-द्वेष नहीं करते; शरीर की अनेक अवस्थाएँ होती हैं, बाह्य नाना निमित्त बनते हैं परन्तु वहाँ कुछ भी सुख-दुःख नहीं मानते तथा अपने योग्य बाह्य क्रिया जैसे बनती है, वैसे बनती है, खींचकर उनको नहीं करते तथा अपने उपयोग को बहुत नहीं भ्रमाते हैं, उदासीन होकर निश्चलवृत्ति को धारण करते हैं तथा कदाचित् मन्दराग के उदय से शुभोपयोग भी होता है – उससे जो शुद्धोपयोग के बाह्य साधन हैं, उनमें अनुराग करते हैं परन्तु उस रागभाव को हेय जानकर दूर करना चाहते हैं तथा तीव्र कषाय के उदय का अभाव होने से हिंसादिरूप अशुभोपयोगपरिणति का तो अस्तित्व ही नहीं रहा है – ऐसी अन्तरङ्ग (अवस्था) होने पर बाह्य दिगम्बर सौम्यमुद्राधारी हुए हैं। शरीर का सँवारना आदि विक्रियाओं से रहित हुए हैं; वनखण्डादि में वास करते हैं; अट्टाईस मूलगुणों का अखण्डित पालन करते हैं; बाईस परीषहों को सहन करते हैं; बारह प्रकार के तपों को आदरते हैं; कदाचित् ध्यानमुद्रा धारण करके प्रतिमावत् निश्चल होते हैं; कदाचित् अध्ययनादिक बाह्य धर्मक्रियाओं में प्रवर्तते हैं; कदाचित् मुनिधर्म के सहकारी शरीर की स्थिति के हेतु योग्य आहार-विहारादि क्रियाओं में सावधान होते हैं।

— ऐसे जैन मुनि हैं, उन सबकी ऐसी ही अवस्था होती है।’

वर्तमान शताब्दी के सर्वाधिक चर्चित व्यक्तित्व एवं हमारे जीवनशिल्पी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अन्तरङ्ग में ऐसे मुनि भगवन्तों के प्रति अपार भक्तिभाव तो था ही, वे स्वयं भी उस दशा की भावना भाते थे — जो उनके इन विचारों से स्पष्ट परिलक्षित होता है—

‘जैसे, पिता को देखते ही पुत्र को हर्ष होता है; उसी प्रकार अपने धर्मपिता को देखते ही धर्मात्मा के मन में हर्ष होता है। जिसे स्वप्न में भी ऐसे दिगम्बर सन्त के दर्शन के प्रति अरुचि का भाव आता है, वह जीव, पापी है। अरे! देवता भी जिनके चरणों में नमते हैं, कुन्दकुन्दाचार्यदेव जैसे महान सन्त भी जिनके लिये धन्य-धन्य कहते हैं — ऐसे दिगम्बर सन्त-मुनियों के प्रति जिस जीव को प्रमोद-भक्ति-बहुमान नहीं आता, वह जीव, मिथ्यादृष्टि है।

(अष्टपाहुड़ प्रवचन, 185)

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के आराधक वीतरागता के पिण्ड, मुनि चले आ रहे हों, वह तो मानो साक्षात् मोक्षतत्त्व आया है। अहा! ऐसी मुनिदशारूप जिनमुद्रा जिसे नहीं रुचती, उसे आराधना का प्रेम ही नहीं है। ऐसी जिनमुद्राधारक मुनि के साक्षात् दर्शन होने पर मुमुक्षु जीव का हृदय आराधना के प्रति, भक्ति से उछल पड़ता है।

अरे! स्वप्न में भी जिसे ऐसी मुनिदशा के प्रति अरुचि आये अथवा उसके प्रति अवज्ञा हो, वह जीव गहन भववन में भटकता है, क्योंकि उसे आराधना के प्रति तिरस्कार है। धर्मी को तो स्वप्न में भी वीतरागी सन्त-धर्मात्मा का बहुमान आता है। स्वप्न में भी मुनि इत्यादि धर्मात्मा के दर्शन होने पर भक्ति से धर्मी का रोम-रोम उल्लसित हो जाता है।

(भावपाहुड़ पर प्रवचन से)

अहो! मुनिवर तो आत्मा के परम आनन्द में झूलते-झूलते मोक्ष की साधना कर रहे हैं। आत्मा के अनुभवपूर्वक दिगम्बर चारित्रदशा द्वारा मोक्ष की सिद्धि होती है। दिगम्बर साधु; अर्थात्, साक्षात् मुक्ति का मार्ग। अहो! ये तो छोटे सिद्ध हैं! अन्तर चिदानन्दस्वरूप में झूलते-झूलते बारम्बार शुद्धोपयोग द्वारा निर्विकल्प आनन्द का अनुभव करते हैं। पञ्च परमेष्ठी की पंक्ति में जिनका स्थान है, ऐसे मुनिराज की महिमा की क्या बात? ऐसे मुनिराज के दर्शन हों तो भी महान आनन्द की बात है। ऐसे मुनिवरों के तो हम दासानुदास हैं। हम उनके चरणाविन्द को नमन करते हैं। धन्य मुनिदशा! हम भी इस दशा की भावना भाते हैं।

(- गुरुदेवश्री के वचनमृत, 142, पृष्ठ 90)

सम्यग्दर्शनसहित चारित्रदशा होती है, वहाँ बाहर में भी दिगम्बर द्रव्यलिङ्ग होता है; इस प्रकार अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग वीतरागी जिनमुद्रा धारण करनेवाले सन्त मुनि स्वाधीन आत्मसुख का अनुभव करते हैं। आचार्यदेव स्वयं ऐसे स्वाधीन सुख का अनुभव करते हैं। ऐसी जिनमुद्रा धारक धर्मात्मा मुनियों के दर्शन में जिसे प्रमोद और भक्ति नहीं आती, वह जीव, आराधना से भ्रष्ट वर्तता हुआ संसार में ही भ्रमण करता है।

धर्मी जीव तो ऐसे आराधक मुनियों को देखते ही प्रमुदित होता है कि वाह धन्य आपकी आराधना! धन्य आपकी चारित्रदशा!! धन्य आपका अवतार!!! आप साक्षात् मोक्ष का साधन कर रहे हैं। इस प्रकार धर्मी जीव, प्रमोदपूर्वक अपनी रत्नत्रय की आराधना की भावना पुष्ट करता है।'

(भावपाहुड़ पर प्रवचन से)

मुनिदशा के सम्बन्ध में गुरुदेवश्री के चिन्तन की वास्तविक वस्तुस्थिति ऐसी होने पर भी कतिपय निहित स्वार्थों के कारण पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं उनके अनुयायियों पर मुनि विरोधी होने के आरोप सदा से लगाये जाते रहे हैं। यद्यपि वे आरोप, मात्र अनर्गल कल्पना ही हैं, तथापि उससे सामाजिक वातावरण तो दूषित होता ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री पर मुनि विरोधी होने का अनर्गल आरोप शायद इसलिए भी लगाया गया कि उन्होंने कभी शिथिलाचार एवं शिथिलाचारियों का समर्थन नहीं किया। उन्होंने आगम, युक्ति और तर्क के आधार पर अपनी बात को रखा और उसमें शिथिलाचार के विरुद्ध एक सशक्त वातावरण का निर्माण किया। शायद यही कारण रहा कि शिथिलाचार के समर्थक वर्ग द्वारा उन्हें मुनि विरोधी कहा जाने लगा।

यदि शिथिलाचार का निषेध और मुनिराज के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन ही मुनि-विरोध है तो आचार्य कुन्दकुन्द, वट्टकेर, सकलकीर्ति, गुणभद्र, समन्तभद्र इत्यादि सभी वीतरागी सन्त, मुनि-विरोधी सिद्ध हो जाएँगे, क्योंकि उन्होंने अपने ग्रन्थों में कहीं भी शिथिलाचार का समर्थन या पोषण नहीं किया है, अपितु उसके विरुद्ध दृढ़तापूर्वक अपनी लेखनी चलाई है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने भी उन्हीं वीतरागी सन्तों की दिव्यदेशना को अपनी सरलतम भाषा में प्रस्तुत कर, सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज पर अपरिमित उपकार किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री के इन्हीं उपकारों से उपकृत होकर, मेरी भावना मुनिधर्म सम्बन्धी गुरुदेवश्री के प्रवचन, कहानियाँ एवं वचनामृतों के संकलन की रही, जिसे तीर्थधाम मङ्गलायतन प्रवास के दौरान वहाँ से प्रकाशित मंगलायतन पत्रिका के 'धन्य मुनिदशा' के 42 विशेषांक प्रकाशित किये गये थे। जिसमें आगम-आधार पर लिखे गये सम्पादकीय, गुरुदेवश्री के प्रवचन, वचनामृत और मुनि जीवन की प्रेरक कथाएँ, सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज में लोकप्रियता के चरम तक पहुँचे हैं और विचारशील वर्ग द्वारा पूज्य गुरुदेवश्री के सन्दर्भ में मुनि विरोधी की मिथ्या धारणायें प्रक्षालित हुई हैं।

मंगलायतन प्रवास के दौरान ही इस ग्रन्थ का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ था, तत्पश्चात् भाग-2 एवं भाग-3 का कार्य अवरुद्ध था, जिसे अब पूर्णता को प्राप्त कराया जा रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सन्दर्भ में

प्रस्तुत ग्रन्थ धन्य मुनिदशा (भाग-3) है। इसमें पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के वीतरागी दिगम्बर जैन मुनि भगवन्तों की महिमा; मुनिराज के भेद-प्रभेद एवं उनका स्वरूप इत्यादि का विशद विवेचन को प्रस्तुत किया गया है।

आभार प्रदर्शन —

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के पावन अवसर पर सर्व प्रथम **वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु** के श्रीचरणों में वन्दन करता हूँ, क्योंकि यह सभी इन्हीं की वाणी का प्रसाद है।

इन प्रवचनों की अमूल्य भेंट देकर परम पूज्य मुनिभगवन्तों के अन्तर्बाह्य जीवन का परिचय प्रदान करते हुए उस धन्यदशा का बहुमान एवं भावना उत्पन्न करानेवाले परम उपकारी तारणहार **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के प्रति अपनी विनयाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

इस प्रवचन ग्रन्थ की सुन्दर टाइप सैटिंग के महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए विवेककुमार पाल के प्रति हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

सभी आत्मार्थी जीव इस ग्रन्थ का अध्ययन कर वीतरागी दिगम्बर जैन मुनिभगवन्तों का सम्यक् स्वरूप पहचानकर, उनकी अन्तर्बाह्य परिणति को समझकर अपने में मुनिदशा की उत्कृष्ट भावना जागृत करें — इसी भावना के साथ।

दिनांक, 22 अगस्त 2021
वात्सल्य पूर्व : मुनिरक्षा दिन

देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियां, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 - ईस्वी) प्रातःकाल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के हार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्रायः प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिकता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल

9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक – इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको निःशंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अतः अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अतः भक्तों ने इन परम

प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल 'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरू हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्णपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिङ्गी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र्य का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला

उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणामन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तों!
तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव
त्रिकाल जयवन्त वर्तों!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तों!!!



विषयानुक्रमणिका

1) आओ, मुक्तिमार्ग में आओ !.....	1	20) शुभोपयोगी एवं शुद्धोपयोगी.....	141
2) वाह ! कैसा सुन्दर निरपेक्ष मार्ग !.....	5	21) शुद्धोपयोग का अभिनन्दन.....	239
3) जिनेन्द्र झलक मुनिराज चमकती.....	10	22) मुनिदशा में भावलिङ्ग.....	243
4) श्रीगुरु के सान्निध्य का फल.....	15	23) प्रचुर स्वसंवेदन ही मुनि.....	247
5) ऐसी दशा मुक्ति का कारण	19	24) भावलिङ्ग भी जीव का.....	250
6) मुनिराज की परिणति में.....	31	25) मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी.....	253
7) वीतरागी समता के पिण्ड.....	34	26) द्रव्यलिङ्गी मुनि का अयथार्थ.....	258
8) अलौकिक चैतन्यऋद्धि.....	39	27) कौन है श्रमणाभास.....	266
9) उपसर्ग-परीषहों के स्वरूप.....	46	28) कौन है संसारतत्त्व.....	281
10) मुनिराज : धर्म के रक्षक.....	53	29) वीतरागी सन्त ही मोक्ष और.....	287
11) आत्म-सम्पदा की प्राप्ति ही.....	59	30) देहाश्रित लिङ्ग और जाति मोक्ष.....	294
12) अपवादमार्ग और उत्सर्गमार्ग.....	63	31) व्यवहार-मोहित जीव.....	298
13) उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग.....	68	32) बहुत कथन और दुर्विकल्पों.....	307
14) अपवाद या उत्सर्गमार्ग.....	80	33) तू स्थाप निज को मोक्षपथ में.....	320
15) उन्हें विकल्प का जाल.....	85	34) उन्होंने समयसार को नहीं जाना.....	336
16) आगमहीन के कर्मक्षय नहीं.....	89	35) दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग.....	344
17) आगम में प्रवृत्ति ही मार्ग है.....	100	36) मुनिराज : स्वरूप में ही लीला.....	358
18) गुण-गम्भीर आचार्य-उपाध्याय.....	123	37) हमें तो पूर्ण दशा ही चाहिए.....	366
19) ऐसे होते हैं साधु.....	131	38) जिनमार्ग के प्रति अभक्ति.....	370





नमः सिद्धेभ्यः

धन्यमुनिदशा

भाग - 3

1

चैतन्य विहारी सन्तों का मङ्गल आमन्त्रण
आओ, मुक्तिमार्ग में आओ!

स्वानुभवपूर्वक अन्तर में निजपद की साधना करनेवाले धर्मात्मा, दूसरे जीवों को भी शुद्ध बतलाकर मोक्षमार्ग में बुलाते हैं कि अरे जीवो ! आनन्दमय निजपद की साधना करने के लिए तुम भी इस मार्ग पर आओ ।

जो अपने चैतन्य को नहीं देखते, अनुभव नहीं करते एवं रागादि परपद को निजपद मान रहे हैं, वे जीव अन्धे हैं । जो जीव अपने स्वरूप को नहीं देखते - ऐसे जीवों को जागृत करके आचार्यदेव उन्हें शुभपद, अर्थात् निज चैतन्यपद दिखाते हैं ।

हे प्राणियों ! तुम रागादि अशुद्धभावों को ही निजरूप मानकर उनका वेदन कर रहे हो, उन्हीं के समान अपने को मान रहे हो, किन्तु यह भूल है, जीव का स्वरूप वैसा नहीं है; जीव तो शुद्ध चैतन्यमय है, उसे भूलकर रागादि पर्यायों के समान स्वयं को अनुभव करता है । राग में तो आकुलता है । उस मार्ग पर न जाओ, तुम्हारा वह मार्ग नहीं है, तुम तो चैतन्यमय हो; इसलिए इस मार्ग की ओर आओ - इस मार्ग पर आओ । शुद्ध चैतन्यपद की ओर उन्मुख होओ... उसका अनुभव करो... यही तुम्हारा मार्ग है - ऐसे चैतन्यपद में

ही तुम्हारा आनन्द है, उसे छोड़कर अन्यत्र मत जाओ तथा दूसरे का अनुभव न करो।

जिसमें से चैतन्य के आनन्द की परिणति प्रगट हो, उस चैतन्यपद का अनुभव नहीं करता और रागादि को निजपद मानकर उसी के अनुभव में रुक जाता है, वह तो परभाव की मायाजाल में फँसा हुआ है, अपने निजपद को भूला हुआ है और चार गति के भव-भ्रमण में सोया हुआ है। जिस-जिस भव में, जिस पर्याय को धारण करता है, उसी पर्याय के अनुभव में मग्न है। मैं देव हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं रागी हूँ; ऐसा अनुभव करता है परन्तु उनसे भिन्न अपने शुद्ध ज्ञायकपद का अनुभव नहीं करता, वह अन्ध है। वह विनाशी भावरूप ही अपना अनुभव करता है परन्तु अविनाशी निजपद को नहीं देखता, वह निजपद का मार्ग भूलकर विपरीत मार्ग पर पहुँच गया है। सन्त उसे बुलाते हैं कि अरे जीव, रुक जा! विभाव के मार्ग से वापस आ... वह सुख का मार्ग नहीं, वह तो मायाजाल में फँसने का मार्ग है; इसलिए उस मार्ग की ओर न जा... इस ओर आ! तेरा आनन्दमय सुखधाम यहाँ है; अतः इस ओर आ! देव, मनुष्य, रागी तू नहीं है, तू तो शुद्ध चैतन्यमय है तथा तेरा अनुभव भी चैतन्यमय है। चैतन्य से पृथक् कोई तेरा पद नहीं है... वह तो अपद है... अपद है।

अरे, ऐसा चैतन्यपद देखकर उसकी साधना के लिए आठ-आठ वर्ष के राजकुमार तो राजपाट छोड़कर वन में चले गये, अनुभवगम्य चैतन्यपद में लीन होने के लिए वीतरागमार्ग में लग गये। जिसे चैतन्यपद के सन्मुख इन्द्रपद भी तुच्छ भासित होता है, उसकी महिमा की क्या बात! अरे! शुद्ध चैतन्यस्वरूप जैसा है, उसे तो वैसा तो देख। अमृत से भरे चैतन्य सरोबर को छोड़कर विष से भरे हुए समुद्र में मत जा। भाई! दुःखी होने के मार्ग पर मत जा... उससे पीछे मुड़कर इस चैतन्य के मार्ग पर आ। बाह्य में तेरा मार्ग नहीं, परन्तु अन्तर में है; सन्त प्रेमपूर्वक तुझे ऐसे मोक्ष के मार्ग में बुलाते हैं।

अहो! ऐसे मार्ग पर कौन नहीं आयेगा? विभाव को छोड़कर स्वभाव में कौन नहीं आयेगा? बाह्य का राज्य-वैभव छोड़कर अन्तर के चैतन्य वैभव को साधने के लिए राजा और राजकुमार भी अन्तरोन्मुख हुए। बाह्यभाव अनन्त काल तक किये, अब उन्हें छोड़कर, मेरा परिणामन अन्दर के निजपद की ओर उन्मुख होता है तथा अब मैं परभाव

के मार्ग में जानेवाला नहीं हूँ परन्तु अन्तर के चैतन्यपद में ही मैं रहूँगा – धर्मी जीव ऐसे स्वानुभवपूर्वक निजपद को साधते हैं... और दूसरे जीवों से भी कहते हैं कि हे जीवों! तुम भी इसी मार्ग पर आओ। अपने अन्तर में देखा हुआ मोक्ष का मार्ग – आनन्द का मार्ग बतलाकर सन्त बुलाते हैं कि हे जीवों! तुम भी हमारे साथ इस मार्ग पर आओ... इस मार्ग पर आओ। अविनाशी सिद्धपद का यही मार्ग है।

मोक्षार्थी को स्वाद लेने योग्य, अनुभव करने योग्य शुद्ध चैतन्यपद एक ही है, इसके अतिरिक्त अन्य सब अपद हैं; वह शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है। मोक्ष, अर्थात् परम सुख चाहते हो तो सदा शुद्धपद का ही अनुभव करो। क्या करना और कहाँ स्थिर होना? तो कहते हैं कि अपने शुद्ध चैतन्यपद में दृष्टि करना, उसी में मग्न रहना। शरीर या घर, वह तेरा पद नहीं है, तेरा निवास नहीं है। संयोग तेरा निवासस्थान नहीं है, राग तेरा निवासस्थान नहीं है; तेरा निवास तो असंख्यप्रदेशी चैतन्यरस से भरपूर आत्मा है, वही तेरा निजपद है। उसका अनुभव करना ही मोक्षसुख, अर्थात् चिर सुख का कारण है। चिर सुख, अर्थात् दीर्घ सुख, अनन्त काल का सुख, शाश्वत सुख, मोक्षसुख।

आत्मा स्वयं सत्य अविनाशी वस्तु है, उसके अनुभव से हुआ सुख शाश्वत तथा अविनाशी है। आत्मा का आनन्द स्व में है, पर में नहीं। जिसमें आनन्द न हो, उसे निजपद कैसे कहा जाए? निजपद तो उसे कहते हैं कि जिसमें आनन्द हो। जिसका स्वाद लेने से, जिसमें निवास करने से और जिसमें स्थिर होने से आत्मसुख का अनुभव हो, वही निजपद है। जिसके वेदन में आकुलता हो, वह निजपद नहीं, वह परपद है तथा आत्मा के लिए अपद है। उसे अपद जानकर, उससे विमुख होकर, शुद्ध आनन्दमय चैतन्यपद की ओर उन्मुख होओ! सन्त बुलाते हैं कि इस ओर आओ... इस ओर आओ!

जिसमें कोई विकल्प नहीं है – ऐसा यह निर्विकल्प चैतन्यपद ही आस्वादन करने योग्य है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में चैतन्य का स्वाद है, राग का स्वाद रत्नत्रय से बाहर है। निजपद में राग का स्वाद नहीं है, राग तो दुःख और विपदामय है, परन्तु चैतन्यपद में विपदा नहीं है। जिसमें आपदा है, वह अपद है; जिसमें आपदा का अभाव और सुख का सद्भाव है, वही स्वपद है। जो आनन्दस्वरूप आत्मा की सम्पदा

से विपरीत है, वह विपदा है। राग, चैतन्य की सम्पदा नहीं, अपितु विपदा है और आत्मा का अपद है। जिस प्रकार राजा का स्थान कूड़े-कचरे का ढेर नहीं होता, राजा तो सोने के सिंहासन पर ही शोभा देता है; उसी प्रकार इस जीवराजा का स्थान राग-द्वेष-क्रोधादि तथा मलिनभावों में नहीं है, वह तो अपने शुद्ध चैतन्य सिंहासन पर ही शोभा देता है। राग में कहीं चैतन्य राजा का स्थान नहीं है, वह तो अपद है, अस्थिर है, मलिन है, विरुद्ध है; चैतन्यपद शाश्वत है, शुद्ध है, पवित्र है, अपने स्वाभावरूप है। ऐसे शुद्धपद को, हे जीवो! तुम जानो... उसे स्वानुभव-प्रत्यक्ष करो। ऐसी निजपद की साधना ही मोक्ष का उपाय है।

अहा! निजानन्द में निमग्न चैतन्यमय, शान्तरस के प्रवाहरूप निजपद यह आत्मा स्वयं है। बाह्य में देखने का रस छोड़कर स्वयं अपने चैतन्यपद को देखने से परम आनन्द प्राप्त होता है। ऐसे आनन्द के मार्ग पर सन्त बुलाते हैं।

(श्री समयसार, कलश 138-139 के प्रवचन से - आत्मधर्म (गुजराती), वर्ष-27, अङ्क-4)

थोड़ा सहन करना सीख

भाई! यह तेरे नरकादि दुःखों की कथा, तुझे उनसे छूटने के लिए सुनायी जा रही है। स्वयंभूरमण समुद्र का पानी, जो असंख्य योजन में विस्तरित है और स्वाद में मधुर है, वह सारा पानी पी जाने पर भी जहाँ प्यास नहीं बुझेगी, इतनी तो जिनकी तृषा है परन्तु पीने के लिए पानी की एक बूँद भी नहीं मिलती; असह्य तृषा से वे नारकी पीड़ित रहते हैं। चैतन्य के शान्तरस के बिना उनकी तृषा कैसे मिटेगी? जब अवसर था, तब तो चैतन्य के शान्तरस का पान नहीं किया और उससे विरुद्ध अनन्त क्रोधादि कषायरूप अग्नि का सेवन किया, तो बाहर में तीव्र प्यास के दुःख में वे जीव जल रहे हैं। मुनिवर तो चैतन्य के उपशमरस में ऐसे लीन होते हैं कि पानी पीने की वृत्ति भी छूट जाती है। यहाँ तो थोड़ा बीमार पड़ा हो और पानी आने में थोड़ी देर हो जाए तो क्रोधित हो उठता है कि 'सब कहाँ मर गये? कोई पानी क्यों नहीं देता?' परन्तु भाई! जरा धीरज रखना सीख, थोड़ा सहन करना सीख। नरक में तुझे कौन पानी पिलानेवाला था? पानी का नाम लेते ही मुँह में उबलता रस डाला जाता था। यह सब भूल गया क्या?

— पूज्य गुरुदेवश्री, छहढाला प्रवचन १/११

वाह! कैसा सुन्दर निरपेक्ष मार्ग!

अहा! मुमुक्षु जीव, जगत से कितना उदास होता है और स्वकार्य को साधने हेतु अन्तर में एकाकी कैसा लीन होता है? – वह यहाँ इतने सरलभाव से बतलाया है कि आत्मा को भी वैसी साधना की धुन चढ़ती है; कहीं थोड़ी-बहुत ढील हो तो उसे हटाकर आत्मा को साधने की शूरवीरता जागृत होती है। जगत् के लोकमत को देखकर बैठ रहनेवाले जीव, आत्मा में नहीं उतर सकते; आत्मा की गहराई में उतरनेवाले जीव को जगत् की ओर देखने का अवकाश नहीं होता। वाह! कैसा सुन्दर निरपेक्ष मार्ग है!

अन्तर में अकेले अपने गम्भीर चैतन्यतत्त्व को साधना ही मुमुक्षु जीव का कर्तव्य है, परन्तु लोक के साथ वाद-विवाद कर्तव्य नहीं है। स्वयं अपना कार्य कर लेने जैसा है। दूसरों को समझाने या जैनधर्म की प्रभावना के लिए भी सङ्कल्प-विकल्प करने में अटकना, वह कहीं मुमुक्षु का कर्तव्य नहीं है। मुमुक्षु का कर्तव्य तो विकल्पों से पार होकर बाह्य सङ्गरहित अकेले चैतन्य को अन्तर में साधना ही है; ऐसी साधना ही मोक्ष के लिए कर्तव्य है। ऐसी साधना करते-करते बीच में राग की भूमिका में व्यवहार – प्रभावना आदि सहज ही हो जाते हैं परन्तु साधक को उस राग में कर्तृत्वबुद्धि नहीं है, राग की उमंग नहीं है; उसे तो मोक्ष का कारणभूत शुद्धरत्नत्रयरूप स्वकार्य को साधने की ही रुचि है, उसी में तत्परता है। धर्मी जीव, अपने सहज तत्त्व की आराधना किस प्रकार करता है, उसकी यह बात चलती है –

निधि पा, मनुज तत्फल वतन में गुप्त रह ज्यों भोगता ।
 त्यों छोड़ परजन-सङ्ग ज्ञानी ज्ञाननिधि को भोगता ॥

जिस प्रकार कोई मनुष्य पहले दरिद्र हो और परदेश जाकर वहाँ भाग्योदय से निधि प्राप्त करके, पश्चात् परदेश छोड़कर अपने वतन में रहकर अकेला गुप्तरूप से उस निधि का उपभोग करता है; उसी प्रकार सहज ज्ञानस्वरूप जीव, अपने स्वरूप को भूलकर अनादि काल से संसार में भटकता दुःखी हुआ; वह जीव कभी सहज वैराग्यवन्त होकर श्रीगुरु की परमभक्ति द्वारा, उन्होंने जैसा परमस्वभाव कहा, वैसा लक्ष्यगत करके, अपनी सहज ज्ञाननिधि को प्राप्त किया, उसके सम्यक्त्वादि गुण की पवित्रता का उदय हुआ और अन्तर में निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान-शान्ति में अपना परम आनन्दमय ज्ञाननिधान अपने में ही प्राप्त किया.... अहा! मैं तो ऐसे परमशान्त चैतन्य निधान का स्वामी हूँ.... ऐसी प्रतीति हुई। अपनी निधि को गुरु के प्रताप से अपने में देखा। - इस प्रकार सहज परमतत्त्वज्ञानी हुआ वह जीव, अपनी सहज ज्ञाननिधि को अपने स्वरूप में गुप्तरूप से अकेला-अकेला भोगता है। **गम्भीर चैतन्यनिधान के उपभोग में मग्न वह जीव, अज्ञानी-लौकिकजनों के सङ्ग को ध्यान में विघ्न का कारण मानकर छोड़ता है।**

अहा! मेरे आत्मा के परमगुण निर्मलरूप से उदित हुए, अनन्त गुणों के निधान निर्मलपर्यायरूप से खिल उठे; ऐसे निधान मुझमें भरे हैं फिर जगत् के समक्ष क्या देखना? ज्ञानी के अन्तर में चैतन्य के निधान भरे हैं, उनकी जगत् को कहाँ खबर है? जगत् को अपने निधान की भी खबर नहीं है और ज्ञानी के निधान को भी वह नहीं जानता। अरे! जिन्हें अपने स्वरूप की खबर नहीं है - ऐसे अज्ञानी जीवों के संग का मुझे क्या काम? मैंने तो जगत् से विरक्त सहज वैराग्यसम्पत्तिवान होकर अपनी परिणति को अन्तर्मुख करके अपनी सहज ज्ञाननिधि को प्राप्त कर लिया है। श्रीगुरु ने भी यही बतलाया है कि विकल्प से पार होकर अन्तर में अपने ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता करो। इस प्रकार ज्ञानस्वभावोन्मुख होना ही ज्ञानी धर्मात्मा की सच्ची सेवा है। ऐसे ज्ञान की श्रद्धा बिना ज्ञानी की ज्ञानचेतना को नहीं पहिचाना जा सकता, अर्थात् ज्ञानी की सच्ची सेवा नहीं हो सकती। ज्ञानी के ज्ञान की पहिचान बिना, मात्र शरीर की सेवा करे, उसमें तो शुभभाव होगा परन्तु

उससे ज्ञाननिधान प्रगट नहीं होता। ज्ञाननिधान तो तभी प्रगट होता है, जब ज्ञानी द्वारा बतलाये गये अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करे।

राग के रस से पृथक् मात्र ज्ञानरस का पिण्ड सो आत्मा है, उसकी सन्मुखता करने से प्रतीति हुई कि 'अहो! ऐसे अनन्त गुण के निधान से पूर्ण, आनन्द से पूर्ण, शान्ति से पूर्ण - ऐसा मैं हूँ। ऐसे चैतन्य की प्रतीति होने पर उसी का रस रहता है और परसंग का रस छूट जाता है; राग का रस उड़ जाता है; मात्र चैतन्यरस के निधान का ही परम प्रीतिपूर्वक निजगृह में बैठा-बैठा गुप्तरूप से उपभोग करता है। अहा! उसके अन्तर्वेदन का क्या कहना! लोग उसे कहाँ से देख सकेंगे ?

ज्ञानी के गुप्त चैतन्यनिधान को जगत् देख नहीं सकता.... परन्तु जगत् को बतलाने का काम भी क्या है ? जगत् न देखे उससे क्या ? में तो अपने निधान का अपने में प्रगटरूप अनुभव कर ही रहा हूँ - इस प्रकार धर्मी, निशङ्करूप से अपने गुप्त निधान का अपने में उपभोग करता है, उसकी रक्षा करता है। चैतन्य के अपार निधान के समक्ष जगत् की विभूति को वह तृणवत् देखता है, इस प्रकार मुमुक्षु को जगत् से असङ्ग होकर अपने आनन्दनिधान को ही साधना योग्य है, दूसरों के लिये रुकना उचित नहीं है, दूसरों के सङ्ग से तो चित्त चंचल होगा, आकुलता होगी, जिससे ध्यान में विघ्न आएगा। इसलिए चैतन्य के आनन्दमय ध्यान की सिद्धि हेतु मुमुक्षु जीव परसङ्ग छोड़ता है और गुप्तरूप से अकेले अपने ज्ञान की रक्षा करके स्वकार्य को साधता है; विपरीतजनों के सङ्ग से दूर, अपने में लीन होकर गम्भीर तत्त्वज्ञान में रहता है, जिसमें किसी विकल्प का भी सङ्ग नहीं है।

अहा! जिसमें सर्वज्ञशक्ति, अतीन्द्रिय आनन्द, निर्विकल्प शान्ति - ऐसे अनन्त चैतन्यनिधान स्पष्ट दिखायी देते हैं, ऐसे अपने गुप्त चैतन्य-निधान को पाकर, हे ज्ञानी! उसका तू अपने में ही उपभोग करना.... अपने अमूल्य ज्ञाननिधान की रक्षा करना। परमतत्त्व की अपूर्व श्रद्धा-ज्ञान-शान्ति प्रगट हुए हैं, उनकी रक्षा करना, अर्थात् किसी भी प्रसङ्ग पर उनमें विपरीतता नहीं आने देना। जगत तेरी बात न माने, मिथ्या कहे, विरोध करे, निन्दा करे अथवा रोगादि कोई भी प्रतिकूलता आये; तथापि अपनी श्रद्धा-ज्ञान-

शान्ति को छोड़ना नहीं। अमूल्य निधान की भाँति उनकी रक्षा करना।

हे मुमुक्षु! अपनी श्रद्धा-ज्ञान की रक्षा के लिए तू संसार के अनेक प्रकार के रागी-द्वेषी-अज्ञानी जीवों के सङ्ग से दूर रहना; जगत् के सङ्ग से अपनी आत्मशान्ति में भङ्ग नहीं पड़ने देना; जगत् से विरक्तरूप अपने स्वकार्य को साधने में तत्पर रहना। मैं अपने चैतन्यनिधान के सन्मुख परिणमित हुआ हूँ, मेरी पर्याय में वह निधान प्रगट हुआ है, फिर जगत् के कोलाहल से मुझे क्या काम? बाह्य में दूसरों के सङ्ग का मुझे क्या प्रयोजन? मैं तो अपने आत्मा की भावना में उतरकर, अपने स्वकार्य को साध रहा हूँ। जैसे, किसी निर्धन को सोने की खान मिले; इसी प्रकार मुझे अपने परम चैतन्यरत्न की खान मिल गयी है.... अपने सम्यक्त्वादि अनन्त गुणों की सम्पत्ति मिल गयी है, उसके निकट जगत् का क्या मूल्य? - इस प्रकार चैतन्य सम्पदा के निकट ज्ञानी, जगत् को तृणवत् समझकर, आत्म-आराधनारूप स्वकार्य को साधते हैं। हे मुमुक्षु! तुझे भी यही कार्य अवश्य करने योग्य है।

आत्मसाधना के महा-आनन्द में जगत् की ओर क्या देखना ?

अहा! मैं अपने परम आनन्द को साध रहा हूँ; आत्मा के इस आनन्द में जगत् की ओर आकर्षण ही नहीं रहता। जीव, चैतन्य की एकाग्रता से बाहर निकले, तब परसङ्ग होता है और चित्त में राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, वह तो जन्म-मरण के रोग का ही कारण है। परसङ्ग, अर्थात् पर की ओर का उपयोग; उसमें चित्त चञ्चल होता है। इसलिए हे मुमुक्षु! बाह्य में परवस्तु होने पर भी, उससे परम विरक्त होकर अपने चित्त को शान्ति से भरपूर चैतन्यतत्त्व में लगा और अपने स्वकार्य को साध। बुद्धि द्वारा, अर्थात् भेदज्ञान द्वारा जिसने पर से भिन्न आत्मा का अनुभव किया है - ऐसा ज्ञानी महा-आनन्दमय चैतन्यतत्त्व में परिणाम को लगाता है और आत्मा के अतिरिक्त सारी दुनिया से अत्यन्त उदासीन रहता है। आत्मसाधना के महाआनन्द में जगत् की ओर क्या देखना!

अहा! आत्मा के परम आनन्दरस का जहाँ स्वाद लिया, वहाँ जगत् के राग का रस क्यों रहेगा? परोन्मुख वृत्ति में तो क्लेश है, उसमें आनन्द का लेश भी नहीं है। अपना स्वतत्त्व लक्ष्य में लेने से अनाकुल शान्तरस का वेदन होता है; उसके समक्ष जगत् का रस

नीरस लगता है। चैतन्यरस का स्वाद लिया, वहाँ कषाय का रस कैसे अच्छा लगेगा ? अरे! चैतन्यतत्त्व के आनन्द में शुभविकल्प का बोझ भी सहन नहीं होता। आँख में किरकिरी कदाचित् रह जाए, परन्तु चैतन्य के शान्तरस में कषाय का कण नहीं रह सकता; शुभराग का कण नहीं रह सकता। ऐसे चैतन्यरस के धाम अपने चैतन्यनिधान को, हे मुमुक्षु! तू एकाकी रहकर साधना; उसमें जगत् के अन्य किसी की अपेक्षा मत रखना। जगत् के पन्थ से चैतन्य का पन्थ निराला है। चैतन्य-सुख का मार्ग अपने ही अन्तर में समाया है, अपनी परिणति अपने में ही एकाग्ररूप से परम आनन्द का अनुभव करती है; आनन्द के लिए कहीं बाहर जगत् की ओर नहीं देखना पड़ता। जहाँ तेरे अगाध निधान भरे हैं, वहाँ देखने से तुझे परम आनन्दनिधान की प्राप्ति होगी।

धर्मात्मा कहते हैं कि अरे! हमें अपना अपूर्व निधान मिला; इस निधान के निकट हम जगत् को सदा तृणवत् देखते हैं।

इस प्रकार जिन्हें अपने निधान की अचिन्त्य महिमा आयी है, वे ज्ञानी, परम वैराग्य से शान्तचित्त होकर गुणरूप से अपने आनन्द-निधान का अकेले ही उपभोग करते हैं और स्वकार्य करते-करते मोक्ष को साधते हैं।

[- आत्मधर्म (गुजराती), जनवरी 1971]

नियमसार गाथा 115 से 118 पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों से

मनुष्यभव की उपयोगिता

हे भाई! आत्मा को भूलकर, भव में भटकते हुए अनन्त काल बीत गया, उसमें अति मूल्यवान यह मनुष्य अवतार और धर्म का ऐसा दुर्लभ योग तुझे प्राप्त हुआ है तो अब परमात्मा जैसा ही तेरा जो स्वभाव है, उसे दृष्टि में लेकर मोक्ष का साधन कर! प्रयत्नपूर्वक सम्यक्त्व प्रगट कर!! शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म की उपासना कर!!! और यदि इतना न बन सके तो श्रावकधर्म का जरूर पालन कर!

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

जिनेन्द्र झलक मुनिराज चमकती

सम्यग्दर्शन और स्वानुभूति हो तभी, स्वरूपस्थिरता बढ़ते-बढ़ते, यथार्थ मुनिपना आता है। पूर्ण ज्ञान एवं आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा को शरीरादि परद्रव्यों से तथा रागादि परभावों से भिन्न करके-ग्रहण करके, निज शुद्ध ज्ञायकस्वरूप की अन्तरानुभूति होकर जो प्रतीति हो उसे भगवान, सम्यग्दर्शन कहते हैं। पहले तो सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है, उसकी प्राप्ति कैसे होती है? – यह सब यथार्थ समझना चाहिए। दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि लाखों क्रियाकाण्ड करे, तब भी उससे सम्यग्दर्शन नहीं होगा; वे तो बाह्यक्रियाएँ तथा शुभराग हैं। परिपूर्ण स्वभाव से भरपूर भगवान ज्ञायक आत्मा में पर्याय को मोड़ने पर शुद्धस्वरूप का अनुसरण करके अन्तर में जो आनन्द के वेदनसहित प्रतीति हो, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं।

स्वानुभूतिसहित निज शुद्धात्मदर्शन होने के पश्चात् आत्मस्थिरता बढ़ते-बढ़ते, बारम्बार स्वरूपलीनता होती रहे – ऐसी सहजदशा हो, तब यथार्थ मुनिपना प्रगट होता है। पैसा और प्रतिष्ठ बढ़ती जा रही हो, तब लोग कहते हैं न कि अपना सितारा तो आजकल बुलन्द है! भाग्योदय वृद्धिङ्गत है, जो बढ़ रहा है, उसे बढ़ने दो – परन्तु यह बात तो बाहर की है। भाई! यहाँ अन्तर में सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् आत्मलीनता में वृद्धि होते-होते – ‘दिट्टमगे’, अर्थात् अनुभव किये हुए मार्ग में बारम्बार जाए – ऐसी दशा हो, तब सच्चा मुनिपना आता है। व्रतादि के विकल्प आते हैं, इसलिए मुनिपना आया है – ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शन होने पर जो अल्प स्वसंवेदन हुआ है, उसमें विशेष वृद्धि हो-प्रचुर स्वसंवेदनदशा

हो-अन्दर स्वरूप में बारम्बार लीन होता रहे, तब सच्चा सन्तपना / मुनिपना आता है।

मुनिराज को ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से परिणति में शुद्धि इतनी बढ़ गयी होती है कि वे क्षण-क्षण आत्मा में प्रविष्ट हो जाते हैं। छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए वे मुनिराज चलते-फिरते, आहार करते, उपदेश देते हुए बारम्बार अन्दर स्वरूप में प्रविष्ट हो जाते हैं।

मुनिराज को अभी पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हुई है, इसलिए उपयोग स्वरूप से हटकर जब बाहर आता है, तब राग के विकल्प तो आते हैं परन्तु वे गृहस्थदशा जैसे नहीं होते; अपनी भूमिका के अनुरूप मात्र शास्त्रस्वाध्याय, तत्त्वचिन्तन, व्रत, तप, भक्ति आदि शुभविकल्प ही होते हैं और वे भी हठरहित, अन्तरङ्गशुद्धि से मिलते हुए तथा सहज होते हैं।

मुनिराज को बाह्य में एकमात्र शरीर का सम्बन्ध है और उसके प्रति भी परम-उपेक्षा है। उनको तो —

उदासीन वृत्ति हो सब परभाव से,
यह तन केवल संयम हेतु होय जब।
किसी हेतु से अन्य वस्तु चाहूँ नहीं,
तन में किञ्चित् भी मूर्छा नहिं होय जब ॥

— ऐसी दशा होती है। अहा! धन्य मुनिदशा!

भावलिङ्गी सन्त को अन्तर में स्वरूपस्थिरता तथा स्वरूपतृप्ति इतनी बढ़ गयी है कि उन्हें बाहर का कुछ नहीं चाहिए, बाहर का सब आकर्षण उड़ गया है; दशा अत्यन्त निस्पृह हो गयी है।

मुनिराज को भगवान आत्मा के अनाकुल आनन्द की तीव्र लगन लगी है, भूमिकानुसार महाव्रतादि का शुभराग बिना हठ के सहज आता है परन्तु उसकी अन्तर में लगन या इच्छा नहीं है; लगन तो अन्दर आत्मा में लगी है। अहा! धन्य मुनिदशा! अत्यन्त निस्पृहदशा है; आत्मा की ही लगन लगी है।

सहजज्ञान, सहजआनन्द, सहजवीर्य आदि अनन्त गुण जिसकी बस्ती है – ऐसे निज चैतन्यनगर में ही मुनिराज का निवास है; व्रत, तप और भक्ति आदि का शुभराग आता है परन्तु उसमें वास्तव में मुनिराज का निवास नहीं है; अभेदज्ञान में-चैतन्यनगर में ही उनका निवास है।

मुनिराज को एक निज शुद्धात्मतत्त्व की पूर्ण प्राप्ति करने की ही धुन है। वे तो निजस्वरूप में-अपने अनन्त गुणरूप बस्ती से भरपूर चैतन्यनगर में ही परिपूर्णरूप से स्थिर होने को तरसते हैं। स्वरूपनगर से किञ्चित् बाहर आने पर उन्हें ऐसा लगता है कि इस विभावरूप परदेश में हम कहाँ आ पहुँचे? हमारी नगरी तो वह है, जहाँ ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र्य, आनन्द, वीर्यादि अनन्त गुणरूप हमारा परिवार रहता है। हमें शीघ्रता से अपने चैतन्यनगर में जाकर आराम से निवास करना है, जहाँ सब हमारे हैं। उनका ही हमें काम है, दूसरों का हमें क्या काम? – ऐसी एक आत्मसाधना की ही धुन है।

मुनिराज अन्तर में आनन्द की साधना में इतने तल्लीन हैं कि जिससे उनका अन्तःपरिणामन दुनिया के झंझटों से सहज विरक्त, अर्थात् बिलकुल उदास हो गया है। 'बात नहीं रुचती इस दुनिया की आठों पहर रहते हैं उदास!' – ऐसी स्वरूप तृप्ति के बल से, सहजदशा हो जाने के कारण वे सांसारिक बातों से उदास रहते हैं।

मुनिराज का जीवन बस, एक आत्मामय ही हो गया है। मिथ्यात्व और तीन कषाय का अभाव होकर स्वसंवेदन में वीतरागता की उग्र दशा प्रगट हो जाने के कारण जीवन, मात्र शुद्ध ज्ञानानुभूतिमय बन गया है – मानों चलते-फिरते सिद्ध भगवान!

वीतराग जिनेन्द्र भगवान की झलक मुनिराज में दिखती है। मुनिदशा के योग्य व्रत, तप, भक्ति आदि के विकल्प आते हैं, तथापि वे बारम्बार अन्दर आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में डुबकी लगाते हैं। **अहा! कैसी वीतरागी शान्त-शान्त दशा! मानो जिनभगवान की झलक! जिन नहीं परन्तु जिनेन्द्र के समान! मुनिराज अन्तर में तृप्त-तृप्त हैं, इसलिए उनके शरीर में भी वीतरागदशा छा गयी है। अहा! मुनिदशा!**

अतीन्द्रिय आनन्द के झूले में झूलते हुए मुनिराज, व्रतादि का विकल्प आये, तब

छठवाँ गुणस्थान और विकल्प टूटकर स्वरूप में समा जाएँ, तब सातवाँ गुणस्थान – इस प्रकार प्रमत्त और अप्रमत्तदशा में रहें, उतने काल तक, अन्तर में प्रति समय आत्मशुद्धि की दशा में आगे बढ़े बिना जहाँ के तहाँ खड़े नहीं रहते; अन्दर साधना में वृद्धि हुए बिना एक समान दशा रहती है – ऐसा नहीं है; शुद्धि में प्रति समय आगे बढ़ते जाते हैं, पूर्ण वीतरागदशा प्राप्त करने की ओर अन्दर शुद्धि की प्रगति होती ही जाती है। निर्विकल्प प्रचुर स्वसंवेदनसहित ज्ञानधारा निरन्तर बहती रहती है और आत्मशुद्धि की दशा में आगे बढ़ते जाते हैं। शुद्धि की दशा में आगे बढ़े बिना, छठवें –सातवें गुणस्थान की भूमिकारूप पर्याय में, जहाँ के तहाँ रहते हैं – ऐसा नहीं है। अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ, श्रद्धा और स्थिरता अपेक्षा से जागृत हुआ है, उसमें अर्थात् आनन्दसागर में विशेष-विशेष डूबते-लीन होते जाते हैं। अहा! ऐसा है मुनिपना!

‘गमो लोए सव्वसाहूणं’ में जिन्हें गणधर भगवान के भी नमस्कार पहुँचते हों, वह मुनिपना कैसा होगा! अन्तर में तीन कषाय के अभावजनित आत्मशुद्धि और बाह्य में यथाजात नग्न दिग्म्बर दशा होती है। मुनिराज को भूमिकानुसार व्रतादि के विकल्प आते हैं, तथापि अन्तर में भेदज्ञान एवं आनन्द की धारा तो सतत् चलती ही रहती है और प्रति समय शुद्धि की दशा आगे बढ़ती जाती है। कब तक? कि केवलज्ञान न हो तब तक। यह मुनिराज की अन्तःसाधना है। मुनिराज, परिपूर्ण ज्ञान तथा परिपूर्ण आनन्द की सिद्धि न हो, तब तक अन्तर में ज्ञान एवं आनन्द की साधना बढ़ाते ही जाते हैं। अहा! ऐसी है मुनिराज की अन्तरङ्ग साधना!

जगत् के अज्ञानी जीव, मुनिराज की अन्तःसाधना नहीं देखते, बाह्य क्रियाएँ देखते हैं। ‘बालाः पश्यन्ति लिंगम्’ – अज्ञानी जीव बाहरी वेश, क्रियाएँ और अधिक तो व्रतादि के बाह्य परिणाम देखते हैं परन्तु वह कोई मूलदशा नहीं है। मूलदशा तो अन्तर की शुद्धिमय वीतराग साधना है। मुनिराज की अन्तरङ्ग आनन्दमय साधना जगत् के जीव नहीं देखते।

साधना का माप बाह्य लिङ्ग, प्रवृत्ति या विकल्प से नहीं, अपितु अन्तरङ्ग साधनामय वीतरागपरिणति से होता है। वीतरागी शुद्धपरिणतिमय साधना का माप कहीं बाहर से

निकले अथवा बाहर से दिखायी दे – ऐसी वस्तु नहीं है; वह तो अन्तर की कोई अद्भुत दशा है!

अहा! मुनिदशा किसे कहते हैं? मुनिराज तो वन में रहते हैं – जहाँ सिंह और बाघ गर्जना करते हों, सिर पर मूसलधार वर्षा हो रही हो और घोर अँधेरी रात तथा भयानक वातावरण हो, तथापि वे अन्तर में आनन्दमय आत्मसाधना में निर्भयरूप से इतने लीन होते हैं कि बाहरी वातावरण का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अहा! मुनिदशा कोई अलौकिक एवं आश्चर्यकारी है, वन्द्य है।

अहा! गुरु किन्हें कहें?... जो निर्ग्रन्थ हैं, अर्थात् जिनके मिथ्यात्व एवं अविरति के रागादि की गाँठ गल गयी है और आत्मा की ज्ञानानन्दमय उग्र शुद्धता में एकाग्रता हो गयी है, तथा तदुपरान्त स्वभाव के ओर की शुद्धि की धारा में निरन्तर वृद्धि होती जाती है, उनको मुनिदशारूप निर्ग्रन्थ गुरु कहा जाता है। उनके अशुभपरिणति तो होती नहीं है, शुभ होती है परन्तु अन्तर में स्वभाव के आश्रय से शुद्धता की ओर का जो प्रवाह चल रहा है, वह प्रति समय बढ़ता जाता है।

अरे! मुनिराज, वन में वास करते हों और वहाँ शरीर में दमा, क्षय, कुष्ठ आदि अनेक रोग हो जाएँ, तथापि वे अन्तर में आत्मा की निरोग एवं निःशङ्क दशारूप वर्तते हैं; वहाँ उनको कोई औषधि आदि नहीं होते; उनकी औषधि तो अन्तर में राग की एकता तोड़कर आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा के निधान खोले हैं, वे हैं; इसका नाम अन्तरङ्ग मुनिदशा है। वह कोई बाहर से देखने की वस्तु नहीं है। मुनिदशा तो वास्तव में कोई आश्चर्यकारी है, वन्दनीय है। वह तो त्रिलोक वन्द्य-तीन लोक के इन्द्रों द्वारा वन्दन योग्य अनुपम दशा है।

अहा! मुनिदशा का वर्णन भी अलौकिक किया है। ●

(बहिनश्री के वचनमृत - ४१७ पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन (गुजराती)

श्रीगुरु के सान्निध्य का फल

जिसे भव-छेदक निर्वाणभक्ति प्रगट हुई है, अर्थात् जिसे रत्नत्रय की आराधना वर्तती है - ऐसा धर्मात्मा कहता है कि अहो! श्रीगुरु के सान्निध्य में निर्मल सुखकारी धर्म हमने प्राप्त किया है और चैतन्य की अगाध महिमा को जानने में ज्ञान द्वारा समस्त मोह की महिमा नष्ट हो गयी है - ऐसा मैं, राग-द्वेषरहित शुद्ध ज्ञान द्वारा शान्तचित्त से आनन्दमय निजतत्त्व में स्थिर होता हूँ, निज परमात्मा में लीन होता हूँ।

देखो, श्रीगुरु के सान्निध्य का फल! निर्मल सुखकारी धर्म की प्राप्ति हुई, वह श्रीगुरु के सान्निध्य का फल है। श्रीगुरु का उपदेश भी यही है कि राग से भिन्न चेतनतत्त्व की अनुभूति करना। जिसने ऐसी अनुभूति की है, उसने ही वस्तुतः श्रीगुरु को पहचान कर, उनके सान्निध्य का सेवन किया है। श्रीगुरु के उपदेश के सारभूत आनन्दमय आत्मा को भी उसने प्राप्त किया है।

मात्र शुभराग, वह श्रीगुरु के उपदेश का सार नहीं था। जो राग में अटका है और राग से पार चैतन्य की समीपता नहीं करता, वह श्रीगुरु के समीप नहीं, अपितु दूर है। चैतन्य की समीपता करके, जिसने निर्मल सुखकारी धर्म प्राप्त किया, उसने ही वास्तव में श्रीगुरु की समीपता की है और मोह के जोर को ज्ञान-बल से नष्ट किया है। अकेले शास्त्र से नहीं, किन्तु ज्ञानी गुरु के सान्निध्य से आत्मतत्त्व को जानने से निर्मल सुखरूप धर्म प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शनादि भाव, वीतरागपरिणति हैं, वही सुखरूप धर्म है; उसकी

प्राप्ति चैतन्यस्वभाव में सन्मुखता से होती है। अन्तर में अपने परम तत्त्व की समीपता है और निमित्तरूप में गुरु की समीपता है।

गुरु कैसे हैं ? जो चैतन्य की महिमा बतलाकर, उसमें दृष्टि करने की प्रेरणा करते हैं। श्रीगुरु की समीपता से ऐसे आत्मतत्त्व की दृष्टि करके ज्ञान की महिमा द्वारा समस्त मोह की महिमा को नष्ट कर दिया है। जहाँ चैतन्य की महिमा प्रगट हुई, वहाँ मोह की महिमा टूट गयी है। अभी सम्यग्दर्शन होते ही समस्त मोह नष्ट नहीं हो जाता परन्तु उस मोह की महिमा तो नष्ट हो गयी है, उसका अनन्त जोर टूट गया है।

हे भव्य ! श्रीगुरु के समीप चैतन्यतत्त्व की वार्ता सुनकर तू अन्तर तत्त्व के समीप जा। वहाँ चैतन्य की परम महिमा ज्ञान में आते ही परभाव की महिमा छूट जाएगी। तुझे श्रीगुरु के सान्निध्य में ऐसे तत्त्व का अन्तर में अनुभव करना है – यही श्रीगुरु की आज्ञा है। अभी राग-द्वेष होने पर भी, धर्मी को सम्यग्दर्शन में चैतन्य परमेश्वर की प्राप्ति होने पर उसकी महिमा में ज्ञान लीन हुआ, वह ज्ञानधारा समस्त रागादि परभावों से भिन्न हो गयी। उसमें आनन्दकन्द आत्मा की ही महिमा रही – इसी का नाम निर्वाणभक्ति है।

अहो ! श्रीगुरु ने मुझे यह कहा कि तू अपने आनन्दमय परमात्मतत्त्व के समीप जा। इस प्रकार श्रीगुरु के उपदेश से परमात्मतत्त्व के समीप जाने पर, अर्थात् अन्तर्मुख परिणति करने पर आनन्दकारी धर्मदशा मुझे प्रगट हुई है। अब, उसमें रागादि की महिमा नहीं रह सकती। जिसे पर अथवा शुभराग की भी महिमा लगती है, उसे अपने वीतरागी आनन्दमय तत्त्व की महिमा नहीं आती और उसे सुखकारी धर्म भी प्रगट नहीं होता; वह तो राग के दुःख को ही अनुभव करता है।

श्रीगुरु ने यह उपदेश दिया है कि ज्ञान में चैतन्यभाव की महिमा लाकर स्व-सन्मुख हो। गुरु ने ऐसा नहीं कहा था कि तू हमारी वाणी का ही लक्ष्य रखकर जाना अथवा हमारे प्रति शुभराग करके अटक जाना – ऐसा भी नहीं कहा था। श्रीगुरु ने तो यह कहा कि तेरा परमात्मा तेरे अन्तर में तेरे समीप ही विराजमान है, उसे अनुभव में ले। वाणी और राग का लक्ष्य छोड़कर, पर की महिमा छोड़कर, आत्मा के परमस्वभाव की महिमा लक्ष्य में ले, यही बारह अङ्ग का सार है। ज्ञान-आनन्दमय आत्मा की अनुभूति ही सर्व

सिद्धान्त का सार है, यही गुरु का परमार्थ सान्निध्य है, यही सिद्ध की निश्चयभक्ति है और यही निर्वाण का आनन्दमय मार्ग है।

शुद्धात्मा की अनुभूति ही द्वादशाङ्ग का सार है। वही सर्व गुरुओं के उपदेश का सार है। जिसने स्वानुभूति की है, उसने सर्व सिद्धान्त का सार जान लिया, फिर वहाँ ऐसी कोई अटक नहीं है कि द्वादशाङ्ग को जानने पर ही आत्मा की अनुभूति होती है। उसे शास्त्र-पठन का बन्धन नहीं है कि इतने शास्त्र तो पढ़ने ही पढ़ेंगे। जिसने सर्व शास्त्रों के रहस्यभूत आत्मा का अध्ययन कर लिया, उसकी अनुभूति कर ली, उसने सम्पूर्ण सर्वज्ञ परमात्मा को अपने में प्राप्त कर लिया, वह भक्त है, आराधक है, मुक्ति का पथिक है।

अरे! आत्मानुभूति की महिमा की लोगों को खबर नहीं है और बाहर में शास्त्र अध्ययन आदि परलक्ष्यी ज्ञान में वे अटक जाते हैं परन्तु शास्त्रों में कहा हुआ चैतन्यतत्त्व अन्तर में विराज रहा है, उसकी सन्मुखता किये बिना शास्त्र का रहस्य भी समझ में नहीं आ सकता।

श्रीगुरु के सान्निध्य से प्रगट हुई आनन्दमय स्वानुभूति अद्भुत है। अहा! अन्दर शान्तरस के फव्वारे छूट रहे हैं - ऐसी अनुभूति ही निर्मल सुखकारी धर्म है। मैंने ऐसा धर्म प्राप्त किया है और ऐसे आनन्दमय आत्मतत्त्व के द्वारा समस्त मोह की महिमा को मैंने नष्ट किया है। ज्ञानतत्त्व की अगाध महिमा प्रगट होने पर मोह की महिमा छूट गयी है; इस प्रकार श्रीगुरु की समीपता में निज परमात्मतत्त्व को प्राप्त करके, अब मैं उसमें लीन होता हूँ। सभी तीर्थङ्करों ने यही किया है और मैं भी उन तीर्थङ्करों के मार्ग में जा रहा हूँ - ऐसी दशा का नाम परम भक्ति है। यह भक्ति, भव का नाश करनेवाली है और इस भक्ति में चैतन्य के आनन्दरस का फव्वारा छूटता है।

यह शरीर तो मल-मूत्र का पिण्ड है और चैतन्य-प्रभु आत्मा तो सुन्दर आनन्द आदि अनन्त गुणों का पिण्ड है - ऐसे सुन्दर आनन्द तत्त्व में जिसका चित्त लोलुप हुआ है, उसमें ही उत्सुक होकर लगा है; उसका चित्त, इन्द्रिय विषयों में लोलुप नहीं रहता। अहा! चैतन्य के असंख्य अङ्ग में से तो आनन्दरस झरता है और शरीर के अङ्गों में से तो मल-मूत्रादि दुर्गन्ध झरती है। देखो तो सही, चैतन्यतत्त्व की सुन्दरता!

आनन्द झरता यह उत्तम तत्त्व, जगत् में सर्वाधिक सुन्दर है। उसके सन्मुख होने पर पर्याय में आनन्द झरता है। अरे जीव! एक बार बाह्य विषयों की लोलुपता छोड़कर अन्दर ऐसे सुन्दर आनन्दमय महान तत्त्व का लोलुपी हो.... उसे जानने की उत्सुकता कर - ऐसे तत्त्व को जानकर उसकी अपूर्व भावना से तुझे यहीं मोक्षसुख के स्वाद का अनुभव होगा।

अहा! देखो, यह पञ्चम काल के सन्त की वाणी! वे तो विदेह की वाणी लाये हैं। उसके भाव को अन्दर लक्ष्य में ले तो आत्मा को उत्कृष्ट कर दे और राग के विकल्प से पृथक्-पृथक् चैतन्य की वीतराग शान्ति का वेदन हो जाए - ऐसी अपूर्व यह वीतरागी सन्तों की वाणी है। जिसे सुनने पर भी मुमुक्षु का रोम-रोम हर्ष से उल्लसित हो जाता है। अहो! उसके अतीन्द्रिय अनुभव के आनन्द की तो क्या बात है!

(- आत्मधर्म (गुजराती), वर्ष-30, सितम्बर, 1973)

नियमसार कलश 234

सिर पर मौत मंडरा रही है

मरण तो आना ही है, तब सब कुछ छूट जाएगा। बाहर की एक वस्तु छोड़ने में तुझे दुःख होता है, तो बाहर के समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव एक साथ छूटने पर तुझे कितना दुःख होगा? मरण की वेदना भी कितनी होगी? 'कोई मुझे बचाओ' - ऐसा तेरा हृदय पुकारता होगा, परन्तु क्या कोई तुझे बचा सकेगा? तू भले ही धन के ढेर लगा दे, वैद्य-डाक्टर भले सर्व प्रयत्न कर लें, आस-पास खड़े हुए अनेक सगे -सम्बन्धियों की ओर तू भले ही दीनता से टुकुर-टुकुर देखता रहे, तथापि क्या कोई तुझे शरणभूत हो ऐसा है? यदि तूने शाश्वत स्वयंरक्षित ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की प्रतीति-अनुभूति करके आत्म-आराधना की होगी, आत्मा में से शान्ति प्रगट की होगी, तो वह एक ही तुझे शरण देगी। इसलिए अभी से वह प्रयत्न कर। 'सिर पर मौत मंडरा रही है' - ऐसा बारम्बार स्मरण में लाकर तू पुरुषार्थ जगा कि जिससे 'अब हम अमर भये, न मरेंगे' ऐसे भाव में तू समाधिपूर्वक देहत्याग कर सके।

— बहिनश्री के वचनमृत, क्रमाङ्क ४१२

ऐसी दशा मुक्ति का कारण

जिसने ज्ञानस्वरूप आत्मा के मूल अस्तित्व को, कर्म-नोकर्म से भिन्न तथा रागादि विभावों से रहित शुद्ध त्रैकालिक सत्त्व को अन्तर में ग्रहण नहीं किया उसको व्रत, तपादि बाह्यक्रियाएँ अथवा शास्त्रों का बहिर्लक्षी ज्ञातृत्व – वह सब धर्म या मोक्ष का कारण नहीं होता। इस बोल में बात कुछ सूक्ष्म है भाई! 'मैं, मैं, मैं' रूप से संवेदन में आता हुआ यह 'आत्मा' है न! सर्वज्ञ जिनेश्वरदेव ने उसका जो मूल अस्तित्व-स्थायित्व, शुद्ध सत्त्व कहा है वह ज्ञानावरणीयादि समस्त कर्मों से तथा शरीर, मन, वाणी आदि नोकर्म से भिन्न और उसकी पर्याय में पुण्य-पाप के जो विभाव होते हैं, उनसे भी रहित है; अरे! उसकी एक समय की शुद्ध पर्याय भी उसका मूल त्रैकालिक अस्तित्व नहीं है। उसका मूल अस्तित्व तो ज्ञान एवं आनन्दादि अनन्त गुणस्वभावों से रचित एकरूप अभेद सामान्य द्रव्य है। वह एकरूप, केवलज्ञानादि अनन्त सामर्थ्यों से परिपूर्ण, त्रिकाल शुद्ध, द्रव्यसामान्यरूप निज मूल अस्तित्व को जिसने अन्तर में ग्रहण नहीं किया है उसे धर्म के नाम से कहे जानेवाले दीक्षा, व्रत, तप शास्त्राभ्यास आदि सर्व साधन निर्वाण का कारण नहीं होते, स्वर्ग का कारण होते हैं, क्योंकि उसके अन्तर में द्रव्यस्वभाव के आश्रय से प्रगट होनेवाला शुद्ध परिणमन अंशतः भी नहीं वर्तता, मात्र शुभपरिणाम ही वह भी कर्तृत्वबुद्धि से वर्तता है।

अपने मूल अस्तित्व को पकड़ा नहीं है और 'आत्मा अनादि-अनन्त नित्यस्थायी शाश्वत, स्वतःसिद्ध, अनन्त सुख से भरपूर, अनन्त महिमावन्त महान् पदार्थ है' – ऐसे

अपने त्रैकालिक शुद्धस्वरूप का अनुभव करके शुद्ध परिणति की धारा प्रगट नहीं की है, इसलिए उसे धर्म या धर्म का फल मोक्ष नहीं होता। तीन बातें कही हैं – आत्मा का मूल अस्तित्व, उसका अनादि-अनन्त रहनेवाला स्वयंसिद्ध शाश्वत् तत्त्व तथा अनन्तसुख से परिपूर्णता। अहा! उसका मूल अस्तित्व शरीर नहीं, वाणी नहीं, शुभाशुभ विभाव नहीं, अरे! पर्याय जितना भी नहीं परन्तु अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर त्रैकालिक द्रव्यसामान्यरूप है। उसका अन्तर में स्वीकार करके-अनुभव करके साधकभावरूप शुद्धपरिणति की धारा जिसने प्रगट नहीं की उसे कोई भी बाह्यत्यागादि कल्याण का किञ्चित् कारण नहीं होता।

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो 'आत्मा' कहा है, उसका मूल अस्तित्व शरीरादि सर्व परद्रव्यों से न्यारा है; उसका मूलस्वरूप शाश्वत् है, उसके ज्ञान और आनन्दादि समस्त गुण भी शाश्वत हैं – इस प्रकार उसके द्रव्यसामान्यरूप शुद्ध सत्त्व को अन्तर में ग्रहण करके, 'यह चिन्मय शुद्ध एकरूप अस्तित्व ही मैं हूँ' – ऐसा अन्तर में स्थाप कर, उसका अतीन्द्रिय अनुभव करके जिसने शुद्ध परिणति की धारा प्रगट नहीं की उसे दुर्द्धर तप, उपसर्ग-परीषह सहन करना आदि निर्वाण का किञ्चित् कारण नहीं होता। आत्मा ज्ञानादि अनन्त शक्तियुक्त वीतराग स्वरूप में विराजमान है, उसकी प्रत्येक शक्ति-जीवत्वशक्ति, ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति, आनन्दशक्ति, वीर्यशक्ति आदि समस्त शक्तियाँ – वीतरागस्वरूप में विराजमान है। ऐसे अनन्तशक्तियुक्त निज द्रव्यसामान्य का अन्तर में स्वसन्मुख दृष्टि करके अनुभव नहीं करे तो शुद्ध परिणति की धारा-मोक्षमार्गरूप निर्मल दशा कहाँ से प्रगट होगी ?

जिसने आत्मा के शुद्धस्वरूप को ग्रहण नहीं किया, अनन्त सुख से भरपूर निज शाश्वत तत्त्व का अनुभव करके जिसने शुद्ध परिणति की धारा प्रगट की, उसने भले ही सांसारिक विषयसुखों को नाशवान तथा भविष्य में दुःखदाता जानकर छोड़ दिया हो – पाँच इन्द्रियों के विषय वर्तमान में दुःखरूप हैं – ऐसा न जाना हो परन्तु भविष्य में दुःख देनेवाले हैं, इसलिए मुझे छोड़ देने चाहिए – ऐसा जानकर इन्द्रियसुखों का त्याग कर दिया हो तथा बाह्य मुनिपना ग्रहण कर लिया हो – बाह्य में हजारों रानियों को छोड़कर राजपाट

छोड़कर नग्न मुनिदशा अङ्गीकार की हो; भले ही वह दुर्द्धर तप करता हो - एक-एक महीने के उपवास करके पारणे के दिन रुखा आहार लेता हो- भले ही उपसर्ग-परीषह में अडिग रहता हो - गर्जना करते हुए सिंह और बाघ जैसे प्राणियों के भयङ्कर उपसर्ग में अचल रहता हो, तथापि वह सब उसे मोक्ष का कारण नहीं होता। उससे स्वर्ग प्राप्त होगा किन्तु जन्म-मरण का अन्त नहीं हो सकता। मरकर देव होगा, अरबपति सेठ-धूल का स्वामी होगा और फिर चार गतियों में भटकता फिरेगा, क्योंकि उसे शुद्ध चिदानन्दस्वरूप निज मूल अस्तित्व के ग्रहण पूर्वक ज्ञानादि अनन्त सामर्थ्य भरपूर अपने शाश्वत् तत्त्व के अनुभवसहित शुद्ध परिणमन अंशतः भी नहीं वर्तता। मात्र दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि शुभ परिणाम ही और वे भी उपादेय बुद्धि से वर्तते हैं।

शुद्ध परिणमन कैसे प्रगट होता है ? कि निज त्रैकालिक शुद्धात्म द्रव्य सामान्य को लक्ष्यगत करके उसका अनुभव करने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं अंशतः स्वरूपस्थिरतारूप शुद्ध परिणमन प्रगट होता है। जिसने शुद्धात्म द्रव्यस्वभाव का आश्रय लेकर शुद्ध परिणमन की धारा प्रगट नहीं की वह भले ही स्त्री-बच्चों को छोड़कर दीक्षा ग्रहण कर ले, कठिन तप करे, भयङ्कर उपसर्ग एवं परीषह सहे, कषाय मन्द करके शुक्ल लेश्या-शुक्लध्यान नहीं प्रगट करे, तथापि उसे वह सब मुक्ति का कारण नहीं होता, शुभभाव है इसलिए स्वर्ग का कारण होता है। सम्यग्दर्शन के बिना शुभभाव से देव होगा परन्तु ऐसा देवत्व तो जीव अनन्त बार प्राप्त कर चुका है।

**मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।**

पञ्च महाव्रत पाले, इन्द्रिय-दमन करे, तथापि वह स्वर्ग का कारण है, मोक्ष का कारण नहीं है; क्योंकि उसे द्रव्य स्वभाव की दृष्टि तथा तदाश्रित शुद्ध परिणति बिलकुल नहीं वर्तती। नववें ग्रैवेयक में जाए ऐसे शुक्ललेश्या के परिणाम वर्तमान काल में तो हैं नहीं परन्तु पूर्व भवों में ऐसे शुभभाव जीव ने अनन्तबार किये हैं। उसने नहीं किया तो एकमात्र निज परमात्मस्वभाव को अन्तर में ग्रहण करने का यथार्थ प्रयत्न नहीं किया। अहा! अन्तर में सुख का सागर वीतराग ज्ञायक परमात्मा विराजता है। अरहन्त भगवान को पर्याय में जो

अनन्त आनन्द है वह कहाँ से आता है ? क्या बाहर से आता है ? भीतर त्रैकालिक द्रव्य स्वभाव के आश्रय से आता है । उसकी जिसे अन्तरङ्ग रुचि तथा उन्मुखता नहीं है, उसका परिणामन अशुद्ध ही रहता है । कदाचित् कषाय मन्द करे तो शुभभाव होता है और उसके फलरूप स्वर्ग में जाता है परन्तु वहाँ से चयकर परिणामानुसार नर-पशु आदि चार गतियों में भ्रमण करता है । 'द्रव्यसंयम से ग्रीवक पायो, फिर पीछे पटक्यो' - आनन्दसागर आत्मा का सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वक अनुभव प्रगट किये बिना द्रव्यसंयम अङ्गीकार करके शुक्ल लेश्या के बल से अनन्तबार नववें ग्रैवेयक में हो आया परन्तु एक भव भी कम नहीं हुआ; वहाँ से पटका तो मनुष्य हुआ, वहाँ से मरकर पशुपर्याय धारण की फिर मरकर जाएगा नरक-निगोद में । अहा ! ऐसी बात है भाई !

पालेज में जब दुकान पर बैठा था तब 'सञ्ज्ञायमाला' की दो बातों पर - 'द्रव्यसंयम से ग्रीवक पायो, फिर पीछे पटक्यो' तथा 'केवली के आगे रह गयो कोरा' - लक्ष्य गया था । 'केवली के आगे रह गया कोरा' का अर्थ क्या ? जीव वीतराग केवलज्ञानी परमात्मा के पास अनन्त बार गया है; विदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धर भगवान आदि बीस तीर्थङ्कर केवलज्ञानी परमात्मा के रूप में वर्तमान में विराज रहे हैं; महाविदेहक्षेत्र में तीनों काल केवली परमात्मा सदा विराजते हैं, वर्तमान विराजमान तीर्थङ्कर और केवली मोक्ष जाते हैं और दूसरे नये होते हैं; विदेहक्षेत्र कभी तीर्थङ्करों एवं केवलियों से रिक्त नहीं होता । वहाँ भी यह जीव अनन्त बार समवसरण में गया, अनन्त बार द्रव्यलिङ्गी दिगम्बर मुनि हुआ परन्तु 'केवली के आगे रह गया कोरा' - अन्तर में, केवली परमात्मा के कहे हुए शुद्धात्मतत्त्व का स्पर्श नहीं दिया, बाह्य क्रियाकाण्ड में लीन रहा, क्रिया से और राग से भिन्न जो त्रिकाल शुद्ध निज चैतन्यस्वरूप उसका स्पर्श नहीं किया - अन्तर में नहीं उतारा, निज ज्ञायकभाव का अनुभव नहीं किया । उसने बाह्य मुनिपने का पालन किया, दुर्द्धर तप किया, शुक्ललेश्या प्रगट की, तथापि अन्तर में शुद्धात्मा के अनुभव बिना वह सब मुक्ति का कारण नहीं होता, मात्र स्वर्ग का कारण होता है ।

आत्मज्ञानशून्य जीव को, भले ही वह करोड़ों वर्ष तक मुनिपने का पालन करे, उग्र तपश्चर्या करे, अन्तर में शुद्ध परिणामन किञ्चित् नहीं वर्तता, मात्र शुभपरिणाम ही और वह

भी उपादेय बुद्धि से वर्तते हैं। अशुभ और शुभ दोनों विभाव हेय हैं, मात्र शुद्धभाव ही उपादेय है। शुभपरिणाम में उपादेयबुद्धि का वर्तना ही मिथ्यात्व है, क्योंकि उसने हेयतत्त्व को उपादेय माना। अन्तर में त्रिकाल शुद्ध चैतन्य परमभाव ज्ञायक प्रभु जो कि परम उपादेय है उसे उसने हेयरूप किया और राग को उपादेयरूप किया, वह मिथ्यात्व और अनन्त संसार का कारण है। जिसे शुभराग में उपादेय बुद्धि वर्तती है वह भले ही व्रत, उपवास, भक्ति, पञ्च परमेष्ठी का स्मरणादि करे, तथापि उसे किञ्चित् मात्र धर्म नहीं होता, कषाय की मन्दता हो तो स्वर्ग की, उससे भी अधिक नववें ग्रैवेयक की प्राप्ति होती है परन्तु भव का अभाव अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कदापि नहीं होती।

वह भले नौ पूर्व पढ़ गया हो तथापि उसने आत्मा का मूल द्रव्यसामान्यस्वरूप अनुभवपूर्वक नहीं जाना होने से वह सब अज्ञान है।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव बाह्य मुनिपना लेकर ग्यारह अङ्ग और नौ पूर्व जितने द्रव्यश्रुत का अभ्यास कर ले परन्तु अन्तर में निज शुद्धात्मा के ग्रहण तथा अनुभवनस्वरूप भावश्रुत का अंशतः भी परिणमन नहीं होने से, उसका वह समस्त बहिर्लक्ष्यी ज्ञातृत्व-अध्ययन अज्ञान है। अङ्ग और पूर्व का विस्तार बहुत विशाल है। प्रथम आचाराङ्ग में अठारह हजार पद हैं, एक-एक पद में इक्यावन हजार श्लोक हैं। तत्पश्चात् दूसरे अङ्ग अनुक्रम से दुगुने-दुगुने विस्तारवाले हैं। ऐसे ग्यारह अङ्ग और नौ पूर्व को पहले अनन्त बार पढ़ गया परन्तु जो पढ़ना था वह निज शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं पढ़ा। आत्मा का मूल द्रव्यसामान्यस्वरूप-नवतत्त्वरूप विशेषों को गौण करके निज शुद्धात्मद्रव्यसामान्य-अनुभव सहित नहीं जाना होने से वह सब बाह्य ज्ञातृत्व अज्ञान है, धर्म या धर्म का साधन नहीं है। अहा! ऐसी भाषा! अरे भाई! क्या किया जाए? द्रव्यसामान्यस्वरूप मूल वस्तु के बिना बाह्य में जानकारी और क्रिया में दौड़धाम की परन्तु जन्म-मरण का अन्त नहीं आया।

‘आत्मा सामान्य-विशेषात्मक वस्तु है; उसके शुभ, अशुभ या शुद्ध भावरूप विशेषों को गौण करके उसका मूल सामान्यस्वरूप देखा जाए तो वह त्रिकाल शुद्ध, ज्ञान एवं आनन्दादि अनन्त शक्तियों से सदा परिपूर्ण है’ – ऐसा ग्यारह अङ्ग और नौ पूर्व के अभ्यास में आया, धारणा में लिया परन्तु अपने त्रिकाल शुद्ध ज्ञानादि सामर्थ्य भरपूर मूल

द्रव्यसामान्यस्वरूप को अनुभवपूर्वक नहीं जाना, इसलिए उसकी अन्य सब जानकारी अज्ञान है। अहा! यह पुस्तक (बहिनश्री के वचनामृत) पढ़कर भावनगर का वह प्रोफेसर कहता है कि 'इसमें तो निधान भरे हैं।' अरे! अन्य धर्मावलम्बी भी समझना चाहे तो समझ सके - ऐसा है।

सामान्य अर्थात् वस्तु का त्रैकालिक एकरूप ध्रुव द्रव्य और विशेष अर्थात् वस्तु की वर्तमान पलटती हुई क्षणिक पर्याय। अरे रे! जैन में जन्म लेकर, द्रव्य क्या और पर्याय क्या - उसकी भी खबर नहीं होती। वणिकों को व्यापार-धन्धे से अवकाश नहीं मिलता और कदाचित् घण्टे-दो घण्टे का समय निकालकर सुनने जाएँ तो वहाँ कुगुरु उनका समय लूट लेते हैं। यह करो और वह करो, व्रत करो और तप करो, दान करो और भक्ति करो - इस प्रकार बाह्यक्रिया में धर्म मानकर-मिथ्यात्व का पोषण करके कुगुरु के कुसङ्ग से उसने अपने आत्मा का घात कर दिया, भयङ्कर भावमरण किया। अरे रे! संसार में कहाँ भटकता फिर रहा है? अपने द्रव्यस्वभाव में यदि पवित्रता का परिपूर्ण सामर्थ्य नहीं हो तो तीर्थङ्करों को-अरहन्तों को पर्याय में जो पूर्ण पवित्रता प्रगट होती है वह कहाँ से आएगी? क्या कहीं बाहर से आती है? अन्तर में परिपूर्ण पवित्र द्रव्य स्वभाव को अनुभवपूर्वक नहीं जाना, इसलिए उसका सब अभ्यास-अध्ययन तथा महाव्रतादि का आचरण अज्ञान और मिथ्याचारित्र है।

अब सच्चे मुनि की बात करते हैं —

सच्चे भावमुनि को तो शुद्धात्मद्रव्याश्रित मुनियोग्य उग्र शुद्धपरिणति चलती रहती है, कर्तापना तो सम्यग्दर्शन होने पर ही छूट गया होता है, उग्र ज्ञातृत्वधारा अटूट वर्तती रहती है, परम समाधि परिणामित होती है।

वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा के पन्थ में ही सच्चे भावमुनि हो सकते हैं, अन्य किसी पन्थ में नहीं हो सकते। जिनको अन्तर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतापूर्वक आनन्द का अनुभव प्रगट हुआ है - ऐसे भावलिङ्गी मुनिवर को तो निज शुद्धात्म द्रव्य सामान्य के अवलम्बन से प्रगट हुई मुनियोग्य उग्र शुद्ध परिणति चलती ही रहती है। 'मुनि योग्य उग्र शुद्ध परिणति' - ऐसा क्यों कहा? कि प्रथम भूमिका के धर्मी को-अविरत

सम्यग्दृष्टि को तथा देशविरत श्रावक को भी शुद्ध परिणति सतत वर्तती है परन्तु मुनि जैसी उग्र शुद्ध परिणति उनके नहीं होती। श्रेणिक राजा क्षायिक सम्यग्दृष्टि होने पर भी उनके, अपने योग्य-अविरत भूमिका के योग्य शुद्ध परिणति थी। मुनियोग्य उग्र शुद्ध परिणति तो निज शुद्धात्मद्रव्य के आश्रय से विशेष स्थिरतारूप परिणमित सच्चे सन्त को-भावलिङ्गी मुनिराज को ही निरन्तर वर्तती रहती है। वह उग्र शुद्धपरिणति वीतराग सर्वज्ञ जितनी परिपूर्ण भी नहीं है तथा अविरत सम्यग्दृष्टि जितनी अल्प भी नहीं है, मध्यम है।

अहा! देहादि परद्रव्य, रागादि विकारी भाव, दया-दानादि प्रशस्त विकल्पादि से भिन्न ऐसे निज शुद्धात्मा के अवलम्बन से जिनके मुनियोग्य शुद्धपरिणति सतत चलती रहती है - ऐसे सच्चे भावमुनि को कर्तापना तो सम्यग्दर्शन होते ही छूट जाता है। क्या कहा? कि 'मैं परद्रव्य की क्रिया कर सकता हूँ, पर जीव को मार या बचा सकता हूँ, सुखी-दुःखी कर सकता हूँ, बाँध या मुक्त कर सकता हूँ' - ऐसी कर्तापने की परिणति तो आत्मप्रतीति होते ही छूट जाती है। हाथ को हिलाने की क्रिया तो आत्मा की नहीं है किन्तु आत्मा की पर्याय में जो शुभाशुभ राग हो वह भी आत्मा का स्वभावकर्म नहीं है, परमार्थ से आत्मा उसका कर्म नहीं है - ऐसा पर का तथा विभाव का कर्तृत्व तो ज्ञानी को सम्यग्दर्शन होते ही छूट जाता है।

अरे रे! वीतराग सर्वज्ञ भगवान का विरह हुआ! तीन लोक के नाथ महावीर प्रभु मोक्ष पधारे। वर्तमान में श्री सीमन्धरभगवान आदि बीस तीर्थङ्कर विदेहक्षेत्र में अरहन्तपद पर विराज रहे हैं। भरतक्षेत्र में भगवान का विरह हुआ; उनका कहा हुआ सनातनमार्ग बहुत छिन्न-भिन्न हो गया। यहाँ कहते हैं कि जैनदर्शन में जो सच्चे सन्त-भावलिङ्गी मुनिवर होते हैं उनको शुद्धात्मस्वभाव के आश्रय से मुनियोग्य उग्र शुद्धपरिणति निरन्तर वर्तती ही रहती है। धर्म की प्रारम्भिक दशावाले सम्यग्दृष्टि को भी स्वयोग्य शुद्ध परिणति होती है, अन्यथा वह धर्मी ही नहीं है।

उग्र शुद्ध परिणति के साथ मुनिराज को भले ही पञ्च महाव्रतादि के शुभ विकल्प आएँ परन्तु वे तो राग हैं, उनका कर्तृत्व तो सम्यग्दर्शन होते ही छूट गया है। 'णमो लोए सव्वसाहूणं' - इन सच्चे सन्तों को अन्तरङ्ग में वीतराग परिणति उग्ररूप से वर्त रही है,

प्रचण्ड ज्ञानधारा सतत प्रवाहमान है। ऐसे भाव मुनिराज को 'पञ्च महाव्रत के निर्दोष पालन हेतु शरीर की निरवद्य क्रिया मैं कर सकता हूँ, भाषा समितिपूर्वक हित-मित-प्रियवचन मैं बोल सकता हूँ' - ऐसे परद्रव्यभाव का कर्तृत्व सम्यग्दर्शन होते ही छूट जाता है। मैं शरीर की क्रिया कर सकता हूँ, खान-पान की, व्यापार-धनधे की तथा खेलने-कूदने की क्रिया मेरी है - ऐसी पर की-जड़ की क्रिया का अपने को कर्ता माननेवाला जीव मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। वह जैन नहीं है, वह तो पर का कर्ता होकर मिथ्यात्वभाव का सेवन करता है। आत्मा मात्र ज्ञानस्वरूप भगवान है - ऐसी प्रतीतिपूर्वक जहाँ सम्यग्दृष्टिपना हुआ वहाँ पर की क्रिया का कर्तृत्व तो छूट ही जाता है परन्तु जो अस्थिरतारूप राग की क्रिया अपनी पर्याय में होती है उसका कर्तापना भी, द्रव्यदृष्टि के बल से, छूट जाता है। अहा! ऐसी बातें हैं.... आता है कुछ समझ में ?

ज्ञायकभाव में उग्र अवलम्बनरूप वर्तते हुए शुद्धज्ञानधारावन्त मुनिराज को पर का और विभाव का कर्तृत्व छूट जाता है और साथ ही साथ उग्र ज्ञातृत्वधारा - मैं मात्र शुद्ध ज्ञाता हूँ - ऐसी अनुभवयुक्त परिणमनधारा-अविच्छिन्न वर्तती है। पञ्च महाव्रत एवं पाँच समिति आदि के परिणाम आएँ परन्तु उनके वे कर्ता नहीं होते; क्योंकि अन्तर में सम्यग्दर्शन-अनुभवसहित शुद्धात्मदर्शन होते ही पर के तथा विकल्प के (व्रतादि के भाव भी विकल्प हैं, राग हैं) कर्तृत्व की बुद्धि छूट गई है। अहा! जिन्हें साधु परमेष्ठी कहा जाता है वे सच्चे सन्त कैसे होते हैं ? उनके तो वस्त्र का एक टुकड़ा भी नहीं होता, वे नग्न दिगम्बर दशा से वन में वास करते हैं। ऐसे वीतरागी साधक सन्त को 'मैं मात्र ज्ञाता-दृष्टा हूँ, पर के तथा रागादि विभाव के कर्ता-भोक्तापने की गन्ध भी मेरे स्वभाव में नहीं है' - ऐसी उग्र ज्ञातृत्वधारा अविच्छिन्न-खण्डित हुए बिना वर्तती है। अरे रे! इस समय इस क्षेत्र में ऐसे भावलिङ्गी सच्चे सन्तों का विरह हुआ। अविच्छिन्न ज्ञातृत्वधारा का प्रारम्भ तो चतुर्थ गुणस्थान में ही हो जाता है और मुनिराज को तो वह अति उग्र होती है। वह वीतरागी ज्ञानधारा मात्र जानती है; राग हो उसे जानती है, ज्ञान हो उसे जानती है, वीतरागता हो उसे जानती है। अहा! जैन परमेश्वर द्वारा कहा गया वीतरागमार्ग कोई अलौकिक है भाई! वीतरागमार्ग में प्रवर्तन करते हुए सच्चे सन्तों को तीन कषायों का (अनन्तानुबन्धी,

अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण - इन तीन कषायचौकड़ी का) अभाव तथा उग्र ज्ञातृत्वधारा-ज्ञानचेतनामात्र परिणति अखण्ड वर्तती है।

उस उग्र ज्ञातृत्वधारारूप सतत् वर्तते हुए सन्तों को परमसमाधि परिणमित हुई है। अहा! परमसमाधि किसे कहते हैं? कि अन्तर में ज्ञायकस्वभाव के उग्र अवलम्बन से अतीन्द्रिय आनन्द की दशा में तीव्र वृद्धि हुई हो, अकषाय शान्ति, शान्ति, शान्ति की सहज स्थिति परिणमित हुई हो उसे परमसमाधि कहा जाता है। साधु-बाबा लोग प्राणायाम के बल से अमुक दिनों तक धरती में गड्ढा खोदकर दबे रहें, वह कोई समाधि नहीं है। अन्तर में-आत्मा में - आधि, व्याधि एवं उपाधि के परिणाम से रहित समतारूप वीतराग परिणाम हों उसे समाधि कहा जाता है। उपाधि अर्थात् स्त्री, पुत्र, व्यापार-धन्धा आदि बाह्य संयोग, व्याधि अर्थात् शरीर में रोग होना आदि और आधि अर्थात् मन के सम्बन्ध से होनेवाले पुण्य-पाप तथा सुख-दुःख के विकल्प - इन तीनों चिन्ताओं से आधि, व्याधि और उपाधि के परिणाम से रहित परम समाधिरूप आनन्द की दशा में मुनिराज उग्ररूप से परिणमित हो जाते हैं। धर्मोपदेश श्रवण करूँ - श्रवण कराऊँ ऐसे विकल्प में आए न आए और दूसरे ही क्षण भीतर स्वरूप में समा जाते हैं। अहा! ऐसी दशारूप परिणमित साधक सन्त अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेते हैं।

वे शीघ्र-शीघ्र निजात्मा में लीन होकर आनन्द का वेदन करते रहते हैं।

मुनिराज शुद्ध चिदानन्दमूर्ति निजज्ञायक प्रभु का उग्र आश्रय लेकर शीघ्र-शीघ्र स्वरूप में लीन होकर अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन करते हैं। भीतर चैतन्यभवन में तो आनन्द ही आनन्द है, बाहर विकल्प में आने पर परदेश में आ जाने जैसा दुःख लगता है। बहिन के ४०१ वें वचनामृत में आया था न! कि ज्ञानी का परिणमन विभाव से विमुख होकर स्वरूप की ओर आनन्द में ढल रहा होता है। उनको व्रतादि के विकल्प आते हैं, वहाँ ऐसा लगता है कि 'यह विभावभाव हमारा देश नहीं है, इस विभावरूप परदेश में हम कहाँ आ पहुँचे? यह व्रत, तप और भक्ति आदि के विकल्प हमारा परिवार नहीं है; हमारा परिवार तो भीतर ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, आनन्द तथा वीर्यादि अनन्तगुणरूप निर्मलताएँ हैं।' अहा! ऐसी बातें और ऐसा मार्ग है, सुनना कठिन लगे - ऐसा है।

उनके प्रचुर स्वसंवेदन होता है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि प्रचुर आनन्द झरता स्वसंवेदन हमें वर्त रहा है। आनन्द झरता स्वसंवेदन सम्यग्दृष्टि को अल्प होता है, मुनिराज को प्रचुर होता है। मुनिराज को तो अतीन्द्रिय आनन्द का उफान आता है। दूध का उफान तो पोला होता है, यह ठोस होता है। मुनिराज शीघ्र-शीघ्र निजात्मा में लीन होकर आनन्द झरते प्रचुर स्वसंवेदन का वेदन करते हैं।

वह दशा अद्भुत है, जगत् से न्यारी है।

‘होता एक त्रिकाल में, परमारथ का पन्थ।’ अहा! वीतरागस्वरूप प्रभु का यह पन्थ कोई अलौकिक है - यह कोई अलौकिक दशा है-जगत् से बिलकुल न्यारी है।

भगवान आत्मा में अनन्तगुण परिपूर्ण विद्यमान हैं। ज्ञान और आनन्दादि प्रत्येक गुण स्वभाव से परिपूर्ण है। वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर को ज्ञान एवं सुखादि गुणों की निर्मलता का परिपूर्ण स्वसंवेदन होता है। मुनिराज को भी एकदेश प्रचुर स्वसंवेदन और सम्यग्दृष्टि को अल्प स्वसंवेदन होता है। सामर्थ्य से भरपूर ऐसे निज पूर्ण ज्ञायक स्वरूप की अन्तर्दृष्टि होने पर जितने गुण हैं उनका निर्मल अंश सम्यग्दृष्टि का प्रगट हो जाता है। श्रीमद् में ‘सर्वगुणांश तो सम्यक्त्व’ और पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी में ‘चौथे गुणस्थान में ज्ञानादि गुण एकदेश व्यक्त होते हैं’ - ऐसा आता है। सर्वज्ञ को ज्ञानादि गुण पूर्ण प्रगट हो गये हैं, निचली साधकदशा में एकदेश प्रगट हुए हैं। अहा! यह तत्त्वज्ञान तो अगम प्याला है भाई! ज्ञान की पर्याय का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है, इसलिए वह अल्पज्ञान के समय भी स्व को तथा पर को, स्वभाव को तथा विभाव को यथावत् जानता है। ज्ञानद्रव्य को जानता है, पर्याय को जानता है, विभाव को जानता है और निमित्त को जानता है; उसका लक्ष्य अर्थात् रुचि का जोर पर्याय, विभाव या निमित्त पर नहीं है। ज्ञान का जोर तो अनन्त गुण के पिण्ड स्वरूप निज ध्रुव द्रव्यस्वभाव पर ही होता है। स्वभाव के प्रति रुचि का जोर होने के कारण चतुर्थ एवं पञ्चम गुणस्थानवर्ती साधक जीव को ज्ञान, आनन्द और शान्ति का स्वसंवेदन होता है परन्तु वह अल्प होता है।

मुनिराज को तो ज्ञान, आनन्द और शान्ति का प्रचुर स्वसंवेदन होता है। उनकी

प्रचुर स्वसंवेदनयुक्त दशा कोई अद्भुत है ! दुनिया से बिलकुल न्यारी है । अहा ! मुनिदशा अर्थात् परमेष्ठी दशा ! अरे ! आजकल तो एकाध शिष्य बन जाए तो हो जाते हैं आचार्य !... प्रभु ! यह क्या करता है तू ? अभी तो इसकी भी खबर नहीं है कि दृष्टि का विषय क्या है ? दृष्टि क्या है ? सम्यग्दर्शन या साधुपना कुछ नहीं है वहाँ आचार्यपना कहाँ से आ गया ? अरे ! दुनिया से यह बात बिलकुल भिन्न है । समझ में नहीं आती, इसलिए लोगों को दुःख लगता है और विरोध करते हैं, लेकिन क्या किया जाए ? यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा में जो ज्ञान और आनन्दादि अनन्तानन्त गुण हैं उन सर्वगुणों का, सम्यग्दर्शन होने पर अल्प वेदन होता है; मुनिदशा में तो उन सर्वगुणों का प्रचुर संवेदन होता है । अहा ! अद्भुत है वह दशा, जगत् से बिलकुल न्यारी है ।

पूर्ण वीतरागता न होने से उनके व्रत-तप-शास्त्र रचना आदि के शुभभाव आते हैं अवश्य परन्तु वे हेयबुद्धि से आते हैं ।

मुनिराज के विषयानुरागरूप अशुभपरिणाम तो होते ही नहीं; कदाचित् अल्प आर्तध्यान हो जाए परन्तु उसकी गिनती नहीं है । उनके तो शुद्धपरिणतिरूप ज्ञानधारा तथा शुभपरिणतिरूप कर्मधारा - ऐसी शुद्ध और शुभ दो ही गिनने में आयी हैं; आर्तध्यान कदाचित् हैं परन्तु उसे गौण माना गया है । मुनिराज को पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हुई है, इसलिए व्रत-तप-भक्ति-शास्त्ररचना आदि के शुभपरिणाम आते अवश्य हैं परन्तु उनमें उनको उपादेयबुद्धि नहीं है, कर्तृत्वबुद्धि नहीं है । 'आते अवश्य हैं' - ऐसा क्यों कहा ? कि ऐसे भूमिकानुसार शुभभाव वास्तव में आते हैं, नहीं आते-ऐसा नहीं है । अन्तर में ज्ञातृत्वपरिणतिरूप परिणमित हो गये हैं और इसलिए शुभभाव के भी वे ज्ञाता हैं, कर्ता नहीं हैं - उसका ऐसा अर्थ नहीं है कि उनको उनकी भूमिका के योग्य व्रतादि के शुभभाव आते ही नहीं; आते अवश्य हैं परन्तु वे हेयबुद्धि से आते हैं ।

अरे रे ! आजकल तो त्यागी भी शुभभाव को धर्म और चारित्र मानते हैं । सम्प्रदाय के कोई साधु तो ऐसा भी कहते हैं कि वर्तमान पञ्चम काल में तो अकेला शुभयोग ही होता है । अरे ! प्रभु ! यह तुम क्या कहते हो ? भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव भी पञ्चम काल में हुए हैं; उन्हें क्या अकेला शुभयोग था ? क्या शुद्ध परिणति और शुद्धोपयोग थे ही नहीं ?

यदि शुद्ध परिणति और शुद्धोपयोग नहीं हो तो उनको क्षण-क्षण में सातवाँ गुणस्थान-अप्रमत्त दशा कैसे सम्भव होगी ? अरे रे ! मार्ग में बहुत गड़बड़ कर दी है । शुभयोग तो आस्रव-बन्ध का कारण तथा दुःखरूप है । पञ्चम काल में मुनि को तो मात्र वह शुभयोग ही होगा ? - नहीं । मुनिराज की अन्तरङ्ग दशा में शुद्धपरिणति निरन्तर बनी ही रहती है जो कि संवर-निर्जरारूप तथा मोक्ष का कारण है । आनन्दनिधान भगवान् ज्ञायक के उग्र आलम्बन से जो दशा हुई वह शुद्ध, पवित्र एवं अतीन्द्रिय आनन्द के स्वादवाली है । ऐसे शुद्ध साधकदशा पञ्चम काल में भी प्रगट हो सकती है । मुनिराज को अंशतः वीतरागता प्रगट हुई है, पूर्ण वीतरागता नहीं हुई, इसलिए उनको व्रत, तप, स्वाध्याय आदि के शुभविकल्प आते हैं अवश्य परन्तु वे हेयबुद्धि से आते हैं ।

ऐसी पवित्र मुनिदशा मुक्ति का कारण है ।

भूमिकानुसार मुनिराज को व्रतादि के शुभभाव आने पर भी, उनको अन्तर में प्रचुर स्वसंवेदन सहित ज्ञानादि अनन्त गुणों की पर्याय में जो व्यक्ततारूप शुद्ध परिणति हुई है, वही मुक्ति का कारण है । प्रचुर स्वसंवेदनमय उग्र ज्ञानधारा ही-पवित्र मुनिदशा ही-मुक्ति का कारण है, व्रतादि का शुभभाग नहीं ।

(वचनमृत प्रवचन, भाग-4, पृष्ठ-283)

‘अब मुझे भव नहीं चाहिए’

देखो ! यह जीव, करोड़ों रुपये की आमदनीवाला सेठ तो अनन्त बार हुआ है और अनन्त बार ही घर-घर जाकर भीख माँगकर पेट भरनेवाला भिखारी भी हुआ है; आत्मा के भान बिना पुण्य करके बड़ा देव भी अनन्त बार हुआ है और पाप करके नारकी भी अनन्त बार हुआ है परन्तु अभी भी इसे भवभ्रमण से थकान नहीं लगती है । आचार्यदेव कहते हैं कि भाई ! ‘अब मुझे भव नहीं चाहिए’ - इस प्रकार यदि तुझे भवभ्रमण से थकान लगी हो तो आत्मा की प्रीति करके उसका स्वरूप समझ ! इसके अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है ।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

मुनिराज की परिणति में आनन्द का ज्वार

समुद्र का प्राकृतिक ही ऐसा स्वभाव है कि पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्र के योग से उसमें पूरा ज्वार आता है। ग्यारह, बारस, तेरस आदि दिनों में उनके सीमित ज्वार होता है परन्तु पूरा ज्वार तो पूर्णमासी के दिन ही आता है। चन्द्रमा और ज्वार का ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। चन्द्र तो निमित्तमात्र है; समुद्र स्वयं अपने मध्यबिन्दु से उछलता है तब ज्वार आता है। मुनिराज को भी पूर्ण ज्ञायकचन्द्र के एकाग्र अवलोकन से-एकाग्र सञ्चेतन से आत्मसमुद्र में वैराग्य, आनन्दादि सर्व गुणों की पर्यायों में यथासम्भव ज्वार आता है। अहा! मुनि किन्हें कहा जाता है भाई! वर्तमान में तो सम्यग्दर्शन का भी ठिकाना नहीं है और बन बैठे मुनि! अरे! नग्न हो गये इसलिए मुनिपना आ गया - ऐसा नहीं है। अन्तर में आनन्द के नाथ को-निज ज्ञायकदेव को जागृत करके जिनके प्रचुरता से आनन्द का वेदन बढ़ गया हो उनको मुनिदशा कही जाती है। वस्त्रपात्रधारी तो मुनि हैं ही नहीं, वे तो मुनि नामधारी, गृहीत मिथ्यादृष्टि कुलिङ्गी हैं; उनको मुनि माननेवाले जीव भी गृहीतमिथ्यादृष्टि हैं। वे तो ठीक, परन्तु जिन्होंने मुनिदशा का बाह्य सच्चा लिङ्ग-नग्नता धारण किया है परन्तु भीतर सम्यग्दर्शन और स्वानुभूति आदि परिणति प्रगट नहीं की, उनके स्वरूप की भी जिनको खबर नहीं है, वे सब द्रव्यलिङ्गी मिथ्यादृष्टि हैं। अहा! कठिन बात है भाई! मट्टा माँगने जाए और बर्तन छिपाए तो नहीं चलेगा; वैसे ही मार्ग प्राप्त करना हो तो सत्य को छिपाने से काम नहीं चलेगा; सत्य को स्पष्टरूप से समझना चाहिए।

समुद्र में जो पूर्ण ज्वार आता है, उसमें पूर्णमासी का चन्द्र तो मात्र निमित्त है, ज्वार

समुद्र के अपने कारण से आता है परन्तु मुनिराज को आत्मसमुद्र में जो ज्वार आता है वह पूर्ण चैतन्य चन्द्र के एकाग्र अवलोकन-चैतन्यसमुद्र के उग्र आश्रय से आता है। दृष्टान्त में पूर्णमासी का चन्द्रमा निमित्त कारण है और सिद्धान्त में मुनिराज का पूर्ण चैतन्यचन्द्र आत्मसमुद्र में ज्वार का आश्रय कारण है। त्रिकाल शुद्ध चैतन्य द्रव्य के आश्रय से ही ज्वार अर्थात् शुद्धि की वृद्धि होती है।

पूर्ण चैतन्य चन्द्र के उग्र आश्रय से-एकाग्र अवलोकन से आत्मसमुद्र में काहे का ज्वार आता है? कि वैराग्य का ज्वार आता है, अतीन्द्रिय आनन्द का ज्वार आता है, अतीन्द्रिय शान्ति का ज्वार आता है, सर्व गुणों की पर्यायों में यथासम्भव ज्वार आता है। समुद्र में ज्वार के समय लहरें जिस प्रकार किनारे आती हैं, उसी प्रकार आत्मा में जब शुद्धि का ज्वार आता है तब वैराग्य, आनन्द, शान्ति, समाधि की लहरें पर्याय में आती हैं अर्थात् चैतन्य चन्द्र के एकाग्र अवलोकन से पर्याय में वैराग्य, आनन्द, शान्ति, समाधि आदि की वृद्धि होती है। अहा! ऐसी बात है। अरे! उसे समझने का या निर्णय का भी ठिकाना नहीं है, तो उसका परिणाम क्या? इसे समझे बिना मरने पर कहाँ चला जाएगा, उसका पता भी नहीं लगेगा।

पूर्ण चैतन्य चन्द्र के एकाग्र अवलोकन से सर्वगुणों की पर्याय में यथासम्भव ज्वार आता है परन्तु उसमें वैराग्य और आनन्द इन दो को लिया है। ज्वार पर्याय में आता है भाई! त्रैकालिक ध्रुव गुण में नहीं। जितनी एकाग्रता हो उसके प्रमाण में सर्व गुणों की पर्याय में यथासम्भव निर्मलता बढ़ती है।

यह ज्वार बाहर से नहीं, भीतर से आता है।

ध्रुव चैतन्यस्वभाव के आश्रय से सर्व गुणों की पर्याय में जो यथासम्भव ज्वार आता है वह बाहर से नहीं किन्तु भीतर से आता है। हजारों नदियों के पानी से तथा सौ इञ्च वर्षा से भी समुद्र में ज्वार नहीं आता परन्तु समुद्र जब अपने मध्यबिन्दु से उछलता है तब ज्वार आता है; वैसे ही आत्मसमुद्र में ज्ञान का ज्वार बाहर से-शास्त्र पढ़ने से, वाणी सुनने से या बाह्य ज्ञातृत्व से नहीं आता, श्रद्धा का ज्वार देव-शास्त्र-गुरु या तत्त्व के विकल्पों से नहीं आता, चारित्र्य का ज्वार व्रत, संयम, उपवासादि बाह्य क्रियाकाण्ड या शुभ विकल्पों

से नहीं आता परन्तु अन्तर में से, ध्रुव ज्ञायक द्रव्यस्वभाव का उग्र आश्रय लेने से आता है। आत्मा के दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि गुण बाह्य में नहीं हैं कि जिससे उनकी पर्याय में बाहर से ज्वार आ जाए; वे सब गुण आत्मा में हैं; इसलिए उनकी पर्याय में निर्मलता का ज्वार भीतर आत्मा में से आता है, बाहर से नहीं। अहा! ऐसा है वस्तुस्वरूप।

पूर्ण चैतन्यसमुद्र को स्थिरतापूर्वक निहारने पर अन्दर से चेतना उछलती है, चारित्र उछलता है, सुख उछलता है, वीर्य उछलता है - सब कुछ उछलता है।

पूर्ण ज्ञायकचन्द्र को श्रद्धा, ज्ञान और अंशतः स्थिरतापूर्वक तो सम्यग्दृष्टि और श्रावक भी निहारते हैं परन्तु मुनिराज तो उसे संयम की उग्र स्थिरतापूर्वक निहारते हैं। पूर्ण चैतन्यचन्द्र को उग्र स्थिरतापूर्वक निहारने से आत्मसमुद्र में चेतना उछलती है, चारित्र उछलता है, शान्ति उछलती है, धैर्य उछलता है, आनन्द उछलता है, वीर्य उछलता है - सर्व गुणों की पर्यायों में निर्मलता का ज्वार आता है, सब उछलते हैं।

धन्य मुनिदशा!

अहा! स्वरूपस्थिरतारूप झूले में झूलते हुए उन मुनिराज की आत्मलीनता का क्या कहना! वह तो कोई अद्भुत दशा है। मुनिराज का सर्व प्रवर्तन मात्र आत्मामय ही है। बहिन कहती हैं - धन्य वह मुनिदशा!

(वचनामृत प्रवचन, भाग-4, पृष्ठ-245)

धर्मनगरी में प्रविष्ट होने का दरवाजा

आत्मा के अनुभव के लिए पहले ठोस भूमिका चाहिए। वह ठोस भूमिका कौन सी है? मैं ज्ञानस्वरूप हूँ - ऐसा निर्णय ही ठोस भूमिका है। जैसे, बैठे हुए पक्षी को गगन में उड़ने के लिए नीचे ठोस भूमिका चाहिए; उसी तरह चैतन्य के चारित्र में गगन-विहार करने के लिए पहले निर्णयरूप ठोस भूमिका चाहिए। आत्मार्थी होकर अनन्त काल में नहीं किया हुआ - ऐसा अपूर्व प्रकार से, अपूर्व पुरुषार्थ से, आत्मा का अपूर्व निर्णय करना ही प्रथम भूमिका है - यही धर्मनगरी में प्रविष्ट होने का दरवाजा है। इस निर्णय में राग का उत्साह नहीं, अपितु चैतन्य का उत्साह है। वह जीव, राग के भरोसे रुकता नहीं है किन्तु चैतन्यस्वभाव के भरोसे अन्तर में आगे बढ़ता जाता है और राग-द्वेष का अभाव करता जाता है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

वीतरागी समता के पिण्ड

मुनिराज को एकदम स्वरूप-रमणता जागृत है।

क्या कहते हैं ? मुनिराज को एकदम स्वरूप-रमणता जागृत है - उसमें दो बातों का समावेश है। (१) तीन कषायों का अभाव होकर जो वीतरागभाव उत्पन्न हुआ है, इतनी स्वरूप-रमणता की जागृति निरन्तर अटूट वर्तती है; (२) निरन्तर वर्तती शुद्धि के अतिरिक्त उपयोग भी क्षण में अन्दर तुरन्तर लग जाता है। छठवें गुणस्थान में आते हैं, विकल्प उठता है, साथ में स्वरूप की रमणता भी है परन्तु रमणता एकदम बढ़ गई है इसलिए उपयोग बारबार अन्तर में चला जाता है; क्षण-क्षण में सातवें गुणस्थान में आ जाता है।

चौथे-पाँचवें गुणस्थान में स्वरूप की दृष्टि है, भूमिकानुसार स्वरूप-स्थिरता है, उपयोग अन्तर में जाता है परन्तु उपयोग को निर्विकल्प होने में पुनः पुनः अधिक अन्तर पड़ जाता है। मुनि तो क्षण में छठवें और क्षण में सातवें झूले की भाँति झूलते हैं-वर्तते हैं, क्योंकि उनको स्वरूप-रमणता एकदम जागृत है, खूब बढ़ गई है।

स्वरूप कैसा है ? ज्ञान, आनन्दादि गुणों से निर्मित है।

अहा ! जैन दर्शन के सन्त-मुनियों का स्वरूप भी कैसा है ! मुनि को आत्मस्वरूप में उग्र रमणता है। भगवान आत्मा का स्वरूप अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय प्रभुता, अतीन्द्रिय स्वच्छता आदि अनन्त गुणों से निर्मित है, अनन्त गुणों का बना हुआ है। वह स्वरूप अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, अनन्त वीतरागता

एवं अनन्त स्वच्छन्दता आदि अनन्त गुणों का भण्डार है, खजाना है - ऐसे अपने स्वरूप में मुनिराज की परिणति एकदम जम गई है।

पर्याय में समताभाव प्रगट है।

सम्यग्दर्शन होने पर अतीन्द्रिय आनन्द का अल्प स्वाद आता है परन्तु मुनि को उसका अति प्रचुर आस्वादन होता है। समयसार की पाँचवीं गाथा की टीका में भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेव निजवैभव बतलाते हुए कहा है कि - 'कैसा है निजवैभव ? निरन्तर झरते ऐसे सुन्दर आनन्द की मुद्रा-छापवाला जो अतीन्द्रिय प्रचुर स्वसंवेदन उससे उत्पन्न हुआ आचार्य भगवान् का निजवैभव है। वस्तुस्वभाव से तो वीतरागस्वरूप है परन्तु मुनि को पर्याय में भी खूब वीतरागता-समताभाव आ गया है।'

चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय दूर हुआ उतने अंश में वीतरागता है। पाँचवें में उससे भी विशेष है। मुनि को छठवें-सातवें तो वीतरागभाव-समताभाव पर्याय में खूब बढ़ गया है। शक्ति-अपेक्षा से समताभाव त्रिकाल पूर्ण है ही परन्तु यह तो पर्याय में भी खूब प्रगट हुआ है।

शत्रु-मित्र के विकल्प रहित हैं; निर्मानता है; 'देह जाय पर माया होय न रोम में; 'सोना हो या तिनका - दोनों समान हैं।

यह मेरा शत्रु है और यह मेरा मित्र है, भक्त है, मुझे मारनेवाला है; यह मुझे प्रतिकूल और यह अनुकूल है - ऐसे विकल्प के राग से मुनिराज रहित हैं।

मुनिराज को अन्तर में अत्यधिक निर्मानता प्रगट हुई है। पूर्ण केवलज्ञानदशा की जहाँ भावना है, वहाँ अपनी पर्याय का या पद का अभिमान नहीं होता। तीन कषाय के अभाव की वीतरागता होने पर भी, पर्याय में अभी पूर्ण वीतरागता एवं सर्वज्ञदशा प्रगट नहीं हुई है, अपनी दशा में अल्पता, पामरता है ऐसा जानते हैं। अन्तर में तो निर्मान... निर्मान हैं।

'देह जाय पर माया होय न रोम में' - यह श्रीमद् के 'अपूर्व अवसर' की पंक्ति है। अहा! भले ही शरीर छूट जाए किन्तु मुनिराज के एक रोम जितने भाग में भी माया नहीं होती। अहा! मुनिदशा किसे कहते हैं? दिगम्बर सन्त कि जिनके अन्तर में मुनि योग्य

रागरहितभाव से नग्नता और बाह्य में वस्त्ररहितरूप नग्नता सहज वर्तते हैं, उनकी सहजदशा वह मुनिपना है। अन्तर में आत्मा की प्रतीति के बिना जीव बाह्य से वस्त्ररहित नग्न अनन्तबार हुआ, वह कोई मुनिदशा नहीं है। अरे! पञ्च महाव्रत का शुभराग आये, विकल्प की वृत्ति उठे, वह भी मुनिपना नहीं है। स्वभाव की प्रतीति करके अन्तर में मुनिदशा को अनुचित विकल्परूप वृत्ति से रहित और बाह्य वस्त्रादि से रहित सहजदशा हो वह, भाव से तथा द्रव्य से निर्ग्रन्थ मुनिदशा है। श्रीमद् ने कहा है कि - 'द्रव्यभाव संयममय निर्ग्रन्थ सिद्ध है।'

मुनि को अतीन्द्रिय वीतरागी आनन्द का स्वाद प्रचुर होता है। सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में वह स्वाद अल्प होता है। सर्वाथसिद्धि के देव जो कि एकभव में मोक्ष जानेवाले हैं, उनकी अपेक्षा पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक को आनन्द का विशेष स्वाद होता है और मुनि को तो श्रावक की अपेक्षा अधिक आनन्द का वेदन है। 'देह जाय पर माया होय न रोम में' - ऐसी सहजदशा हो गई है। चौथे-पाँचवें, देह जाए परन्तु देह के साथ एकताबुद्धि होय न रोम में; किञ्चित् आसक्ति का राग है, इतनी अरुचि प्रतिकूलता में आ जाती है। ज्ञानी को राग तथा अरुचि - दोनों ज्ञान का ज्ञेय हैं।

ज्ञानी को आत्मा के आलम्बन से जितनी शुद्धता प्रगट हुई है उतना आनन्द और अभी जितना परलक्ष्यी राग है उतना दुःख है। पूर्ण आनन्द का वेदन परमात्मा को-अरहन्त-सिद्ध को है; पूर्ण दुःख का वेदन मिथ्यादृष्टि को है - भले ही वह साधु होकर पञ्च महाव्रत पालता हो परन्तु जहाँ राग के साथ एकताबुद्धि है वहाँ पूर्ण दुःख है और साधक को थोड़ा आनन्द तथा थोड़ा दुःख है।

सम्यग्दृष्टि को अपने स्वरूप के आनन्द का भी वेदन है और जितना राग है उतना दुःख का भी वेदन है। मिथ्यादृष्टि को राग में एकत्वबुद्धि होने से किञ्चित् भी सुख नहीं है, मात्र दुःख ही है। पैसेवाले मानें कि हम सुखी हैं परन्तु वे सुखी नहीं हैं, दुःखी हैं। पैसे में धूल भी सुख नहीं है; उसके राग में मात्र आकुलता है।

प्रश्न : पैसे में सुख नहीं है तो क्या फेंक दें ?

उत्तर : अरे, भाई! फेंके कौन और रखे कौन ? पैसा तो जड़ वस्तु है। वह उसके

कारण आया है, रहता है और चला जाता है। दान देनेवाला माने कि 'मैंने दान दिया' - वह मिथ्या भ्रम है। यहाँ तो मुनिदशा की बात है। लक्ष्मी तो ठीक परन्तु 'देह जाय पर माया होय न रोम में' - ऐसी दशा सहजरूप से वर्तती है।

सोना हो या तिनका - दोनों मुनिराज को एकसमान हैं; ज्ञान के जड़ ज्ञेय हैं। मुनि को वन में कहीं हीरों से भरा हुआ घड़ा दिखायी दे, उसमें एक-एक हीरा करोड़ों के मूल्य का हो तथापि उनके मन उसकी कोई महिमा नहीं होती, सड़े हुए तिनके समान तुच्छ जानते हैं। अन्तर में इतनी अधिक वीतरागता प्रगट हुई है कि हीरा हो अथवा विष्टा, दोनों एक समान ज्ञेय लगते हैं। हीरा देखा तो अच्छा और विष्टा दिखायी दिया तो बुरा - ऐसा नहीं है। धूल के ढेले हों या चिकनी लकड़ी का तख्त - दोनों एक से लगते हैं। नर्म वह अच्छा और कठोर वह बुरा - ऐसे भावरहित, अन्तर में आनन्दसहित समताभाव मुनि को प्रगट हुआ है।

चाहे जैसे संयोग हों - अनुकूलता में आकर्षित नहीं होते, प्रतिकूलता में खेद नहीं करते।

भले ही चाहे जैसे बाह्य संयोग हों, मुनि अनुकूलता में आकर्षित नहीं होते। सम्यग्दृष्टि को किञ्चित् राग आ जाता है परन्तु वे संयोग और राग मेरे हैं - ऐसी दृष्टि नहीं है। सुन्दर स्त्री, पुत्र, लक्ष्मी, मकान और करोड़ों की आमदनी आदि में - अनुकूल वस्तुओं में किञ्चित् राग आ जाता है तथापि (श्रद्धा-अपेक्षा से) ज्ञानी लुभाते नहीं हैं - आकर्षित नहीं होते। यहाँ तो मुनि की बात है। मुनि को स्त्री-पुत्रादि का राग तो है ही नहीं परन्तु शिष्य, संघ, पूजा, प्रतिष्ठा आदि बाह्य अनुकूल संयोगों में भी आकर्षित नहीं होते। अहा! मुनि किन्हें कहते हैं भाई! मुनिराज तो चलते-फिरते सिद्ध हैं। एक तो अपने अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया हो और तदुपरान्त प्रचुर अतीन्द्रिय रमणता-वीतरागता प्रगट हुई हो; उस वीतराग समताभाव में सोना और तिनका दोनों समान दिखायी देते हैं। वे मुनिराज अनुकूलता में आकर्षित और प्रतिकूलता में खेदखिन्न नहीं होते। वे जानते हैं कि समस्त परवस्तुएँ परज्ञेय हैं, जानने योग्य हैं; इसलिए उनमें कोई वस्तु अच्छी है और कोई बुरी है - ऐसा मुनि को नहीं लगता।

मुनिराज को वीतरागता फूलीफली है; जिस प्रकार फूल की कली खिल उठती है, उसी प्रकार वीतरागता खिल उठी है। श्रेणिक राजा ने यशोधर मुनि के गले में मरा हुआ सर्प डाल दिया था; करोड़ों चींटियाँ शरीर पर चढ़ गईं और जगह-जगह काटा। ऐसे उपसर्ग के समय भी मुनि खेदखिन्न नहीं हुए थे परन्तु अन्तर में वीतरागी आनन्द में क्रीड़ा करते थे। चेलना रानी कहने लगी - देखो, ऐसे होते हैं हमारे जैन मुनि! अन्तर-आनन्द की मस्ती में उपसर्ग के प्रति उनका लक्ष्य ही नहीं जाता। अन्तर में एकदम अतीन्द्रिय आनन्द की परिणति में लीन हो गये हैं। श्रेणिक राजा को लगा कि - अहो! ऐसा है जैनधर्म! फिर मुनिराज ने धर्म का स्वरूप समझाया और श्रेणिक ने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया। पश्चात् महावीर भगवान के समवसरण में तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध किया; मुनि को उपसर्ग करते समय सातवें नरक की आयु का बन्ध किया था, उसमें सम्यग्दर्शन के प्रताप से परिवर्तन होकर तेतीस सागर की स्थिति घटकर प्रथम नरक में चौरासी हजार वर्ष की रह गई! वर्तमान में वे पहले नरक में हैं। वहाँ से निकलकर आगामी चौबीसी के प्रथम तीर्थङ्कर पद्मनाभ होंगे। अहा! सम्यक्त्व की महिमा अपार है! लोगों को उसकी खबर नहीं है, मूल्य नहीं है और बाह्यक्रियाओं में 'यह किया, वह किया' इस प्रकार मिथ्यात्व का पोषण करते हैं। यहाँ तो कहते हैं कि मुनिराज को प्रतिकूलता में खेद और अनुकूलता में हर्ष नहीं है।

ज्यों-ज्यों आगे बढ़ें त्यों-त्यों समरसभाव विशेष प्रगट होता जाता है।

अतीन्द्रिय आनन्द का समुद्र ऐसा जो भगवान आत्मा, उसमें ज्यों-ज्यों डुबकी मारें त्यों-त्यों अन्तर में वीतरागता और आनन्द की वृद्धि होती जाती है। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते हैं त्यों-त्यों समरसभाव-वीतरागभाव विशेष होता जाता है। पूर्ण वीतरागस्वरूप प्रभु तो अन्तर में विद्यमान है; उसका अनुभव करने पर वीतरागता के अंश क्रमशः, स्थिरता बढ़ने पर, वृद्धि को प्राप्त होते हैं। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ें त्यों-त्यों अतीन्द्रिय आनन्द की वीतरागी लहर बढ़ती जाती है। अन्तर में पारिणामिकभाव से शक्तिरूप आनन्द था वह पर्याय में, सम्पूर्ण वीतरागता होकर केवलज्ञान होने पर, पूर्ण प्रगट होता है। अहा! ऐसा भगवान, इस अस्थि-चर्ममय शरीर में लिपटा हुआ प्रभु, 'यह शरीर और राग सो मैं' - ऐसी भ्रमणा में कहाँ अटक गया है ?

(वचनामृत प्रवचन, 1/249)

अलौकिक चैतन्यऋद्धि का स्पष्ट वेदन

मुनिराज बारम्बार निर्विकल्परूप से चैतन्यनगर में प्रवेश करके अद्भुत ऋद्धि का अनुभव करते हैं।

मुनिराज बारम्बार वीतरागरूप से, जिसमें अनन्तगुणों का वास है, ऐसे निज चैतन्यनगर में-अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द के धाम में-प्रविष्ट होकर अद्भुत ऋद्धि को अनुभवते हैं। अहा! वह अद्भुत मुनिदशा! आज कल तो बिना सम्यग्दर्शन के-आत्मा की प्रतीति के बिना-सीधा मुनिपना दे देते हैं।

मुनिराज ने शुभोपयोग से भिन्न होकर अन्तर में आनन्द के नाथ का अनुभव किया है; आनन्द की दशा प्रगट हुई उसे रखते हैं और जो प्रगट नहीं हुई उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे मुनिराज निर्विकल्प दशा से परिणमित होकर-बाह्य से शून्य होकर अन्तर में प्रवेश करते हैं, वहाँ शून्यता नहीं है। मुनि तो अतीन्द्रिय आनन्द की अद्भुत दशा को अनुभवते हैं।

उस दशा में, अनन्त गुणों से भरपूर चैतन्यदेव भिन्न-भिन्न प्रकार की चमत्कारिक पर्यायोंरूप तरङ्गों में एवं आश्चर्यकारी आनन्दतरङ्गों में डोलता है।

अनन्तानन्त गुणों से भरपूर भगवान् आत्मा भिन्न-भिन्न प्रकार के चमत्कारिक ज्ञान, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता आदि को जो वचनगम्य नहीं है – ऐसे चमत्कारिक आनन्दादि विविध प्रकार के भावों को अनुभवता है; वह भीतर आश्चर्यकारी सुखसागर में डोलता है। द्रव्य से और गुण से तो आत्मा परिपूर्ण है परन्तु उसका अनुभव होने पर-

सम्यग्दर्शन-ज्ञान होने पर भिन्न-भिन्न प्रकार की चमत्कारिक पर्यायों में-शान्ति की पर्याय, स्वच्छता की पर्याय, सम्यग्दर्शन की पर्याय, स्वरूपाचरण की पर्यायरूप तरङ्गों में आत्मा डोलता है। तरङ्ग पर्याय है, वस्तु ध्रुव है। वेदन पर्याय है, वेदन ध्रुव नहीं होता। वेदन की पर्याय वर्तमान दशा है।

प्रवचनसार की १७२ वीं गाथा की टीका में अलिङ्गग्रहण के २० वें बोल में आता है कि - लिङ्ग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोधसामान्य वह जिसके नहीं है वह अलिङ्गग्रहण है; इस प्रकार आत्मा द्रव्य से नहीं आलिङ्गित ऐसा शुद्ध पर्याय है ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

प्रत्यभिज्ञान कारण ऐसा नित्य चैतन्य-द्रव्यस्वभाव, उसे जो स्पर्श नहीं करता ऐसा शुद्धपर्यायरूप आत्मा है। प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो यह द्रव्य जो पहले था वही यह है; जो ज्ञाता पहले था वही यह - ऐसा जो त्रैकालिक द्रव्य-उसे नहीं स्पर्शता, उसे नहीं छूता, उसे आलिङ्गन नहीं करता आत्मा-वेदन में जो वर्तमानदशा आई वह आत्मा-शुद्ध पर्यायस्वरूप है। दृष्टि तो सामान्य पर, द्रव्य पर है, परन्तु वेदन शुद्ध पर्याय का है। दृष्टि तो ध्रुव पर परिणम गई है, पर यहाँ (आलिङ्गग्रहण के २० वें बोल में) कहते हैं कि दृष्टि का विषय ऐसा जो द्रव्य उसका आलिङ्गन नहीं करता - ऐसा आत्मा वर्तमान शुद्ध पर्याय है। वेदनपर्याय उसे आत्मा कहा। वेदन की पर्याय वह तो प्रगट है, ध्रुव में वह मिल नहीं गयी है। ध्रुव को जाननेवाली पर्याय ध्रुव से स्वरूप में भिन्न है। सम्यग्दर्शन की पर्याय जो द्रव्य को मानती है वह द्रव्य से कथञ्चित् भिन्न है।

मुनि को आश्चर्यकारी आनन्द तरङ्गों में डोलते हैं। अहा! उसका वर्णन वाणी से नहीं हो सकता है! जहाँ शक्ति में से व्यक्ति-प्रगटता हुई, ज्वार आया-ज्वार बाहर से नहीं भीतर से आता है - शान्ति का, आनन्द का, स्वच्छता का, सम्यग्दर्शन का, स्वसंवेदन का, चारित्र का, वहाँ ज्ञानी आश्चर्यकारी आनन्दतरङ्गों में डोलता है। अन्तर में आनन्द का नाथ उल्लसित हुआ है, उसमें दृष्टि और एकाग्रता होने पर, वह एकाग्रता की पर्याय आनन्द तरङ्गों में डोलती है। ऐसी बात है भाई! उसे मानकर प्रगट करने में ही उद्धार है; इसके बिना परिभ्रमण नहीं मिटेगा।

अनन्त गुणों से भरपूर इस आत्मद्रव्य का आश्रय लिया पर्याय ने; उस पर्याय ने निज द्रव्य तल को देखा; उसे देखने पर-अनुभवने पर भिन्न-भिन्न प्रकार की चमत्कारिक पर्यायों के - ज्ञान की पर्याय, दर्शन की पर्याय, चारित्र की पर्याय, आनन्द की पर्याय, स्वच्छता की पर्याय, प्रभुता की पर्याय, जीवत्वशक्ति की पर्याय आदि अनन्त गुणों की पर्यायों की - जैसे, फव्वारे उछलते हैं तदनुसार निर्मल तरङ्गें उछलती हैं। इसमें द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों आ गये। अभी जिन्हें यह भी खबर नहीं है कि द्रव्य किसे कहते हैं, गुण किसे कहते हैं, पर्याय किसे कहते हैं और 'णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं' के पहाड़े पढ़ते रहें उनकी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो अनन्तगुणों से भरपूर आत्मा स्वभाव के सन्मुख हुआ और रागादि विभाव तथा पर्याय से विमुख हुआ, तब अन्तर में चमत्कारिक पर्यायों की तरङ्गें उठीं - आश्चर्यजनक ज्ञानपर्याय, आश्चर्यजनक सम्यक्त्व पर्याय, आश्चर्यजनक चारित्र पर्याय, आश्चर्यजनक आनन्द पर्याय आदि अनन्त गुणों की अद्भुत पर्यायें मुनिराज को उत्पन्न हुईं। पञ्च महाव्रत या नग्नता वह मुनिपना नहीं है परन्तु भीतर आनन्द गुणों का समुद्र भरा है, उसमें दृष्टि देने पर, उसकी प्रतीति होने पर आनन्दादि गुणों की तरङ्गें उठें वह धर्म एवं मुनिपना है। जैसे, समुद्र में ज्वार और नदी में बाढ़ आती है, वैसे ही साधक सन्तों को-मुनिराज को अन्तर में आनन्दादि तरङ्गें उछलती हैं, पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का ज्वार आता है।

मुनिराज तथा सम्यग्दृष्टि जीव का यह स्वसंवेदन कोई और ही है, वचनातीत है।

सम्यग्दृष्टि हो अथवा मुनिराज हों - दोनों को आत्मा के आनन्दस्वरूप का स्वसंवेदन कोई भिन्न प्रकार का होता है। सम्यक्त्वी को राग के, पञ्च महाव्रत के विकल्प-पुण्य के परिणाम आते हैं, भक्ति आदि के परिणाम आते हैं परन्तु उसे अन्तर में प्रभु-आत्मा का स्वसंवेदन भिन्न है। अन्तर के आनन्द का वेदन, वह शान्ति कोई अलग प्रकार की, वचनातीत है।

अहा! भगवान ने उस शान्तरस के स्वसंवेदनस्वरूप धर्म किसे कहा है? कि पुण्य-पापरूप कषायभाव के अभावरूप ऐसा जो अन्तर शान्तरस का स्वभाव उसे भगवान ने धर्म कहा है।

जैसी निर्मलता रे रत्न-स्फटिक की, वैसा ही जीव स्वभाव रे।
वह जिनवीर ने धर्म प्रकाशिया, प्रबल कषाय-अभाव रे।

जीवन में सुना हो कुछ दूसरा और यह बात आयी कोई दूसरी; इसलिए कहते हैं कि यह तो कोई नयी बात करते हैं। नयी बात नहीं है भाई! यह तो अनादि की है। अनन्त तीर्थङ्कर, अनन्त केवली और अनन्त सन्त मुनि यही बात करते आ रहे हैं भाई! तुझे सुनने को नहीं मिली इसलिए नयी लगती है।

यहाँ कहते हैं कि मुनिराज तथा सम्यग्दृष्टि जीव का यह स्वसंवेदन-स्व अर्थात् आनन्दकन्द शुद्ध आत्मा और संवेदन अर्थात् उसका पर्याय में वेदन-कोई अलग ही है; राग से भिन्न है, विस्मयजनक है, आश्चर्यकारी है। चौथे गुणस्थान में वर्तते हुए सम्यग्दृष्टि का स्वसंवेदन भी कोई भिन्न प्रकार का है। पाँचवें गुणस्थान में वर्तते सच्चे श्रावक का भी स्वसंवेदन राग से कोई भिन्न जाति का है। स्व अर्थात् अपना शान्त एवं आनन्दस्वभाव; संवेदन अर्थात् उसका पर्याय में वेदन, वह कोई अन्य जाति का है, वचनातीत है। वह वचन द्वारा कैसे कहा जाएगा भाई! गूँगे का गुड़। गूँगा आदमी गुड़ खाता हो, उससे कोई पूछे कि क्यों भाई गूँगे! गुड़ कैसा है? तो वह क्या उत्तर देगा? चेहरे के हावभाव से तथा हाथ की चेष्टा से बतलाने की चेष्टा करेगा। वैसे ही ज्ञानी का स्वसंवेदन भी कोई अन्य प्रकार का है, वचनातीत है।

२२८ वें बोल में कहा है कि आत्मा के अस्तित्व को पहिचान कर स्वरूप में स्थिर हो जा, बस!..... तेरा अस्तित्व आश्चर्यकारी अनन्त गुणपर्याय से भरा है; उसका पूर्ण स्वरूप भगवान की वाणी में भी पूरा नहीं आ सकता। उसका अनुभव करके उसमें स्थिर हो जा। श्रीमद् ने 'अपूर्व अवसर' में कहा है —

जो पद श्री सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में,
कह न सके उसको भी श्री भगवान जो।
उस स्वरूप को अन्य वाणी तो क्या कहै?
अनुभवगोचर मात्र रहा वह ज्ञान जो। अपूर्व...।

— इसमें भी यही आया। वस्तु है वह वाणी में कितनी आएगी? वाणी जड़, रूपी

और भगवान आत्मा चेतन, अरूपी। शत्रु के पास स्वजन की बता कहलाना हो कि 'तू मेरे स्वजन-मित्र का गुणगान करना', तो वह शत्रु क्या गुणगान करेगा? भीतर भगवान आनन्द का नाथ अरूपी और वाणी जड़रूपी मिट्टी धूल। उसके द्वारा अरूपी चेतन की महिमा हो सकती है? गोम्मटसार में कहा है कि केवलज्ञानी भगवान ने जितना जाना है, उसका अनन्तवाँ भाग वाणी में आता है। अहा! इतनी वस्तुस्वरूप की गम्भीरता है, वस्तु का स्वरूप कथञ्चित् अर्थात् पूर्णरूप से वचनातीत है। दूसरी अपेक्षा लेकर समयसार की पाँचवीं गाथा की टीका में स्पष्टीकरण करते हुए पण्डित जयचन्द्रजी ने ऐसा भी कहा है कि शब्दब्रह्म (जिनवाणी) सब कहता है; परमागम में वस्तु के वचनगोचर सर्व धर्मों के नाम आते हैं और वचन से अगोचर जो भी विशेष धर्म हैं, उनका अनुमान कराया जाता है; इस प्रकार शब्दब्रह्म सर्व वस्तुओं का प्रकाशक है।

वहाँ शून्यता नहीं है, जागृतरूप से अलौकिक ऋद्धि का अत्यन्त स्पष्ट वेदन है।

वह वचनातीत स्वसंवेदन कोई और ही है। भगवान आत्मा में आनन्द का जो वेदन है, वह स्वसंवेदन है; वह वचन से नहीं कहा जा सकता इसलिए वचनातीत कहा, परन्तु वहाँ शून्यता नहीं है। वचन से नहीं कहा जा सकता इसलिए वह शून्य है — ऐसा नहीं है। भीतर महाप्रभु आनन्द से भरपूर है और वेदन में भी आनन्द की पर्याय आ गयी है। वह वेदन कोई शून्य है — ऐसा नहीं है। अहा! ऐसा वीतरागमार्ग! भारी काम है भाई! जीव का यह चमत्कारिक वेदन आश्चर्यजनक एवं वचनातीत है, राग के वेदन से कोई अन्य बात है। राग का दया, दान, व्रतादि का विकल्प राग है उसका वेदन भिन्न प्रकार का है और इस स्पष्ट स्वसंवेदन की जाति कोई और ही है।

अहा! भारी काम है भाई! त्रिलोकीनाथ जिनेश्वरदेव-परमेश्वर की वाणी में अमुक आया, पूर्ण नहीं आया; क्योंकि वाणी जड़ है। भगवान आत्मा-चैतन्यदेव-स्व-परप्रकाशक है और वाणी स्वपर-कथन है। स्वपर की कथा-कथन कर सके ऐसी शक्ति वाणी में है; तथापि आत्मा का पूर्ण स्वरूप कहने की शक्ति उसमें नहीं है। आत्मा में अनन्त गुण-अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, ज्ञान, दर्शन, सुख आदि उन अनन्त गुणों की एकसमय की अनन्त पर्यायें, उनका स्पष्ट वेदन होता है, वहाँ शून्यता नहीं है। भीतर उस अनन्त वैभव से भरा भगवान है, उस अनन्त गुणऋद्धि से भरपूर चैतन्यदेव अनुभव में

आने पर, वहाँ शून्यता नहीं है, जागृतरूप में उस अलौकिक ऋद्धि का अत्यन्त स्पष्ट वेदन है। वह वेदन वचन से नहीं कहा जा सकता।

कोई कहता है कि भीतर शून्य हो जाओ; खूब रोओ-खूब रोओ, फिर विकल्प टूटकर शून्य हो जाओगे। ऐसा मार्ग है ही नहीं। वीतरागमार्ग के सिवा अन्य कोई मत सत्य है ही नहीं परन्तु वीतराग का कहा हुआ यह सत्य महँगा बहुत है, भाई! यह वस्तु दुर्लभ है, बड़ी से बड़ी वस्तु है। यहाँ ऐसा कहा कि वहाँ (स्वसंवेदन में) शून्यता नहीं है अर्थात् वेदन में विकल्प नहीं है और वेदन आया वह कहा नहीं जा सकता इसलिए वेदन कुछ है ही नहीं – ऐसा नहीं है। भीतर आनन्द, शान्ति आदि का अस्तिरूप से-अत्यन्त स्पष्टरूप से वेदन है।

दूसरे कुछ अभी कहते हैं कि यह बहिन की पुस्तक एक बार प्रकाशित हुई, अब दूसरी बार लिखकर वचनामृत का दूसरा भाग प्रकाशित करो। भाई! इसमें इस एक ही पुस्तक में सब आ गया है। कहीं अन्यत्र ऐसी बात है ही नहीं। यह तो बहिन से (बहिनश्री चम्पाबेन से) सहज ही बोलने में आ गया है और सहज ही पुत्रियों ने लिख लिया है; उन्हें कुछ खबर नहीं थी कि यह सब बातें प्रकाशित होंगी। क्या बहिन (बहिनश्री) या पुत्रियों को खबर थी? अहा! 'निवेदन' में लिखा है कि जिन्होंने ऐसी बातें लिख ली हैं वे बहिनें भी अभिनन्दन की पात्र हैं। वचनामृत के एक-एक शब्द में, एक-एक बोल में सारा (पूरा) तत्त्व भरा है। इस 'वचनामृत' पुस्तक में ऐसे ४३२ बोल हैं।

तू वहाँ जा, तुझे चैतन्यदेव के दर्शन होंगे।

इस बोल में क्या कहते हैं? कि ज्ञानी जीव का स्वसंवेदन कोई और है, शब्दातीत है परन्तु वहाँ शून्यता नहीं है। भगवान आत्मा अनन्त गुणऋद्धि से परिपूर्ण द्रव्य-चैतन्यदेव उसका जो अनुभव अर्थात् स्वसंवेदन वह वचन से नहीं कहा जा सकता, विकल्प से जानने में नहीं आता, इसलिए वह शून्य है ऐसा नहीं है। वह वेदन आनन्द एवं शान्ति से भरा है। उस अनुभव दशा में जागृतरूप से ज्ञान, आनन्दादि अलौकिक ऋद्धि का अपनी अलौकिक विभूति का अत्यन्त स्पष्ट वेदन है। वेदन यह पर्याय है। तू वहाँ जा, तुझे चैतन्यदेव के दर्शन होंगे।

भावलिङ्गी मुनिराज तथा अविरत सम्यग्दृष्टि को स्वानुभूति की पर्याय में जो जागृतरूप से अलौकिक निर्मलताओं का ज्ञान और आनन्दादि अद्भुत ऋद्धियों का स्पष्टरूप से वेदन होता है। वहाँ भीतर तू जा, तुझे निज ज्ञायकदेव के दर्शन होंगे। सच्चे मुनि को तथा सम्यग्दृष्टि को आत्मस्वभाव के आनन्द का वेदन कोई अलग ही है। वह वेदन कहीं राग की जाति का नहीं है। राग का वेदन तो जीव को अनादि का है; उसे अपूर्व या अलौकिक कैसे कहा जा सकता है? समस्त प्रकार के राग से भिन्न हुए साधक जीव का अन्तर्वेदन (स्वसंवेदन) तो कोई अलौकिक, अपूर्व और वचनातीत अतीन्द्रिय आह्लादमय होता है। उस वेदन में बुद्धिपूर्वक राग की तथा विकल्प की शून्यता है परन्तु ज्ञान और आनन्द की अलौकिक ऋद्धि की शून्यता नहीं है। जैसे, राग के वेदन के समय रागरूप 'अस्ति' का वेदन है, शून्य नहीं है; वैसे ही ज्ञानी को स्वसंवेदन के समय आह्लादादिरूप 'अस्ति' का वेदन है। वेदन वह 'अस्ति' है, शून्य नहीं है।

जैसे, आत्मा अपने ज्ञान और आनन्दादि त्रैकालिक स्वभाव से शून्य नहीं है और जैसे, केवली भगवान केवलज्ञानादि स्वभावचतुष्टय से शून्य नहीं हैं, वैसे ही साधकसन्त स्वसंवेदन के समय पर्याय में बुद्धिपूर्वक के रागशून्य होने पर भी वहाँ सर्वथा शून्यता नहीं है किन्तु जागृतरूप से आनन्दादि अलौकिक ऋद्धियों का अत्यन्त स्पष्टरूप वेदन है। जैसे, राग का-पुण्य और पाप का वेदन प्रत्यक्ष है, वैसे ही राग से भिन्न हुए मुनिराज को तथा सम्यग्दृष्टि को अनुभवकाल में स्वभाव का संवेदन प्रत्यक्ष है; वह आनन्द और शान्ति से रिक्त नहीं है, शून्य नहीं है।

अहा! जहाँ पर्याय में अलौकिक चैतन्यऋद्धि का अत्यन्त स्पष्ट वेदन है, प्रभु! वहाँ तू जा, तुझे चैतन्यदेव के दर्शन होंगे। जैसे, बाह्य में लक्ष्य करने से राग के तथा विकार के दर्शन होते हैं, वैसे ही अन्तर में जाने पर तुझे आनन्दकन्द ज्ञायकदेव के दर्शन होंगे। अहा! ऐसी बात है। सच्चे मुनि हों या सम्यग्दृष्टि हों – सबके लिए यह एक ही बात है। किसी को ऐसा लगे कि तो क्या हम सब झूठे? भाई! यह तो सत्य क्या है, उसकी बात है। एक बार यह बात सुन तो सही!

(वचनमृत प्रवचन, 3/273)

उपसर्ग-परीषहों के मध्य भी स्वरूप की प्रबल पकड़

स्वभाव में से विशेष आनन्द प्रगट करने के लिए मुनिराज जङ्गल में बसे हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव को कैसी भावना, कैसे मनोरथ होते हैं यह बात बहिन ने इस बोल में बतलायी है। निमित्त की, शुभाशुभ विभाव की तथा अधूरी-पूरी पर्याय की बुद्धि, रुचि और प्रेम छोड़कर सम्यग्दृष्टि जीव को सहज शुद्ध त्रैकालिक निज ज्ञायकस्वभाव की रुचि, बुद्धि और प्रीति परिणमित हो गई है; अन्तर में सिद्धसदृश अतीन्द्रिय आनन्द का अंशतः स्वाद आता है। उस स्वाद को-अतीन्द्रिय आनन्द को-स्वभाव के आलम्बन से विशेष प्रगट करने के लिए मुनिराज एकान्त निर्जन जङ्गल में वास करते हैं। सम्यग्दृष्टि को मुनिराज होने की - 'कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ में?' ऐसी भावना अन्तर में वर्तती रहती है।

'आत्मावलोकन' ग्रन्थ में 'कर्म है तो विकार है' ऐसा जो कहा है उसका क्या आशय है? शुभाशुभ विकार कर्म नैमित्तिक अनित्य भाव है, स्वाभाविक भाव नहीं है; विकार नैमित्तिक भाव होने से वह स्वभाव के अवलम्बन से दूर हो सकता है, नित्यानन्द भगवान् आत्मा का स्वभाव नहीं है, वह तो कर्मोदय के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला क्षणिक औपाधिक भाव है ऐसा बतलाने का वहाँ आशय है और स्वभाव के आश्रय से टालने पर टल जाता है, वह बतलाने के लिए उसका औपाधिकपना समझाने के लिए

‘कर्म है तो विकार है’ ऐसा कहा है। कर्म विकार कराता है अथवा जब तक कर्म है तब तक विकार करना पड़ता है – ऐसा उसका अर्थ नहीं है।

शास्त्र में पुण्य-पाप, जीवस्थान, गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि को पौद्गलिक कहा है। उसका अर्थ यह है कि जीव को पुण्य-पाप आदि भाव पुद्गलकर्म के सम्बन्ध से होते हैं, वे आत्मा के स्वभावभाव नहीं हैं। उनका आत्मा के साथ नित्य तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है क्योंकि वे कर्म के आश्रय से उत्पन्न हुए क्षणिक औपाधिक भाव हैं। यदि उनका जीव के साथ नित्य तादात्म्यसम्बन्ध हो तो वे विभाव जीव का स्वभाव सिद्ध हों और उससे उनका कभी नाश नहीं होगा; तथा जहाँ-जहाँ जीव हो वहाँ-वहाँ पुण्य-पाप होंगे और पुण्य-पापरहित जीव नहीं होता – ऐसा होगा परन्तु ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है; क्योंकि सिद्धदशा में जीव है, परन्तु पुण्य-पाप नहीं हैं, पुण्य-पाप के बिना भी वहाँ जीव है। इसलिए विभाव के साथ जीव का नित्य तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, वह मात्र क्षणिक औपाधिकभाव है, स्वभाव के आश्रय से टालने पर टल जाता है और पुद्गलकर्म के सम्बन्ध से हुआ है उतना बतलाने के लिए विभाव को पौद्गलिक कहा है। उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि पुण्य-पाप का भाव पुद्गल है अथवा पुद्गल ने कराया है।

पुण्य-पाप के भावों को, जीव का स्वभाव नहीं होने पर भी, जीव के कहना वह व्यवहारनय का कथन है। पन्थी लुटने पर पन्थ लुट रहा है ऐसा लोग कहते हैं; उसी प्रकार एक समय का सम्बन्ध देखकर पुण्य-पाप जीव के हैं ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। निश्चय से त्रैकालिक ज्ञायकभाव के साथ विभाव को तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। विभाव को पुद्गलकर्म के साथ सम्बन्ध है, क्योंकि जहाँ-जहाँ विभाव हैं, वहाँ-वहाँ पुद्गलकर्म है, पुद्गलकर्म के बिना विभाव नहीं होते। इस कथन से कोई ऐसा आशय निकाले कि ‘कर्म के कारण विभाव होते हैं’, तो ऐसा नहीं है। विभाव होते हैं जीव के ही अपराध से परन्तु वे होते हैं निमित्त के आश्रय से; स्वभाव के आश्रय से विभाव नहीं होते। बस, उस कथन का इतना ही अर्थ है। विकार का उपादानकारण जीव स्वयं ही है परन्तु उस समय उसका लक्ष्य निमित्त पर है। पुद्गलकर्म के लक्ष्य से हुआ होने से वह विकार पुद्गल का

है ऐसा भी कहा जाता है। अहा! ऐसी बात है; एक न्याय बदल जाए तो सम्पूर्ण वस्तु बदल जाती है, भाई!

यहाँ तो बहिन मुनिराज की बात कहती हैं। स्वभाव में से विशेष आनन्द प्रगट करने के लिए मुनिराज वन में निवास करते हैं। शुभाशुभ विभाव और पर्याय की रुचि छोड़कर जिसने अभेद ज्ञायक की रुचि प्रगट की है, उसे ज्ञायक में विद्यमान सर्व शक्तियों का निर्मल अंश एक साथ व्यक्त हो गया है। उसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्यादि के अंशों के साथ अतीन्द्रिय आनन्द का अंश भी व्यक्त हुआ है। सम्यग्दर्शन होने पर आनन्दसागर ध्रुव चैतन्य के आश्रय से जो आनन्दांश प्रगट हुआ उसमें अतिशय वृद्धि करने के लिए मुनिराज, जहाँ सिंह गर्जना करते हों, हाथी चिंघाड़ते हों, काले नाग फुफकारते हों - ऐसे घोर वन में एकाकी, आनन्दमूर्ति ज्ञायक में ही वस गये हैं। स्वभाव में से विशेष-विशेष स्वरूपानन्द प्रगट करने हेतु मुनिराज एकान्त निर्जन वन में जा बसे हैं। ऐसी दशा कब प्रगट होगी, वह भावना सम्यग्दृष्टि को होती है।

उस हेतु उनको निरन्तर परमपारिणामिकभाव में लीनता वर्तती है - दिन-रात रोम-रोम में एक आत्मा ही रम रहा है।

परिणति में आनन्द की वृद्धि करने के लिए मुनिराज को परमपारिणामिक भावस्वरूप त्रैकालिक ध्रुव निज सहज ज्ञायकभाव में निरन्तर निमग्नता वर्तती है; भूमिकानुसार महाव्रतादि के परिणाम वर्तते हैं परन्तु वह कहीं परमार्थतः मुनिपना नहीं है। ज्ञायक शुद्ध परमभाव के आलम्बन से अविरत सम्यग्दृष्टि को आनन्दांशयुक्त जो लीनता वर्तती है, उसकी अपेक्षा एकान्त वन में वास करके साधना करनेवाले मुनिराज को अतीन्द्रिय आनन्द की जननी स्वरूपलीनता बहुत बढ़ गई होती है। श्रीमद् ने भावना भायी है न! —

एकाकी विचरूंगा कब श्मशान में,
अरु पर्वत में बाघ सिंह संयोग जो;
अडोल आसन अरु मन में नहीं क्षोभ हो,
परम मित्र का मानो पाया योग जो ॥अपूर्व. ॥

ज्ञानी को लक्ष्मी या पुत्र-परिवार में वृद्धि की भावना नहीं होती; अन्तर में स्वभाव

के आश्रय से आनन्द का सागर उछल पड़े ऐसी भावना ही होती है और उसके लिए ज्ञानी मुनिराज को स्वभाव में सतत् लीनता वर्तती है, दिन-रात रोम-रोम में एक शुद्ध ज्ञायकभाव ही रम रहा है। अरे! जागृत हुआ आत्मा निद्रावस्था में भी जागृत वर्तता है। अहा! ऐसी अद्भुत है मुनिराज की दशा!

बहिन की इस 'वचनामृत' पुस्तक में से मुनिदशा से सम्बन्धित बोलों का संग्रह करके 'धन्य मुनिदशा!' नाम की एक पुस्तिका प्रकाशित की गई है। जगत् में धन्य दशा कौनसी है? स्वर्ग की दशा, चक्रवर्ती की पदवी या लक्ष्मीपति की दशा क्या धन्य है? - यह दशाएँ धन्य नहीं हैं भाई! यह तो सब जड़ के संयोग हैं, उनकी स्थिति कितनी? सम्यक्त्वी को भले ही वह चक्रवर्ती के वैभव में पड़ा हो तथापि अन्तर में तो 'सदननिवासी तदपि उदासी, तातैं आस्रव छटाछटी' इस न्याय से राग से भिन्नता की भावना ही सदा वर्तती है, और दिन-रात रोम में जहाँ एक शुद्ध आत्मा ही रम रहा है - ऐसी मुनिदशा हम कब प्राप्त करेंगे उसका मनोरथ भी वर्तता रहता है। मुनिराज को तो रोम-रोम में आनन्द-आनन्द वर्तता है - एक शुद्ध ज्ञायकभाव ही रम रहा है।

शरीर है किन्तु शरीर की कोई चिन्ता नहीं है, देहातीत जैसी दशा है।

अशरीरी ज्ञायक भगवान आत्मा की जिन्हें दृष्टि, ज्ञान और रमणता वर्त रही है ऐसे निर्ग्रन्थ मुनिराज को 'मात्र देह वह संयम हेतु हो भला' - संयम में निमित्तभूत शरीर है, किन्तु शरीर की भी चिन्ता नहीं है, शरीरातीत जैसी दशा हो गई है। ऐसी साधनामग्न दशा की भावना सम्यक्त्वी को होती है। श्रावक को भी संयम का मनोरथ होता है। श्रीमद् ने भी दिगम्बर दशा की भावना भायी है न!

नग्नभाव मुंडभाव सह अस्नानता,
अदंतधोवन आदि परम प्रसिद्ध जो;
केश रोम नख के अंगे शृङ्गार नहि,
द्रव्य-भाव संयममय निर्ग्रन्थ सिद्ध जो ॥.... अपूर्व ॥

अहा! मुनिराज को शरीर है, किन्तु शरीर की कोई परवाह नहीं है, एक निजात्मसाधना के सिवा उन्हें कुछ नहीं चाहिए। संघ, शिष्य या संस्था की तो नहीं, किन्तु कथञ्चित्

संयम के हेतुभूत ऐसे शरीर की भी कोई परवाह नहीं है। 'शरीर होने पर भी शरीरातीत दशा वर्तती है।' - ऐसी सहजदशा हो गई है।

उत्सर्ग एवं अपवाद की मैत्रीपूर्वक रहनेवाले हैं।

मुनिराज निश्चय और व्यवहार के सुमेल पूर्वक साधना साधते हैं। उत्सर्ग अर्थात् आनन्दमय निर्विकल्प शुद्धि में रहना और अपवाद अर्थात् आनन्दमय निर्विकल्प शुद्धि में विशेष स्थिर नहीं रह सकते, इसलिए किञ्चित् व्यवहार-रत्नत्रय के विकल्प में आना होता है। अट्टाईस मूलगुणरूप विकल्प में आने पर भी उस काल में ध्येय तो उत्सर्ग में-आनन्दमय उग्र शुद्ध परिणति में ही जाने का है। अन्तर में-उत्सर्ग में जाने की वे हठ नहीं करते तथा शिथिलता करके बाह्य में-अपवाद में-व्यवहार में रहने का भाव नहीं करते। उनकी भावना सहजरूप से उत्सर्ग एवं अपवाद की मैत्रीपूर्वक वर्तती रहती है। अन्तर के आनन्द में सहजरूप से रमते रहनेवाले मुनिराज अन्दर में जब विशेष नहीं रह सकते तब हठ के बिना सहजरूप से भूमिकानुसार शुभभाव में आते हैं किन्तु शुभभाव में रहना है - ऐसा ध्येय नहीं है। अहा! ऐसा वीतराग का मार्ग है।

आत्मा का पोषण करके निज स्वभावभावों को पुष्ट करते हुए विभावभावों का शोषण करते हैं।

ज्ञायकस्वभाव का उग्र आश्रय लेकर आनन्द और शान्ति की वृद्धि करना ही 'आत्मा का पोषण' है। मुनिराज आत्मा का आनन्द और शान्तिमय पोषण करके दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, ध्यानादि साधना की निर्मल शुद्धि को-निजस्वभावभावों को पुष्ट करते हुए राग-द्वेष, प्रमाद, कषायादि विभावों का शोषण करते हैं। पोषण और शोषण करते हैं, परन्तु किसका? स्वभाव का-निर्मल शुद्धियों का पोषण और विभाव को शोषण अर्थात् नाश करते हैं। विकृत दशाओं का नाश और अविकृत दशाओं की शुद्धि की वृद्धि होती जाती है।

जिस प्रकार माता का पल्ला पकड़कर चलता हुआ बालक कुछ अड़चन दिखने पर अधिक जोर से पल्ला पकड़ लेता है, उसी प्रकार मुनि परीषह-उपसर्ग आने पर प्रबल पुरुषार्थपूर्वक निजात्मद्रव्य को पकड़ लेते हैं।

माता की साड़ी का पल्ला पकड़कर चलता हुआ बालक, कोई भौंकता हुआ कुत्ता निकट आ जाए अथवा दूसरी कोई कठिनाई आए तो पकड़े हुए पल्ले को अधिक जोर से पकड़ लेता है; उसी प्रकार मुनिराज परीषह या उपसर्ग में-प्रतिकूलता के संयोगों के समय में यद्यपि कोई वस्तु प्रतिकूल है ही नहीं परन्तु दुनिया उन्हें प्रतिकूल कहती है इस अपेक्षा से बात कही है, वास्तव में तो वे मात्र ज्ञेय हैं - साँप, बिच्छु तथा चलते हुए मनुष्यों को भी उड़ा दे ऐसी भयङ्कर आँधी आदि प्रतिकूल संयोगों के आने पर स्वसन्मुखता के प्रबल पुरुषार्थपूर्वक निज शुद्धात्मद्रव्य का अवलम्बन लेकर प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते रहते हैं; भगवान् ज्ञायक का आश्रय विशेष उग्रतापूर्वक लेकर अन्तर में उतर जाते हैं। अहा! धन्य वह दशा! वह दशा प्रगट करने पर ही उद्धार है! उसके बिना मुक्ति नहीं होती।

कामधेनु गाय को जब भी दुहें तब दूध देती है; उसी प्रकार मुनिराज का आत्मा कामधेनु गाय जैसा है कि जब भी वह अन्तर्मुख एकाग्र होते हैं तब अन्तर से अतीन्द्रिय आनन्द झरता है, क्योंकि चाहे जैसी प्रतिकूलता के समय भी वे प्रबल पुरुषार्थपूर्वक निजात्मक द्रव्य से चिपटते हैं; उनको पञ्चम काल, दुर्बल संहनन, सेवकों का अभाव आदि कुछ भी बाधक नहीं होते। अहा! —

चलो सखी तहँ जाइये, जहाँ न अपना कोई,
खावें जन्तु शरीर को, मरें न रोवे कोई॥

शरीर का अन्त हो जाए तो वहाँ कोई रोनेवाला न हो। कोई अपना न हो। किसी पर्वत की गुफा में अन्तर आनन्द में लीन होकर पड़े हों, देखो! ऐसा मुनिपना वह एक वस्तुस्थिति है। ऐसी दशा प्रगट करनी होगी प्रभु! इसके बिना मुक्ति नहीं है भाई! मात्र सम्यग्दर्शन और ज्ञान से मुक्ति नहीं होती। श्रावक के तीन मनोरथ होते हैं - कब परिग्रह छोड़ूँ? कब मुनिदशा धारण करूँ? और कब समाधिमरण हो? मुनिराज परीषह और उपसर्ग आने पर, प्रचुर अन्तरङ्ग पुरुषार्थपूर्वक निज ज्ञायकभाव का आलम्बन लेते हैं।

‘ऐसी पवित्र मुनिदशा कब प्राप्त करेंगे!’ ऐसा मनोरथ सम्यग्दृष्टि को वर्तता है॥

धर्मीजीव को —

कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ मैं ?
 सर्व सम्बन्ध का बन्धन तीक्ष्ण छेदकर,
 कब विचरूँगा महत् पुरुष के पन्थ पर ?
 अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा ?

— ऐसी पवित्र मुनिदशा अन्तर से प्रगट करने का मनोरथ वर्तता है ।

(वचनामृत प्रवचन, भाग-4, पृष्ठ-101)

दुःख के कारणों से दूर हट जा

भाई! तेरे दुःख की कथा तो इतनी बड़ी है कि उसे पूर्णतः केवली भगवान ही जानते हैं; कथन में तो अल्प ही आता है। मिथ्यात्वादि कैसे भाव तुमने सेये और उनके सेवन से तुम कैसे दुःखी हुए? — यह बात सुनो! सुनकर अब उनका सेवन छोड़ दो। तुमको किसी दूसरे ने नहीं रुलाया, किन्तु अपने मिथ्यात्वभाव से ही तुम रुले और दुःखी हुए। मिथ्यात्व और राग-द्वेष, दुःख के कारण हैं। राग, अशुभ हो या शुभ, दोनों में दुःख है। शुभ से भले स्वर्ग मिले, किन्तु वह भी दुःख है। शुभराग से स्वर्ग मिल जाए, किन्तु कहीं भी शुभराग से आत्मा नहीं मिल सकता अथवा आत्मा के सम्यग्दर्शनादि कोई गुण, शुभराग से नहीं मिलते। राग तो स्वयं दोष है, उसके द्वारा गुण की प्राप्ति कैसे हो? कभी नहीं होती। मिथ्यात्व और राग, स्वयं ही दुःख है, उसका फल भी दुःख है, तब फिर वह मोक्षसुख का कारण कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता, किन्तु अज्ञानी उसको सुख का कारण समझ रहा है। जो वीतराग-विज्ञान है, वह सुख है; जो राग-द्वेष-अज्ञान है, वह दुःख है — ऐसा जानकर, हे जीव! दुःख के कारणों से तू दूर हट जा और सुख के लिये वीतराग-विज्ञान को प्रकट कर।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, छहढाला प्रवचन

मुनिराज : धर्म के रक्षक चिन्तामणि

जिनेन्द्र भगवन्तों ने स्वाधीन-आत्मवश सुन्दर मोक्षमार्ग दिखलाया है। हे जीव! महाभाग्य से ऐसे सुन्दर मार्ग को प्राप्त करके, तू अपने परम आनन्दमय परमात्मतत्त्व को भज। वाह रे वाह! आत्मा! तेरा मार्ग भी तेरे अन्तर में भी समाहित होता है। जहाँ वाणी नहीं पहुँच सकती, जिसमें विकल्प का प्रवेश नहीं है – ऐसा निरालम्बी स्वाश्रितमार्ग है। नमस्कार हो ऐसे स्वाश्रित सुन्दर मार्ग को और उस मार्ग को प्रसिद्ध करनेवाले वीतरागी सन्तों को।

धर्मात्मा जीव, परम जिनमार्ग के आचरण में कुशल हैं। जिनमार्ग कैसा है? आत्मवश है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र आत्मवश है / स्ववश है; इसलिए शुद्धात्मा में अन्तर्मुखता से ही वह प्रगट होता है; उसमें कहीं दूसरे की शरण नहीं है, दूसरे का आश्रय नहीं है। निज परम शुद्धात्मतत्त्व में अन्तर्मुखतारूप स्ववशपना, वह धर्मात्मा का परम आवश्यक कार्य है। वही निर्वाण का मार्ग है। अहो! अशरीरी होने का मार्ग, वीतरागी सन्तों ने जगत् में प्रसिद्ध किया है।

सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि अहो भव्यजीवों! आत्मा के आधीन – ऐसे मोक्षमार्गरूप शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह नियम से करने योग्य सारभूत कर्तव्य है। मोक्ष के लिए तुम ऐसे शुद्ध रत्नत्रयमार्ग की आराधना करो और दूसरे अन्यवश / पराश्रितभावों का परित्याग करो। अशरीरी होने का यह अफर उपाय है।

अरे! पूर्ण स्वाधीनतारूप मोक्ष, उसका उपाय क्या पर के आश्रित हो सकता है?

पर के आश्रय से तो पराधीनता होती है, स्वाधीनता तो स्वद्रव्य के आश्रय से ही होगी; इसलिए हे भाई! जिनशासन में भगवान के द्वारा कथित ऐसे स्वाश्रितमार्ग को पहचान और उससे विपरीत अन्य समस्त पराश्रितभावों की श्रद्धा छोड़। राग भले ही शुभ हो, तो भी वह पराश्रितभाव है। आत्मस्वभाव के अवलम्बन से राग की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए कहते हैं कि अहो! जिननाथ के मार्ग में स्वाधीन / आत्मवश ऐसे वीतरागभाव से ही जीव शोभता है। सम्यग्दर्शनादि वीतरागभाव से रहित जीव, जिनमार्ग में सुशोभित नहीं होता। पर के आश्रय से कल्याण माननेवाले जीव तो परवश हैं, वे परवश जीव तो नौकर के समान हैं; वे स्वाधीन जिनमार्ग में सुशोभित नहीं होते हैं।

मोक्ष का मार्ग तो पर की अपेक्षारहित, अत्यन्त निरपेक्ष, सम्पूर्ण अन्तर्मुख है, शुद्धद्रव्य के आश्रय से ही आनन्दमय मोक्षमार्ग है। हे जीव! तू ऐसे सम्यक् मोक्षमार्ग का स्वरूप निर्धारित करके, तुरन्त ही स्वद्रव्य में अन्तर्मुख हो.... और स्वद्रव्य की अनुभूति कर। मोक्षमार्ग, अर्थात् स्वद्रव्य की अनुभूति; स्वद्रव्य की अनुभूति तो स्वद्रव्य के आश्रय से ही होती है न? क्या कहीं पर के आश्रय से स्वद्रव्य की अनुभूति होती है? स्वाश्रित स्वात्मलब्धिरूप ऐसा मोक्षमार्ग, तीर्थङ्करों ने साधा है और वीतराग सन्तों ने परमागम में वह मार्ग प्रसिद्ध किया है। आज भी धर्मी के अन्तरङ्ग में वह मार्ग जयवन्त वर्तता है और ऐसा जीव, धर्मात्मा सन्तों की मण्डली में सुशोभित होता है।

वाह! मेरा आत्मा ही अपने अनन्त स्वभाव से पूर्ण सामर्थ्यवाला है। उसके अनुभव से ही मुक्ति का परम आनन्द सधता है। इस प्रकार स्वद्रव्य के सन्मुख झुककर, जिसने अपनी आत्मा में पूर्णता देखी है, वह अपने अतिरिक्त दूसरों का सहारा क्यों लेगा? जो दूसरे के आश्रित मोक्ष का साधन करना चाहता है, उसने अपने पूर्ण स्वभाव को जाना ही नहीं है। अपने पूर्ण स्वभाव को जो जानता है, वह दूसरे से भीख नहीं माँगता, राग में मोक्षमार्ग नहीं मानता। शुद्ध आनन्द की उपलब्धिरूप मोक्ष का उपाय, शुद्ध आत्मा के अवलम्बन से ही है। इस प्रकार स्वाश्रित जिनमार्ग को पाकर हे जीव! हे भव्य शार्दूल! तू शीघ्र अपनी मति को निज आत्मा में जोड़। धर्मात्माओं की मोक्षमण्डली में तो ऐसे स्ववश धर्मात्मा ही सुशोभित होते हैं, परवश गुलाम उसमें सुशोभित नहीं होते। अहो! ऐसा अलौकिक जिनमार्ग! उसकी प्राप्ति से धर्मात्मा सुशोभित होता है।

अवश, अर्थात् जो अन्य के वश नहीं है, आत्मा के ही वश है; वह जीव, मोक्ष की आवश्यक क्रिया करनेवाला है। चैतन्यतत्त्व में स्वाधीन दृष्टि करते ही अनन्त भव का अभाव हो गया है और फिर उसमें लीन होने पर तो साक्षात् अशरीरीपना होता है।

शुद्धोपयोग से आत्मा स्वयं धर्म हुआ, धर्म होने पर आत्मा में सर्वत्र आनन्दरस व्याप्त हो गया। ऐसी अपूर्व स्वाधीन शुद्धदशा, शुद्धोपयोग से ही होती है, इसके अतिरिक्त रागादि किसी भी भाव से ऐसी दशा नहीं होती। ऐसी दशा होते ही देहातीत चैतन्यभाव यहीं अनुभव में आता है और उसके फल में देहातीत-अशरीरी सिद्धदशा प्रगट होती है। धर्मात्मा कहते हैं अहो! निज आत्मा के आश्रय से ऐसा परम निर्माण मार्ग प्रगट करके मैं आत्मा का कोई अद्भुत निर्विकल्प आनन्द का अनुभव करता हूँ।

देखो, यह धर्मी के आवश्यक का अलौकिक वर्णन! जो आत्मा के अतिरिक्त दूसरे किसी के आधीन नहीं हैं, वह अवश है। ऐसे जीव का जो स्वाश्रित कार्य है, वह मोक्ष के लिए आवश्यक है। इसी युक्ति से और इसी उपाय से अशरीरी हुआ जाता है।

अहो! जो कार्य स्वाश्रय से होता है, जिसमें पर का आश्रय नहीं होता, वह तो शुद्धभाव ही होता है। स्वाश्रय से राग की उत्पत्ति नहीं होती। शुभराग भी आत्मा के आश्रय से नहीं होता, वह भी पर के आश्रय से होता है। इसलिए वह परवशभाव है, वह मोक्ष का उपाय नहीं है; मोक्ष का उपाय तो आत्मा के आश्रय से होनेवाला शुद्धभावरूप कार्य ही है, उससे ही जीव अवयवरहित, अर्थात् शरीररहित सिद्धदशा को प्राप्त करता है।

देखो, यह समयसार तो अशरीरी चैतन्यभाव से भरपूर है। आत्मा के चिदानन्दस्वभाव के आश्रय से जो कोई सम्यक्त्वादि भाव प्रगट हुए हैं, वे सभी अतीन्द्रिय अशरीरी हैं। जो जीव, स्वहित में लीन होता है, वह अपने शुद्ध जीवास्तिकाय के अतिरिक्त दूसरों के वश नहीं होता, शुभराग के वश भी नहीं होता; पुण्य के वश भी नहीं होता; संयोग के वश भी नहीं होता। अरे! बहिर्मुखवृत्ति में तो परवशता है और पराधीनता में सुख कैसे हो सकता है? स्वाधीन चैतन्यतत्त्व स्वयं अपने में ही पूरा है। उसमें अन्तर्मुखवृत्ति को जगत् में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है; उसमें अतीन्द्रिय स्वाधीन सुख है और वही शरीररहित होने की युक्ति है, वही मोक्ष का उपाय है।

अरे! मोक्ष के लिए यह काम करने जैसा है। एक बार यह निर्णय तो करो! ऐसा निर्णय करते ही परभावों से भिन्न पड़कर अन्तर के चैतन्य स्वभाव में उपयोग लग जाता है और स्वाधीन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप कार्य प्रगट होता है, वही मोक्ष के लिए आवश्यक कार्य है, वही मुमुक्षु को नियम से करने योग्य कार्य है।

भाई! मोक्ष के लिए आवश्यक कार्य तो तेरे चैतन्य के असंख्य प्रदेशों में ही होता है, अन्यत्र कहीं नहीं होता; इसलिए वह तेरा स्ववश कार्य है, वह अन्यवश नहीं है। सम्यग्दर्शन भी तेरे असंख्य प्रदेशी चैतन्य में होता है। अतीन्द्रिय आनन्द उसी में व्याप्त है। कहने के लिए शब्द कम किन्तु अन्दर में जिसके गुणों की महिमा का कोई पार नहीं है, अनन्त गुणों का मधुर चैतन्यरस तुझमें भरा है, इसका स्वाद ले - वही अशरीरी होने की रीति है। इस उपाय से अवश्य सिद्ध हुआ जाता है।

अशुभराग तो अन्यवश है ही, शुभराग भी अन्यवश है। अशुभ में वर्तनेवाले को तो 'आवश्यक' नहीं है परन्तु शुभराग में भी मोक्ष के लिए आवश्यक कार्य नहीं है, वह शुभराग तो मोक्षकार्य से विरुद्ध है। मोक्ष के लिए आवश्यक कार्य तो शुद्धभाव ही है। वही आत्मवशभाव है। अरे! क्या मोक्ष का कार्य रागवाला हो सकता है? अन्य के वश वर्तनेवाला तो नौकर कहलाता है। क्या वह नौकर शोभता है? जिनमार्ग तो स्वाधीन स्ववशभाव से ही शोभता है, उसमें अन्यवशपना नहीं शोभता।

जिनमार्ग में स्ववश योगी ही वीतरागरत्नत्रय द्वारा सुशोभित होते हैं। चौथे गुणस्थान में जो सम्यक्त्वादि शुद्धभाव है, उतना तो रागरहित स्ववशपना है, वह जिनमार्ग में शोभाता है; राग से जिनमार्ग में शोभा नहीं है, वीतराग भाव द्वारा ही शोभा है। वही जिनमार्ग है, वही मोक्ष का उपाय है और वही धर्मात्मा की आवश्यक क्रिया है।

जिनमार्ग में रत्नत्रयरूप वीतराग कार्य करनेवाले मुनिवर सुकृती हैं। सम्यग्दृष्टि को भी सुकृती कहते हैं। सुकृत, अर्थात् उत्तम कृत्य; जिसने सम्यग्दर्शनरूपी उत्तम कार्य किया है, वह धर्मात्मा सुकृती है। अभी इस कलिकाल में भी कोई विरले सुकृती जीव, सम्यग्दर्शनादि सहित देखने में आते हैं।

सम्यग्दर्शन, वह सद्धर्म की रक्षा करनेवाली मणि है। जहाँ सम्यग्दर्शन है, वहाँ

कैसी भी आपत्ति के मध्य भी जीव के धर्म की रक्षा होती है। संसार की सर्व आपत्तियों से रक्षा करनेवाला सम्यग्दर्शन, रक्षामणि के समान है और ऐसे सम्यग्दर्शन के उपरान्त जिन्हें मुनिदशा हुई, उनकी तो बात ही क्या है ? ऐसे मुनिभगवन्त तो धर्म के रक्षक हैं, वे राग के रक्षक नहीं; अपितु वीतरागभावरूप सत्धर्म के रक्षक हैं, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के रक्षक हैं। सम्यग्दृष्टि भी सत्धर्म के रक्षक और पोषक हैं, वे राग के रक्षक अथवा पोषक नहीं हैं।

अहो ! मुनियों की तो क्या बात ! वे तो स्ववश हैं और जिनेन्द्र भगवान से किञ्चित् ही न्यून हैं। वे स्वयं धर्म के रक्षक चैतन्यमणि हैं। जगत् में ऐसी मणि होती है कि जिसके हाथ में वह मणि हो, उसे सर्पादिक का जहर नहीं चढ़ता और बाहर की कोई भी आपत्ति नहीं आती। इसी प्रकार आत्मा में स्ववशपना, वह ऐसी मणि है कि जिसके पास वह चैतन्यमणि हो तो उसे मिथ्यात्वादि जहर नहीं चढ़ता और उसके सम्यग्दर्शनादि की रक्षा होती है, अर्थात् उसे संसार की कोई आपत्ति नहीं आती।

मुनिराज स्वयं वीतरागमूर्ति हैं और बारम्बार वीतरागस्वरूप का उपदेश देते हैं। मुनि अथवा समकित्ता का उपदेश, राग का पोषक नहीं हो सकता; वीतरागस्वरूप आत्मा बतलाकर उसकी श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रतारूप धर्म की रक्षा करनेवाले धर्मात्मा हैं। ऐसे धर्मात्मा, आत्मा के आधीनरूप आवश्यक क्रिया करनेवाले हैं। वह आवश्यक, अशरीरी सिद्धदशा का कारण है। अशरीरी होने का ऐसा सुन्दर मार्ग, वीतरागी सन्तों ने जिनमार्ग में प्रसिद्ध किया है।

स्वाधीन चैतन्य में से प्रगट हुआ जो आत्मा का सुख, वह धर्मी जीवों को प्राणों से भी प्यारा है। उस चैतन्य सुख के समक्ष जगत् में उसे कोई अन्य प्रिय नहीं है। अहा ! चैतन्य के स्वभाव में अन्तर्मुख होकर प्रगट हुई सम्यक्त्वादि अपूर्व आनन्दमय वीतरागी दशा ही हमें प्राणप्यारी है, वही हमारी सर्वाधिक प्रिय वस्तु है। अहा ! हमारे ऐसे आनन्द के समक्ष लोक प्रशंसा की क्या कीमत है ? अरे ! सौ इन्द्र और तीन जगत् के जीव प्रशंसा करें तो भी जिस सुख का माप नहीं हो सकता - ऐसा वचनातीत अतीन्द्रिय आत्मिक -सुख हमारे आत्मा में वेदन में आता है। हमारे इस आत्मरस के समक्ष सम्पूर्ण जगत् का

रस फीका है; इसमें कहीं किञ्चित् भी सुख भासित नहीं होता।

देखो तो सही, यह धर्मात्मा की निर्मलपरिणति! आत्मा में सर्वथा अन्तर्मुख ऐसी परिणति ही मोक्षमार्ग है। ऐसे मार्गरूप परिणमित होकर वीतरागमार्गी सन्तों ने परमागमों में वह मार्ग प्रसिद्ध किया है। ऐसे स्वाधीन मार्ग का निर्णय करने से मोक्ष का द्वार खुल जाता है।

मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र यह तीनों कार्य, आनन्ददायक हैं। इनके द्वारा आनन्दसहित मोक्ष सधता है। अहो! अतीन्द्रिय सुख के साधनरूप यह श्रेष्ठ-सुन्दर रत्नत्रय कार्य ही मोक्षार्थी जीव का मोक्ष के लिए आवश्यक कार्य है। यही मोक्ष पाने की युक्ति है, यही जिनेश्वरों का मार्ग है। ऐसे सुन्दर मार्ग को सन्त साधते हैं और जगत को दिखाते हैं।

हे जीव! महा भाग्य से इस मार्ग को प्राप्त करके तू अन्तर्मुखपने अपने परम आनन्दमय परमात्मतत्त्व को भज!

वाह रे वाह! आत्मा! तेरा मार्ग तेरे अन्तर में ही समाहित होता है। जहाँ वाणी का प्रवेश नहीं है, विकल्प का जहाँ प्रवेश नहीं है - ऐसा निरालम्बी स्वाश्रितमार्ग है। नमस्कार हो ऐसे स्वाश्रित सुन्दर मार्ग को और उस मार्ग को प्रसिद्ध करनेवाले वीतरागी सन्तों को।

[आत्मधर्म (गुजराती), अक्टूबर 1973]

प्रचुर स्वसंवेदन ही मुनि का भावलिङ्ग

अहा! मुनिदशा कैसी होती है? उसका विचार तो करो! छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले वे मुनि, स्वरूप में गुप्त हो गये होते हैं। प्रचुर स्वसंवेदन ही मुनि का भावलिङ्ग है और शरीर की नग्नता-वस्त्रपात्ररहित निर्ग्रन्थदशा, वह उनका द्रव्यलिङ्ग है। उनको अपवाद -व्रतादि का शुभराग आता है, किन्तु वस्त्रग्रहण का अथवा अधःकर्म तथा औद्देशिक आहार लेने का भाव नहीं होता। — जिणसासणं सव्वं, २१४, पृष्ठ १३०

वीतरागी सन्तों की अन्तर पुकार आत्म-सम्पदा की प्राप्ति ही हमारा विषय

नियमसार के परम-समाधि अधिकार में १२२ वीं गाथा की टीका में मुनिवर श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने (२०० वे श्लोक में) जो बात कही है, वह बात यहाँ ली है। वहाँ मुनिराज ने कहा है कि —

‘किसी ऐसी (अवर्णनीय, परम) समाधि द्वारा उत्तम आत्माओं के हृदय में स्फुरती, समता की अनुयायिनी सहज आत्मसम्पदा को जब तक हम नहीं अनुभवते, तब तक हमारे जैसों का जो विषय है, उसे हम नहीं अनुभवते।’

मुनिराज कहते हैं — चैतन्यपदार्थ पूर्णता से भरा है। उसके अन्दर जाना और आत्म सम्पदा की प्राप्ति करना, वही हमारा विषय है।

भगवान् चैतन्यदेव ज्ञानानन्द की पूर्णता से भरा हुआ अद्भुत ज्ञायक पदार्थ है। उसमें राग तो नहीं है किन्तु अपूर्णता भी नहीं है। उस ज्ञायक आत्मा के अन्दर जाना और अतीन्द्रिय आनन्दमय आत्मसम्पदा की प्राप्ति करना वही हमारा-मुनियों का विषय है। व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग भी हमारा विषय नहीं है, क्योंकि वह शुभभाव आस्रव है, बन्ध का कारण है। चैतन्यप्रभु अन्तर में महासम्पदा से भरपूर है। रुपया, हीरा-मोती तो आत्मा की सम्पदा नहीं है किन्तु पुण्य भी सम्पदा नहीं है; वह तो विपदा-आपदा है। मुनिराज कहते हैं — पञ्च महाव्रत पालना वह हमारा विषय नहीं है, अन्तर में आनन्दस्वरूप में स्थिर हो जाना वह हमारा विषय है — हमारा कर्तव्य है।

चैतन्य में स्थिर होकर अपूर्वता की प्राप्ति नहीं की, अवर्णनीय समाधि प्राप्त नहीं की, तो हमारा जो विषय है, वह हमने प्रगट नहीं किया।

अहाहा! पूर्णानन्द प्रभु में लीन होकर पूर्वकाल में कभी नहीं की ऐसी अपूर्व शान्ति तथा जिसका कथन न हो सके ऐसी कोई अद्भुत समाधि यदि हमने प्राप्त नहीं की तो हमें जो करना था, वह हमने नहीं किया। सङ्कल्प-विकल्पस्वरूप आधि, शरीर के रोग स्वरूप व्याधि और बाह्य में स्त्री-पुत्र तथा व्यवहार-धन्धारूप उपाधि से रहित वीतराग शान्तदशा सो समाधि है; साधु-बाबा लगाते हैं वह समाधि नहीं है — ऐसा मार्ग है।

जिनको तीन कषायों का अभाव हो गया है और अन्तर में निज पूर्णानन्द प्रभु का विशेष अनुभव हो गया है तथापि यदि पर्याय में पूर्णता प्राप्त नहीं की तो वे मुनिराज कहते हैं कि हमने अपना विषय-अपूर्व समाधि प्रगट नहीं की।

बाहर में उपयोग आता है तब द्रव्य-गुण-पर्याय के विचारों में रुकना होता है किन्तु वास्तव में वह हमारा विषय नहीं है।

मुनि को बाह्य में विकल्प आते हैं, द्रव्य-गुण-पर्याय में विचार रुकते हैं, वह भी आवश्यक नहीं है। नियमसार की १४५ वीं गाथा में कहा है —

**जे चित्त जोड़े द्रव्य-गुण-पर्याय की चिन्ता विषे,
तेने य मोहविहीन श्रमणो अन्यवश भाखे अरे!**

जो तपोधन निज ज्ञायकतत्त्व में चित्त नहीं लगाता और द्रव्य, गुण तथा पर्यायों में मन को रोक रखता है उसे भी, वह पर विकल्पों के वश होता है इसी कारण, अन्यवश कहा जाता है। पञ्च महाव्रत पालन का तथा व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प तो नहीं, किन्तु द्रव्य-गुण-पर्याय के विचार तक, मुनि कहते हैं, हजारों विषय नहीं है। आता है कुछ समझ में? अहा! कठिन बात कहना और पूछना कि — 'आता है कुछ समझ में?' किन्तु बात तो ऐसी है भाई!

अरे! यह शरीर तो छूट जाएगा भाई! कहाँ डेरा लगेगा? अन्तर में अपने ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं की और राग के प्रेम में रुक गया तो चौरासी के अवतारों में परिभ्रमण करेगा; क्योंकि आत्मा तो अनन्तकाल रहनेवाला है। यह शरीर तो छूट जायेगा, फिर कहाँ रहेगा?

जिसे राग का रस है, वह तो मिथ्यात्व में-परिभ्रमण में रहेगा और जिसे आत्मा का रस है, वह सादि-अनन्तकाल आत्मा में-सुख में रहेगा।

स्त्री, पुत्र, पैसा और व्यापार-धन्धे के विकल्प करना वह तो पाप है परन्तु अन्तर में द्रव्य अर्थात् त्रैकालिक वस्तु, गुण अर्थात् त्रैकालिक स्वभाव और पर्याय अर्थात् वर्तमान दशा - ऐसे विचार आयें वह भी शुभभाव है। त्रैकालिक एकरूप ज्ञायक प्रभु की अन्तर्दृष्टि करके स्थिर होना, सो धर्म है परन्तु उसमें स्थिर न हो सके और द्रव्य-गुण-पर्याय के विकल्पों में रुकना हो वह राग है; वास्तव में वह हमारा विषय नहीं है, अपने सहज ज्ञायकस्वरूप में रहना-रमना, वह हमारा विषय है, कर्तव्य है।;

आत्मा में नवीनताओं का भण्डार है।

नवीन-नवीन आनन्द, शान्ति, समाधि आदि अनन्त नवीनताओं का आत्मा में भण्डार है। पुण्य-पाप के भाव वह कोई नवीन नहीं है; वे तो अनादिकाल से करता आया है; वे तो क्लेशरूप भाव हैं। मुनिराज कहते हैं - हमारा विषय तो पूर्णानन्द ज्ञायक में रहना है; उसमें नहीं रह सके इसलिए बाहर द्रव्य-गुण-पर्याय के विचारों में परदेश में आ गये, जहाँ कोई हमारा नहीं है। हमारा अनन्तगुणों का परिवार अन्तर में है। हमें अपने स्वरूपस्वदेश में शीघ्रता से जाना है।

लोगों को बाह्यवस्तु में नवीनता लगती है। पच्चीस-पचास लाख रुपयों की आमदनी हो, पाँच-दस करोड़ की पूँजी हो, तब भी उसे सुख नहीं मिलता। यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा स्वयं ही अनन्त नवीनताओं-अचम्भों का भण्डार है; अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति, अनन्त आनन्दादि, जो कभी प्रगट नहीं हुई हैं - ऐसी अपूर्व समृद्धियों का अद्भुत भण्डार है। उसकी ओर दृष्टि करके उसमें लीन होने से पर्याय में जो अपूर्व शान्ति प्रगट होती है, वह धर्म है।

भेदज्ञान के अभ्यास द्वारा यदि वह नवीनता-अपूर्वता प्रगट नहीं की, तो मुनिपने में जो करना था वह हमने नहीं किया।

पर से तथा राग से भिन्न ऐसे निज ज्ञायक प्रभु का भेदज्ञान करके यदि वह नवीनता-अपूर्वता नहीं प्रगट की, अनन्त आनन्द में से उसका अंश बाह्य में न आया-

अनुभव में न आया, शान्ति के सागर का आश्रय लेकर पर्याय में अपूर्व शान्ति-वीतरागता न आयी, भेदज्ञान के गहन अभ्यास द्वारा अन्तर में अतीन्द्रिय अद्भुतता प्रगट नहीं हुई तो मुनिपने में हमें जो करना था वह हमने नहीं किया। मुनिपने में तो यही करना था। नियमसार के कलश में से बेन ने यह बात कही है।

अहा! मुनिपना किसे कहा जाता है? मुनिपना अर्थात् परमेष्ठिपद। मुनि तो अतीन्द्रिय आनन्द में केलि करते-करते, झूलते-झूलते केवलज्ञानपद प्राप्त करते हैं। नियमसार के टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि थे, आचार्य नहीं थे। श्री कुन्दकुन्द भगवान तथा अमृतचन्द्र आचार्यपद पर थे। श्री पद्मप्रभ मुनिराज टीका करते हुए कहते हैं कि हमारा विषय जो नवीनता-स्थिरता, शान्ति, आनन्द आदि में अपूर्वता, वह यदि हमने भेदज्ञान के तीक्ष्ण अभ्यास द्वारा प्रगट नहीं की, तो मुनिपने में हमें जो करना था, वह हमने नहीं किया। अन्तरस्वरूप में दृष्टि लगाकर आनन्द में स्थिर हो जाना, वह मुनिपने का कर्तव्य है। मुनिपने का जो कार्य है, वह हमने नहीं किया। अहाहा! भीतर स्वरूप में स्थिर हो जाना था - वह कार्य हमने नहीं किया, तो हमने कुछ नहीं किया।

(वचनमृत प्रवचन, 2/193)

.....आश्चर्य है!

भाई! सम्यग्दृष्टि के अन्तःस्तल की थाह लेना बहुत कठिन है। धर्मी जीव को चक्रवर्ती का राज्य हो, युद्ध में खड़े हों, परन्तु आत्मा के आनन्द से राग भिन्न हो गया है, रागादि परिग्रह में भेदबुद्धि हो गयी है, भले ही उसके विषय सामग्री हो, उसका भोग भी करते हों। सम्यग्दृष्टि को पुण्य विशेष होता है, पुण्य के ढेर होते हैं, स्त्री-पुत्रादि में, शरीर-वैभव में पुण्य के ढेर दिखायी देते हैं किन्तु सम्यग्दृष्टि को उनमें एकत्वबुद्धि छूट गयी है; चैतन्य का अतीन्द्रिय आनन्द उसे दृष्टिगोचर होता है। आनन्द का सागर उछल रहा है, आनन्द का ज्वार आता है - ऐसे सम्यग्दृष्टि को भोग-सामग्री में किञ्चित् आसक्ति दिखती है - होती है, तथापि अभिप्राय में उसका स्वीकार नहीं है, सुखबुद्धि नहीं है। भोग भुजङ्ग समान लगते हैं, काले नाग दिखते हैं।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

अपवादमार्ग और उत्सर्गमार्ग का स्वरूप

सुप्रसिद्ध दिगम्बर जैनाचार्य भगवानश्री कुन्दकुन्ददेव द्वारा रचित नियमसार परमागम की गाथा ६४ की टीका के आधार पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने मुनिदशा से सम्बन्धित अपवादमार्ग और उत्सर्गमार्ग का स्वरूप स्पष्ट किया है।

पोत्थइकमंडलाइं गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो ।
आदावणणिक्खेवणसमिदी होदि त्ति णिद्धिद्धा ॥

अर्थात् पुस्तक, कमण्डल आदि लेने-रखने सम्बन्धी प्रयत्न-परिणाम, वह आदान-निक्षेपणसमिति है — ऐसा कहा है।

अपहत संयमी अर्थात् अपवादी मुनि। अपवादी मुनि का अर्थ यह है कि जिन्हें छठवें गुणस्थान का शुभरागवाला भाव है अर्थात् जो छठवें गुणस्थान में हैं, जिन्हें विकल्प उत्पन्न हुआ है, वे अपवादी मुनि हैं। यद्यपि उन्हें निश्चय सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानपूर्वक स्वरूप का अनुभव है तथा तीन कषाय-चौकड़ी का अभाव भी है परन्तु संयम के दो प्रकार करने पर उन्हें छठवें गुणस्थान के योग्य शुभराग उत्पन्न हुआ है; इसलिए तीन कषाय-चौकड़ी का अभाव होने पर भी अभी शुभराग होने से वे अपहत संयमी या अपवादी मुनि कहे जाते हैं। वे अभी व्यवहाररत्नत्रयधारक मुनि हैं।

अहा! मुनि को सम्यग्दर्शन अर्थात् पूर्ण आनन्दकन्द प्रभु आत्मा का अनुभव होकर सम्यक्प्रतीति हुई है और आत्मा का स्वसंवेदन ज्ञान भी हुआ है। तदुपरान्त छठवें गुणस्थान के योग्य स्वरूप की स्थिरता भी हुई है परन्तु उन्हें संज्वलन का विकल्प उत्पन्न

है कि 'यह ग्रहण करूँ और यह छोड़ूँ', इस वृत्तिवाले मुनि को अपवादी मुनि या व्यवहाररत्नत्रयधारक मुनि कहा है। यद्यपि उनको निश्चयसम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो है परन्तु शुद्धोपयोग नहीं है; इसीलिए रागवाले उन मुनि को व्यवहारी मुनि कहा है। जिसे अन्तर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा नहीं है, उसे तो व्यवहारी मुनि भी नहीं कहते।

अहा! मुनिदशा की यह एक बात तो देखो! कितनी निर्मल स्पष्ट है! इसमें कहीं शङ्का-सन्देह की गुञ्जाइश नहीं है। जिन्होंने पूर्ण ज्ञानप्रकाश की मूर्ति ध्रुव चैतन्य भगवान् आत्मा को दृष्टि में जोड़कर अनुभव किया है और जिन्हें निर्विकल्प आनन्द का स्वाद आया है अर्थात् जिन्हें सम्यग्दर्शन हुआ है, सम्यक् स्वसंवेदन अर्थात् स्व का प्रत्यक्षज्ञान हुआ है और स्वरूप में तीन कषाय के अभाववाली स्थिरता भी है, उन्हें शुभविकल्प उत्पन्न होता है तो वे अपवादी साधु, व्यवहाररत्नत्रयधारक साधु कहलाते हैं।

प्रश्न - नग्न दिगम्बर द्रव्यलिङ्गी साधु व्यवहारी मुनि हैं या नहीं ?

उत्तर - नहीं! अरे वस्तुस्थिति ही ऐसी है, उसमें दूसरा क्या हो सकता है ?

यहाँ कहते हैं कि मुनि के योग्य शुद्धोपयोग अर्थात् सप्तम गुणस्थान में शुद्धोपयोगसहित मुनि को निश्चय साधु कहते हैं और जिन्हें अन्तर में निश्चयरत्नत्रय तो है परन्तु मुनि के योग्य (सप्तम गुणस्थान के योग्य) शुद्धोपयोग का अभाव है, उन्हें अपवादी मुनि या व्यवहाररत्नत्रयधारक मुनि कहते हैं क्योंकि शुभविकल्प अपवाद है और दोष है।

अपवादी मुनि को **एकदेश-परित्यागी** भी कहते हैं क्योंकि उन्हें अभी शुद्धोपयोग नहीं है। यद्यपि उनके राग की अशुद्धता अर्थात् अशुभराग का अभाव है परन्तु शुभराग का अभाव नहीं है और शुभराग आया है; इसलिए उनको **एकदेश-परित्यागी** मुनि कहते हैं; उन्हें अपहृत संयमी अर्थात् हीन-न्यूनतावाले संयमी कहा जाता है; इन्हें **सरागीचारित्रवाला** भी कहते हैं परन्तु ऐसे मुनि को कि जिन्हें छठवें गुणस्थान में ग्रहण-त्याग का शुभविकल्प उत्पन्न हुआ है यद्यपि उन्हें अन्दर में तीन कषाय के अभाववाला चारित्र तो है परन्तु वे शुद्धोपयोग में स्थिर नहीं हैं; इसलिए उन्हें **सरागचारित्रवाला** कहते हैं। वे सरागचारित्रवाले हैं; इसलिए उनको अकेला शुभराग ही है - ऐसा नहीं है।

प्रवचनसार की प्रथम पाँच गाथाओं में ऐसा कहा है कि आचार्य, उपाध्याय और मुनि परम शुद्धोपयोगी ही होते हैं अर्थात् उन्होंने परमशुद्धोपयोग को ग्रहण किया है परन्तु व्यवहार को ग्रहण नहीं किया, तथापि बीच में व्यवहार आ जाता है, वह **अपवादमार्ग** है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में भी ऐसा लिया है कि मुनि अर्थात् जिन्होंने शुद्धोपयोग ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त मुनि नाम धरा लेने से कोई मुनि नहीं हो जाता तथा कोई नग्न हुआ हो और अट्टाईस मूलगुणों का विकल्प हो तो भी मुनि नहीं है। वह व्यवहार से भी मुनि नहीं है, कारण कि व्यवहार मुनि तो उसे कहते हैं, जिसे अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का उग्र स्वाद आया हो।

उस उग्र स्वाद के लिए समयसार की पाँचवी गाथा में कहा है कि जिसे प्रचुर स्वसंवेदन प्रगट हुआ है। अहा! श्री समयसार की पाँचवी गाथा में श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि हमको प्रचुर स्वसंवेदन प्रगट हुआ है, वह हमारा निजवैभव है और उससे हम समयसार कहेंगे।

चतुर्थ गुणस्थान में आनन्द का संवेदन है; परन्तु प्रचुर नहीं। पाँचवें गुणस्थान में चौथे गुणस्थानवाले से विशेष आनन्द का संवेदन है और छठवें गुणस्थान में तो पाँचवें गुणस्थान से भी विशेष आनन्द का संवेदन है। वहाँ अतीन्द्रिय आनन्द की शक्ति में से पर्याय में अत्यधिक व्यक्तता/प्रगटता हुई है परन्तु वे मुनिराज अभी शुभोपयोग में हैं; इसलिए उन्हें सरागचारित्रवाला कहा गया है।

वे सरागचारित्रवाले हैं, इसलिए उन्हें अकेला शुभराग ही है – ऐसा नहीं है। उन्हें अन्तर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो है परन्तु अभी वे शुद्धोपयोग में नहीं हैं; इसलिए जो राग के विकल्पसहित हैं, उन्हें सरागचारित्रवाला कहा है; वे सरागचारित्रवाले '**शुभोपयोगी**' हैं। तात्पर्य यह है कि सरागचारित्रवाला कहो या शुभोपयोगी कहो, एक ही बात है क्योंकि ग्रहण-त्याग शुभराग है न! ऐसे शुभोपयोगी मुनि **सास्त्रवी** हैं, **अपवादी** हैं।

१. अपहतसंयमी मुनि, **अपवादी मुनि** हैं और उपेक्षासंयमी मुनि, **उत्सर्ग मुनि** हैं।

२. अपहतसंयमी छठवें गुणस्थान की भूमिका के विकल्पवाले **व्यवहारनयधारक**

मुनि हैं; जबकि यह उपेक्षासंयमी निश्चयनयधारक हैं। अहा! जिनका उपयोग अन्दर स्थिर हो गया है, जो शुद्धोपयोग में रमते हैं, उन्हें निश्चयनयात्मक साधु कहते हैं।

३. अपहृतसंयमी को छठवें गुणस्थान के शुभराग में अशुभराग का त्याग है परन्तु शुभराग का त्याग नहीं है अर्थात् उन्हें अभी राग का आंशिक त्याग है; इसलिए उन्हें एकदेश-परित्यागी मुनि कहा है। जबकि उपेक्षा संयमी को सर्व राग का त्याग है; इसलिए उन्हें सर्व-परित्यागी मुनि कहा है। वे तो शुभराग का भी त्याग करके शुद्धोपयोग में रमते हैं; इसलिए उन्हें सर्व-परित्यागी मुनि कहा है।

४. अपहृतसंयमी को अपहृत संयमवाला कहा जाता है; जबकि उपेक्षा संयमी को उपेक्षा संयमवाला कहा जाता है; उन्हें कोई अपेक्षा नहीं रही, सर्व से उपेक्षा हो गयी है। अरे! शुभराग की भी अपेक्षा नहीं रही; इसलिए उन्हें उपेक्षा संयम कहा है, जबकि छठवें गुणस्थान में राग की थोड़ी अपेक्षा रही है अर्थात् शुभराग रहा है; इसलिए वह उत्सर्गमार्ग नहीं है।

भाई! यह तो गजब बात है। सन्तों की कथनी गजब है। अहा! यह तो अनादि सनातन वीतराग पन्थ का प्रवाह है। इसमें कुछ भी फेरफार अथवा कम-ज्यादा करेगा तो मार्ग नहीं रहेगा — ऐसा अद्भुत मार्ग है।

५. अपहृतसंयमी को सरागचारित्रवाला और उपेक्षासंयमी को वीतरागचारित्रवाला कहा जाता है।

६. अपहृतसंयमी को शुभोपयोगी और उपेक्षासंयमी को शुद्धोपयोगी कहा जाता है।

प्रश्न - क्या मुनि को विकल्प आना अपवादमार्ग है ?

उत्तर - हाँ, भाई! वस्तुस्थिति ऐसी ही है।

१. मुनि को विकल्प आवे, वह अपवादमार्ग है और विकल्परहितदशा, उत्सर्गमार्ग है।

२. मुनि को विकल्प आवे, वह व्यवहारनय है और अन्दर स्थिरता हो, वह निश्चयनय है।

३. मुनि को विकल्प आवे, वह अपहृतसंयम है और अन्दर स्थिरता हो, वह उपेक्षासंयम है ।

४. मुनि को विकल्प आवे, वह शुभोपयोग है और अन्दर स्थिरता हो, वह शुद्धोपयोग है ।

५. मुनि को विकल्प आवे, वह एकदेश-परित्याग है और अन्दर स्थिरता हो, वह सर्वदेश-परित्याग है ।

अरे लोगों को पता भी नहीं है कि वीतरागमार्ग क्या है ? बस, वे तो जिस कुल में जन्में हों, वह मेरा धर्म - ऐसा मान लेते हैं । ●

(-प्रवचनरत्न चिन्तामणि, भाग-३, पृष्ठ १४२, १४४-१५३)

अपने हित को मत भूलना

भाई! संसार तो असार है । संसार की ओर ढलते हुए जितने अशुभ या शुभपरिणाम हैं, वे सब असार हैं । चैतन्यतत्त्व, राग से पार है, उसका बोध करके, उसके वेदन की जो शान्ति है, वह सारभूत है । हे जीव ! ज्ञान-वैराग्य की भावना उग्र करके तू ऐसे शान्तरस का पान कर । कदाचित् कोई दुःखद घटना हो गयी हो तो उस समय भी तीव्र वैराग्य द्वारा सारभूत चैतन्य की ऐसी भावना भाना कि जिससे तेरे रत्नत्रय की वृद्धि हो ।

प्रतिकूलता आने पर व्याकुल मत होना, परन्तु आराधना में उत्साह प्रगट करके, वैराग्यभावना में दृढ़ रहना; क्रोध की उत्पत्ति मत होने देना, अपूर्व शान्तरस में मग्न रहना... और दीक्षा आदि परमवैराग्य के प्रसङ्गों का स्मरण करके अपनी आत्मा को परम उल्लासपूर्वक रत्नत्रय की आराधना में लगाना । सारभूत चैतन्यभावों को जानकर असाररूप परभावों को छोड़ना । अरे, यह तो आराधना और समाधिमरण का अपूर्व अवसर है... वहाँ अपने हित को मत भूलना ।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग की मैत्री

परम पूज्य दिगम्बर जैनाचार्य कुन्दकुन्ददेव द्वारा रचित प्रवचनसार परमागम की गाथा २३०-२३१ की टीका के आधार पर मुनिदशा में अपवादमार्ग और उत्सर्गमार्ग की मैत्री का स्वरूप स्पष्ट किया है। जिसे पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने विशद् विवेचन द्वारा परिस्पष्ट किया है।

बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा ।

चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि ॥ २३० ॥

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं ।

जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ॥ २३१ ॥

अर्थात् बाल, वृद्ध, श्रान्त या ग्लान श्रमण, मूल का छेद जैसे न हो, उस प्रकार से अपने योग्य आचरण आचरो।

यदि श्रमण, आहार अथवा विहार में देश, काल, श्रम, क्षमता तथा उपधि, इनको जानकर प्रवर्ते तो वह अल्पलेपी होता है।

अब, उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री द्वारा आचरण के सुस्थितपने का उपदेश करते हैं -

आत्मा, ज्ञानस्वभावी है और शरीर, कर्म इत्यादि परज्ञेय हैं। आत्मा, उनकी अवस्था का स्वामी नहीं है। आत्मा की पर्याय में विकार होता है, वह अपना दोष है, वह स्वज्ञेय का अंश है और त्रिकाल चेतनस्वभाव है, वह भी स्वज्ञेय है। ऐसे ज्ञेयतत्त्व को जानने का

ज्ञान का स्वभाव है। उसका वर्णन पहले दो अधिकारों 'ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन' और 'ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन' में किया जा चुका है। उन दोनों अधिकारों द्वारा आत्मा के ज्ञानस्वभाव को जानकर, तत्पश्चात् विशेष वीतरागता होने पर मुनिदशा होती है।

वह मुनिदशा कैसी होती है? - यह उसका वर्णन है। मुनियों का उत्सर्गमार्ग तो वीतरागता ही है और शुभविकल्प आवे, वह अपवादरूप है, दोषरूप है।

१. बाल, वृद्ध, श्रमित या ग्लान श्रमण को भी संयम का, जो कि शुद्धात्मतत्त्व का साधन होने से मूलभूत है, उसका छेद जैसे न हो, उस प्रकार का संयत - ऐसा अपने योग्य अति कर्कश या कठोर आचरण ही आचरना; इस प्रकार 'उत्सर्ग' है।

जिसे आत्मा का भान है और स्वरूप में रमणता होने पर वीतरागता बढ़ गयी है — ऐसा आठ वर्ष का बालक भी मुनि होता है। बालक, मुनि होने पर भी वह महा-गम्भीर है। बालक मुनि ऐसे नहीं होते कि बरसात के पानी में पैर देकर खेलें। यह सब तो बालकबुद्धि है; वे तो देह छोटा होने पर भी चैतन्य में अति गम्भीर हैं... अन्तर में स्थित हैं।

कोई मुनि वृद्ध हों अथवा दूसरे कोई मुनि रोगी अथवा थके हुए भी हों; दूसरे निरोग इत्यादि मुनियों की तो क्या बात है परन्तु जो मुनि लघुवयवाले हों अथवा वृद्ध हों अथवा थके हुए हों अथवा रोगी हों - ऐसे मुनियों को भी शुद्धध्यान में ही बराबर विचरना चाहिए और शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत संयम का छेद न हो, इस प्रकार अपने योग्य अति कर्कश कठोर आचरण का ही पालन करना चाहिए - यह 'उत्सर्ग' है।

वस्तुतः परमार्थ साधन तो त्रिकाली चैतन्य कारणपरमात्मा ही है; पर्याय को कारण कहना व्यवहार है और यहाँ चरणानुयोग में तो शरीर को ही उपचार से संयम का साधन कहते हैं। अन्दर में एकरूप चैतन्यस्वभावभाव है, वही मोक्ष का परमार्थ कारण है।

वीतरागी शुद्धभावरूप जो निर्मल संयमपर्याय है, वह शुद्धात्मा की शुद्धि का साधन है। दृष्टि में तो अखण्ड ज्ञायकस्वभाव ही पड़ा है, वही परमात्म-साधन है, उसके आधार से ही निर्मलपर्याय प्रगट होती है।

भले ही बालक हों, वृद्ध हों, थके हुए हों या रोगी हों, तो भी संयम -पालन में प्रमादी अथवा शिथिल नहीं होना चाहिए, परन्तु अपनी शक्ति के अनुसार अति कर्कश/कठोर आचरण आचरना चाहिए।

‘कर्कश’ शब्द का अर्थ दुःख लगे, वैसा क्लिष्ट नहीं, परन्तु अन्दर शुद्धोपयोग की उग्रता बढ़े, ज्ञायक चेतनद्रव्य में लीनता बढ़ती जाए, वैसी विशेष जागृति रखना - ऐसा यहाँ आशय है। यह तो उत्सर्ग है, यह दशा तो श्रेणी और केवलज्ञान का कारण होती है। इस दशा के बिना श्रेणी अथवा केवलज्ञान नहीं होता।

बाल, वृद्ध, श्रमित या ग्लान (श्रमण) को भी आत्मा में स्थिरता बढ़े, वैसा उग्र प्रयत्न करना चाहिए - ऐसा कहकर समस्त मुनियों का उत्सर्गमार्ग बतलाया। अब, अपवादमार्ग बतलाते हैं -

२. बाल, वृद्ध, श्रमित या ग्लान श्रमण को शरीर का, जो कि शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत संयम का साधन होने से मूलभूत है, उसका छेद जैसे न हो, उस प्रकार बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लान को अपने योग्य मृदु आचरण ही आचरना, इस प्रकार ‘अपवाद’ है।

शुद्धात्मतत्त्व का मूल साधन संयम है और उस संयम के निमित्तरूप शरीर मूलभूत साधन है। शरीर में शक्ति न हो और हठ करे, जिससे आकुलता हो - ऐसा मुनि नहीं करते। सहज वीतरागभावरूप, अपनी शक्ति छिपाये बिना जितना हो, उतना करे। अपनी शक्ति के योग्य मृदु आचरण ही आचरना, यह ‘अपवाद’ है।

शरीर के प्रति लक्ष्य जाता हो, सहज सहनशक्ति न हो, तथापि ‘आहार करना ही नहीं’ - ऐसा हठ मुनि को नहीं होता। अपना सहज बल कैसा कार्य करता है, स्वभाव में स्थिरता कितनी जमती है ? - उसका विवेक रखकर मुनिराज, शक्ति अनुसार तप इत्यादि करते हैं।

सोलह कारण भावनाओं में भी कहा है कि शक्तितः तपस्त्यागः अर्थात् अपनी शक्ति देखकर तप इत्यादि करे। दूसरे युवा मुनि लम्बे-लम्बे विहार करें तो वहाँ मैं भी उनके साथ लम्बा विहार करूँगा, ऐसी हठ करके खींचतान नहीं करते हैं। सहज शक्ति

देखकर धीरजपूर्वक वर्तते हैं। अन्दर तो ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं; विकल्प उत्पन्न होता है, उसका विवेक है।

बहुत थकान लगे, चलने की सामर्थ्य न दिखती हो फिर भी हठ करके विहार करे तो उसे यहाँ कहते हैं कि हे मुनि! तू हठ मत करना! अपनी शक्ति के योग्य मृदु आचरण आचरना! इससे कहीं तेरी मुनिदशा का अभाव नहीं हो जाएगा; इसीलिए जिस प्रकार शरीर के लक्ष्य से आकुलता न हो और संयम में छेद न पड़े, उस प्रकार विवेक रखकर वर्तन करना। शरीर की शक्ति न हो और विशेष उपवास न हो सकें अथवा विहार न हो सके तो आकुलता नहीं करना और परिणाम में हठ नहीं आने देना।

उग्र प्रयत्न से वीतराग परिणामरूप स्थिरता तो सभी मुनियों को उत्सर्ग है लेकिन जब स्वरूप में स्थिरता न हो सके और शुभ विकल्प उत्पन्न हो, तब अपनी शक्ति का विचार करके परिणाम में खेद न हो, उस प्रकार कोमल आचरण आचरना - ऐसा अपवाद है।

जो मुनिदशा के मूलभूत अट्टाईस मूलगुण हैं, उनमें तो छेद पड़ने ही न दे, परन्तु अट्टाईस मूलगुण रखकर किस प्रकार वर्ते, उसकी यह बात है अर्थात् ऐसा कोमल आचरण का अर्थ है। कोमल आचरण का अर्थ यह नहीं है कि अट्टाईस मूलगुण की परवाह किये बिना प्रमादी होकर वर्तना।

प्रश्न - यदि किसी मुनि में खड़े रहने की शक्ति न हो तो वे बैठे-बैठे आहार ले सकते हैं न?

उत्तर - नहीं, मुनिराज खड़े-खड़े ही आहार लें और खड़े रहने की सामर्थ्य न हो तो समाधि ले लें। जैसे, सिंह को गौशाला की पट्टियाँ नहीं होतीं; उसी प्रकार मुनियों को बैठे -बैठे आहार नहीं होता। मुनिराज तो मोक्ष के मैदान में डटे हुए सिंह हैं, वे तो राग को जीतने निकले हैं, वे तो अन्दर में स्थिरता बढ़ाकर राग का अभाव करते हैं।

अब, उत्सर्ग और अपवाद दोनों की सापेक्षता का कथन करते हैं -

३. बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लान के संयम का, जो कि शुद्धात्मतत्त्व का साधन

होने से मूलभूत है, उसका छेद जैसे न हो, उस प्रकार का संयत - ऐसा अपने योग्य अति कठोर आचरण आचरते हुए, उसके शरीर का, जो कि शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत संयम का साधन होने से मूलभूत है, उसका भी छेद जैसे न हो, उस प्रकार बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लान - ऐसे अपने योग्य मृदु आचरण भी आचरना। इस प्रकार 'अपवाद-सापेक्ष उत्सर्ग' है।

उत्सर्ग आचरण, वह मुख्य है; उस उत्सर्ग में न रहा जा सके, तब अपवादरूप मृदु आचरण भी आचरना - ऐसा 'उत्सर्ग-सापेक्ष अपवाद' है। मुनियों को बारम्बार सातवें गुणस्थान का निर्विकल्प अनुभव तो आया ही करता है।

भगवती आराधना में आता है किसी मुनि ने समाधिमरण लिया हो और प्यास की वृत्ति उत्पन्न हो जाए तो वहाँ अन्य मुनि उनसे कहते हैं - 'हे मुनि! तुमने अनन्त माताओं का इतना दूध पीया है कि अनन्त समुद्र भर जाएँ; इसलिए पानी की वृत्ति को अब छोड़ो। अनन्त समुद्र भर जाएँ, उतना पानी पीने पर भी तृप्ति नहीं हुई; इसलिए हे मुनि! ध्यान रख और अन्दर के चैतन्य के आनन्द में स्थिर हो। अभी देह छूटकर समाधिमरण होगा; इसलिए शान्त होकर चैतन्य की जागृति में रहो।'

देखो, वे समाधि करनेवाले मुनि स्वयं भी छठवे-सातवें गुणस्थान में तो झूलते ही हैं, तथापि समाधि के समय अन्य मुनि ऐसा मूसलाधार उपदेश सुनाते हैं कि - 'हे मुनि! जागो... जागो... चैतन्य की जागृति में रहो। अभी देह छूट जाएगा और तुम स्वर्ग में जाओगे, वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में विराजमान तीर्थङ्कर भगवान सीमन्धर प्रभु के पास जाओगे। ध्यान रखना, देह का लक्ष्य छोड़कर चैतन्य में स्थिर होना, आराधनाओं को अखण्डित रखना' - ऐसा कहकर दूसरे मुनि पुरुषार्थ की उग्रता का उपदेश करते हैं।

४. बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लान को शरीर का, जो कि शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत संयम का साधन होने से मूलभूत है, उसका छेद जैसे न हो, उस प्रकार से बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लान को अपने योग्य मृदु आचरण आचरते हुए, उसके संयम का, जो कि शुद्धात्मतत्त्व का साधन होने से मूलभूत है, उसका भी छेद जैसे न हो, उस प्रकार से संयत - ऐसा अपने योग्य अति कर्कश या कठोर आचरण भी आचरना; इस प्रकार 'उत्सर्ग-सापेक्ष अपवाद' है।

हठपूर्वक शरीर का छेद न हो और संयम भी टिका रहे, इस प्रकार मृदु आचरण आचरते हुए कठोर आचरण भी आचरना; शक्ति हो तो शिथिल नहीं होना। मुनि तो स्वयं विवेक के सागर हैं, चैतन्य के ध्यान में ही लीन रहा करते हैं, उन्हें हठ होता ही नहीं; तथापि चरणानुयोग के उपदेश में ऐसा विवेक करवाया है।

इससे ऐसा कहा है कि सर्वथा, सर्व प्रकार से उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री द्वारा आचरण का सुस्थितपना करना चाहिए।

इस प्रकार स्वभाव में लीनता बढ़ती जाए और खेद भी न हो – ऐसे दोनों प्रकार का विवेक रखकर मुनिराज वर्तते हैं। बस, मुझे तो शुद्धोपयोग में ही रहना है और मैं आहारादि का शुभविकल्प आने ही नहीं दूँगा – ऐसा हठ वे नहीं करते। शुद्धोपयोग में रहा जा सके, वह तो उत्सर्ग ही है परन्तु स्थिर न रहा जा सके, तब सहनशक्ति का विवेक रखकर मुनिराज आहारादि में प्रवर्तते हैं।

अब, उत्सर्ग और अपवाद के विरोध (अमैत्री) से आचरण का दुःस्थितपना होता है, ऐसा उपदेश करते हैं -

जो श्रमण, आहार अथवा विहार में देश, काल, श्रम, क्षमता तथा उपधि को जानकर प्रवर्तते हैं, वह अल्पलेपी होता है। 'अल्पलेपी होता है' – इसमें से टीकाकार आचार्यदेव (टीकाकार) उत्सर्ग और अपवाद के चार बोल निकालेंगे।

क्षमता तथा ग्लानता का हेतु उपवास है और बाल तथा वृद्धत्व का अधिष्ठान उपधि-शरीर है; इसलिए यहाँ (टीका में) बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लान ही लिये गये हैं।

अर्थात् मूल गाथा में जो क्षमा, उपधि इत्यादि शब्द हैं, उनका आशय लेकर टीका में 'बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लान' शब्द ही प्रयुक्त किये गये हैं।

२३०वीं गाथा में बाल, वृद्ध, श्रमित और ग्लान – इन शब्दों का प्रयोग किया था। इस गाथा में वे शब्द सीधे प्रयोग नहीं किये हैं परन्तु क्षमता इत्यादि की बात की है, इसमें से यह आशय निकलता है; इसलिए यहाँ टीका में उनकी ही बात की जा रही है।

१. देशकालज्ञ को भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानत्व के अनुरोध से अर्थात् बालत्व, वृद्धत्व, श्रान्तत्व अथवा ग्लानत्व का अनुसरण करके, आहार

-विहार में प्रवृत्ति करे तो मृदु आचरण में प्रवृत्त होने से अल्प लेप होता ही है; लेप का सर्वथा अभाव नहीं होता; इसलिए 'उत्सर्ग' अच्छा है।

जब शुद्धोपयोग में न रहा जाए, तब शुभोपयोग से अल्प बन्धन होता ही है; इसलिए उतना भी दोष है। इस अपेक्षा से तो 'शुद्धोपयोग का उत्सर्गमार्ग ही अच्छा है।'

२. देशकालज्ञ को भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानत्व के अनुरोध से आहार-विहार में प्रवृत्ति करे तो मृदु आचरण में प्रवृत्त होने से अल्प ही लेप होता है; विशेष लेप नहीं होता; इसलिए 'अपवाद' अच्छा है।

जब शुद्धोपयोग में स्थिर न रहा जाए, तब हठरहित शुभोपयोग आता है, उससे अल्प ही बन्धन होता है अर्थात् तीव्र-बन्धन नहीं होता। इस अपेक्षा से 'अपवादमार्ग भी अच्छा है।'

अबन्धपने की अपेक्षा से तो अल्प बन्धन भी अच्छा नहीं है; इसलिए उत्सर्गमार्ग ही अच्छा है और अपवादमार्ग से तीव्र-बन्धन नहीं होता, परन्तु अल्प ही बन्धन होता है - इस अपेक्षा से अपवाद भी अच्छा है, ऐसा कहा है।

अतः मुनिजन विवेक रखकर उत्सर्गमार्ग के समय उत्सर्ग में और अपवाद के समय अपवाद में वर्तते हैं।

अब, यहाँ परस्पर मैत्री की बात करते हैं -

३. देशकालज्ञ को भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानत्व के अनुरोध से, जो आहार-विहार है, उससे होनेवाले अल्प लेप के भय से उसमें प्रवृत्ति न करे तो अर्थात् अपवाद के आश्रय से होनेवाले अल्प बन्ध के भय से उत्सर्ग का हठ करके अपवाद में प्रवृत्त न हो तो अति कर्कश आचरणरूप होकर, अक्रम से शरीरपात करके, देवलोक प्राप्त करके, जिसने समस्त संयमामृत का समूह वमन कर डाला है, उसे तप का अवकाश न रहने से, जिसका प्रतीकार अशक्य है - ऐसा महान लेप होता है; इसलिए 'अपवाद-निरपेक्ष उत्सर्ग श्रेयस्कर नहीं है।'

शरीर तो उसके अभाव के काल में ही अभावरूप होता है; उसके क्रम में कोई परिवर्तन नहीं होता। यहाँ 'अक्रम से शरीरपात करके' क्यों कहा? क्योंकि मुनि अपनी

भूमिका का विवेक चूककर हठपूर्वक वर्ते तो उनके संयम का क्रम टूट जाता है; इसलिए उस हठभाव का आरोप करके शरीर को भी अक्रम से नाश करने की बात कही है।

यहाँ तो मुनिदशा में बहुत वीतरागता थी, इस दशा में तो संयमरूप अमृत का सागर था, उसमें बीच में हठ किया तो उस संयम को छेदकर आयुष्य पूर्ण करके देवगति में जाएगा और वहाँ तो उसे संयम-तप का अवकाश नहीं रहेगा; इसलिए उसे वहाँ महान लेप या दोष होता है; अतः एकान्त उत्सर्ग श्रेयस्कर नहीं है।

यदि एकान्त उत्सर्ग में ही वर्तन करने का हठ करे और छठवें गुणस्थान में होनेवाले विकल्प का विवेक न रखे तो हठ से देह छूटने पर स्वर्ग में जाकर असंयमी हो जाएगा और असंयमीपने में तो तीव्र-बन्धन होगा; इसलिए चैतन्य में दृष्टि और लीनता रखकर विवेकपूर्वक वर्तन करना। यदि उत्सर्ग में प्रवर्तन हो तो अच्छा है परन्तु उत्सर्ग में ही प्रवर्तन न हो सके तो अपवाद भी ठीक है। 'अपवादरहित या अपवादनिरपेक्ष उत्सर्ग श्रेष्ठ नहीं है।'

निर्ग्रन्थ मुनियों का आचरण कैसा होता है? - उसकी यहाँ बात चलती है। उन्हें अन्तरङ्ग में तीन कषाय चौकड़ी का अभाव हुआ है, अन्तर वीतरागदशा बहुत बढ़ गयी है। बाह्य में नग्न दिग्म्बरदशा वर्तती है, वस्त्र-पात्रसहित दशा, मुनिपना नहीं कहलाती; शरीर के रजकणों से तथा पुण्य-पाप से पृथक् शान्त आत्मा का मुनिराज अनुभव करते हैं।

अभी भी महाविदेह क्षेत्र में आठ वर्ष के राजकुमार मुनि होते हैं और यहाँ भी भगवान ऋषभदेव के समय में एक कोटिपूर्व के आयुष्यवाले मुनि थे। उन मुनियों को विकल्प उत्पन्न होता है तो दोषरहित या अन्तरायरहित आहार लेते हैं। वे मुनि मन-वाणी-देह से पृथक् आत्मा का अनुभव करते हैं और विकल्पदशा में हों, तब विहार करते हैं, आहार लेते हैं, इत्यादि प्रकार का विकल्प उत्पन्न होता है। इस प्रकार मुनिराज छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं।

अब, यह कहते हैं कि उत्सर्गरहित अकेला अपवाद श्रेष्ठ नहीं है -

४. देशकालज्ञ को भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानत्व के अनुरोध से जो आहार-विहार है, उससे होनेवाले अल्प लेप को न गिनकर उसमें यथेष्ट प्रवृत्ति करे

तो अर्थात् अपवाद से होनेवाले अल्प बन्ध के प्रति असावधान होकर उत्सर्गरूप ध्येय को चूककर अपवाद में स्वच्छन्दपूर्वक प्रवर्ते तो मृदु आचरणरूप होकर संयमविरोधी को, जो असंयतजन के समान हुए, उसको उस समय तप का अवकाश न रहने से, जिसका प्रतीकार अशक्य है - ऐसा महान लेप होता है; इसलिए 'उत्सर्ग-निरपेक्ष अपवाद' श्रेयस्कर नहीं है।

धर्म तो चैतन्य के स्वभाव से ही है और जो आहारादि के विकल्प उत्पन्न होते हैं, वे बन्ध का कारण होते हैं; धर्म का कारण नहीं, तथापि जो मुनि उस अल्प लेप के प्रति लापरवाह रहते हैं और स्वभाव में स्थिरतारूपी चारित्र, जो कि उत्सर्गमार्ग है, उसे चूककर स्वच्छन्द प्रवर्तते हैं और मृदु आचरण विशेष करते हैं तो उनके असंयतपना भी हो जाता है; उन्हें मुनिपना नहीं रहता।

यदि वे मुनि, बालक, वृद्ध, श्रमित अथवा ग्लान हों तो भी छठवें गुणस्थान में विशेष प्रमाद करके मृदु आचरण आचरें तो उनका मुनिपना नहीं रहता। बालक, वृद्ध अथवा श्रमित मुनि हों तो तपश्चर्या, विहार आदि अपनी शक्ति के अनुसार करें, इतनी छूट है परन्तु इससे भी शिथिल होकर प्रमाद करें और स्वभाव में लीनता न करें, अन्तर में ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है - ऐसी दृष्टि चूके तो मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं और अन्तर्लीनता न करें तो मुनिपना नहीं टिकता; चौथा आदि गुणस्थान आ जाता है।

देखो, यह मुनिदशा ! श्रमित, वृद्ध अथवा बालक मुनि के लिए भी विशेष छूट नहीं है - ऐसा मुनिमार्ग है। इस प्रकार प्रवृत्ति तो असंयतजन समान होने के कारण उन्हें उस समय तप का अवकाश नहीं है और उन्हें महान लेप या दोष होता है, जिस दोष का परिहार अशक्य है। इसलिए उत्सर्ग की अपेक्षा रखे बिना, अकेले अपवादमार्ग अर्थात् हीन शुभआचरण में रुकना, मुनि के लिए योग्य नहीं है।

इससे ऐसा कहा गया है कि उत्सर्ग और अपवाद के विरोध से होनेवाला, जो आचरण का दुःस्थितपना है, वह सर्वथा निषेध्य या त्याज्य है और इसीलिए 'परस्पर-सापेक्ष उत्सर्ग और अपवाद' से जिसकी वृत्ति या प्रवृत्ति प्रगट होती है - ऐसा स्याद्वाद सर्वथा अनुगम्य है, अनुसरण करने योग्य है।

जिस अपवाद में वीतरागता का नाश होता है, उसमें उत्सर्ग और अपवादमार्ग का विरोध आता है; इसलिए स्वभाव में लीनता करना तो उत्सर्ग और विकल्प उठे तो अपवादरूप से अट्टाईस मूलगुणों का पालन करना - ऐसा उत्सर्ग और अपवाद की सापेक्षता द्वारा जिसका कार्य प्रगट होता है, ऐसा स्याद्वाद वीतरागी मार्ग सर्वथा अनुसरण करने योग्य है।

जब तक शुद्धोपयोग में ही लीन रहा जाये, तब तक श्रमण को आचरण की सुस्थिति के लिये, उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री साधनी चाहिए। उसे अपनी निर्बलता का लक्ष्य रखे बिना, मात्र उत्सर्ग का आग्रह रखकर, केवल अति कर्कश आचरण का हठ नहीं करना चाहिए तथा उत्सर्गरूप ध्येय को चूककर, मात्र अपवाद के आश्रय से केवल मृदु आचरणरूप शिथिलता का भी सेवन नहीं करना चाहिए, किन्तु इस प्रकार का वर्तन करना चाहिए जिसमें हठ भी न हो और शिथिलता का भी सेवन न हो। सर्वज्ञ भगवान का मार्ग अनेकान्त है। अपनी दशा की जाँच करके जैसे भी लाभ हो, उस प्रकार से वर्तन करने का भगवान का उपदेश है।

अपनी चाहे जो सबल या निर्बल स्थिति हो, तथापि एक ही प्रकार से वर्तना - ऐसा जिनमार्ग नहीं है।

जब मुनि पूर्ण वीतरागी दशा प्राप्त न करें, तब तक मुनि को आचरण की सुस्थिति के लिए उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री साधना चाहिए। अपनी शारीरिक अवस्था ठीक न हो तो अकेले उत्सर्ग या अन्तर वीतरागी दशा के मार्ग का आग्रह रखकर, केवल अति कर्कश या कठोर आचरण की हठ नहीं करनी चाहिए। जैसे कि रोग होने पर भी उपवास कर लेना, शरीर वृद्ध-जीर्ण होने पर भी अधिक विहार करना - यह हठ है; वैसा नहीं करना चाहिए। अपनी शक्ति के अनुसार तप करना चाहिए।

वीतरागी दशा चूककर अकेले शिथिलता का आचरण भी नहीं करना चाहिए। हठ भी नहीं हो और शिथिलता भी न आवे - ऐसे प्रवर्तना चाहिए। वीतराग भगवान का मार्ग अनेकान्तरूप है। अपने परिणाम को पहिचानकर, जिस प्रकार लाभ हो, उस प्रकार वर्तन करना चाहिए - ऐसा भगवान का उपदेश है। शारीरिक स्थिति सबल अथवा निर्बल हो

तो भी एक ही प्रकार से प्रवर्तना - ऐसा जिनमार्ग नहीं है। शारीरिक स्थिति कमजोर हो तो अधिक विहार अथवा तप नहीं करना तथा शिथिलपना भी न आने देना, इस प्रकार मुनिमार्ग है।

देखो, मुनि के अन्तर में तीव्र राग होता है तो मुनिपना नहीं टिकता तो फिर वस्त्र -पात्रसहित मुनिपना हो, ऐसा तो तीन काल में कभी नहीं हो सकता।

इस प्रकार विशेष आदरपूर्वक पुराणपुरुषों के द्वारा सेवित, उत्सर्ग और अपवाद द्वारा अनेक पृथक्-पृथक् भूमिकाओं में व्याप्त जो चारित्र, उसको यति प्राप्त करके, क्रमशः अतुल निवृत्ति करके, चैतन्यसामान्य और चैतन्यविशेषरूप जिसका प्रकाश है - ऐसे निजद्रव्य में सर्वतः स्थिति करो।

इस प्रकार सावधानी रखनेवाले और स्वभाव का आदर करनेवाले अनन्त ज्ञानियों और सन्तों ने उत्सर्ग और अपवादमार्ग द्वारा अलग-अलग भूमिका में आचरण का सेवन किया है। वे किसी समय इच्छा का निरोध करते हैं, किसी समय आहार लेते हैं, किसी समय उग्र विहार करते हैं, किसी समय उग्र विहार नहीं करते; वीतरागता का ध्यान रखते हैं और कदाचित् शुभ में आवें तो भी शिथिल नहीं होते; इस प्रकार अपने परिणाम के अनुसार अलग-अलग भूमिका में होनेवाले चारित्र का अनन्त ज्ञानियों ने सेवन किया है; वैसा मुनियों को प्राप्त करना चाहिए और अपनी शक्ति के अनुसार क्रमशः शुभाशुभभावों से अतुल निवृत्ति करके सामान्य और विशेषात्मक - ऐसे स्वद्रव्य में सर्वथा लीन रहना चाहिए।

देखो, आचरण अधिकार का अन्तिम सार यह लिया है। यह वस्तु खाना और यह न खाना, ऐसी बात तो की ही नहीं है क्योंकि वह तो जड़ पदार्थ हैं; उन्हें ग्रहण अथवा छोड़ने की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। यहाँ तो जो राग होता था और जो राग, ज्ञाता का ज्ञेय था, उस राग से भी निवृत्ति करके स्वरूप में स्थिर हो जाओ - ऐसा आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने आदेश किया है।

द्रव्यसामान्य अर्थात् ध्रुव ज्ञाता-दृष्टा शुद्धस्वभाव और विशेष अर्थात् पुण्य-पाप के विकल्परहित व्यक्त वीतरागी पर्याय - ये दोनों मिलकर सामान्य-विशेषरूप जिसका

प्रकाश है - ऐसे निजद्रव्य में चारों ओर से रमण करो ।

देखो, यहाँ अन्त में अट्टाईस मूलगुणों और उनके विकल्पों को निकाल दिया, क्योंकि वे आत्मा नहीं हैं । इस प्रकार मुनि अन्तरभानसहित स्वरूप में सर्व प्रकार से लीन रहो - ऐसा आचार्य भगवान ने कहा है । ●

(- सद्गुरु प्रवचनप्रसाद (हस्तलिखित दैनिक) दिनाङ्क २९-४-५१ से १-५-५१ तक)



आत्मा का जीवन

भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय महान पदार्थ है, वह चैतन्यप्राण से शाश्वत जीवित रहनेवाला है । जिसने अपना ऐसा अस्तित्व स्वीकार किया है, उसे जड़ इन्द्रिय आदि प्राणों के साथ एकताबुद्धि नहीं रहती, क्योंकि वे जड़प्राण कहीं आत्मा के जीवन के कारण नहीं हैं । शरीरादि जड़प्राण तो आत्मा से भिन्न हैं और पृथक् हो जाते हैं । यदि आत्मा उनसे जीवित रहता हो तो वे आत्मा से भिन्न क्यों होवें ? उनके अस्तित्व से कहीं आत्मा का अस्तित्व नहीं है; आत्मा का अस्तित्व, अपने चैतन्य भावप्राण से ही है । ऐसे चैतन्य जीव को जिसने देखा, उस सम्यग्दृष्टि को मरण का भय क्यों हो ? मरण ही मेरा नहीं, फिर मरण का भय कैसा ?

इस प्रकार धर्मीजीव मरण के भय से रहित निःशङ्क तथा निर्भय परिणमन करता है । जगत, मरण से भयभीत है परन्तु ज्ञानी को तो आनन्द की लहर है क्योंकि वह प्रथम से ही अपने को शरीर से भिन्न ही अनुभव करता है । — पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

अपवाद या उत्सर्गमार्ग का आग्रह नहीं

मुमुक्षुओं को तथा ज्ञानियों को अपवादमार्ग या उत्सर्गमार्ग का आग्रह नहीं होता, परन्तु जिससे अपने परिणाम में आगे बढ़ा जा सके उस मार्ग को ग्रहण करते हैं।

अर्थात् क्या ? कि — स्वरूप में स्थिर होना ही मूल उत्सर्गमार्ग है, किन्तु स्थिर नहीं हुआ जा सकता इसलिए बीच में शुभ विकल्प आते हैं; वे नहीं आयें ऐसा आग्रह नहीं रखता। स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता इसलिए अपवादमार्ग आये बिना नहीं रहता। मात्र उत्सर्ग का आग्रह करके अपवाद न लाये तो वह हठ है।

उत्सर्गमार्ग में — स्वरूप में — अधिक नहीं टिक सकता इसलिए बीच में फिर अपवादमार्ग-व्रतादि का शुभराग आता है, परन्तु उसका आग्रह नहीं रखता कि यही सच्चा मार्ग है। उसे जाना तो है उत्सर्ग में, परन्तु शुद्धोपयोग में अधिक नहीं रह सकता इसलिए अपवादमार्ग-शुभराग-आये बिना नहीं रहता। जिस काल जिस प्रकार का अपवाद आये उसे जानता है; किन्तु यही मार्ग है, यही बराबर है, ऐसा आग्रह रखकर वहाँ रुक नहीं जाता; उसका भी विकल्प तोड़कर भीतर उत्सर्ग में जाता है — शुद्धोपयोग में रमता है। मार्ग ऐसा है।

मुमुक्षुओं को अर्थात् धर्म के पिपासुओं को तथा धर्मी को अपवाद—शुभरागभाव—अस्थिरता के कारण आता है परन्तु उसका आग्रह नहीं होता है कि यही हो तो ठीक है। वास्तव में तो उत्सर्गमार्ग—उपयोग का भीतर स्वरूप में स्थिर होना — यही वस्तु है। ज्ञानी

को प्रतीति है कि - मैं शुद्ध चैतन्य हूँ, आनन्द हूँ, शुभराग का व्यवहार—अपवादमार्ग—मेरा स्वरूप नहीं है परन्तु उपयोगस्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता। वहाँ उसे आग्रह नहीं होता कि शुभराग तो लाना ही नहीं। शुभ आये वह अच्छा नहीं, उससे मैं भ्रष्ट हो जाता हूँ — इस प्रकार उत्सर्ग का एकान्त आग्रह नहीं करता।

प्रवचनसार की चरणानुयोग चूलिका अधिकार में उत्सर्ग और अपवाद की गाथा आती है; वही यह बात है। वहाँ चरणानुयोग का व्याख्यान है। वहाँ भी मार्ग प्रगट हुआ उनकी बात है। अन्तर में शुद्ध चैतन्यवस्तु की प्रतीति-सम्यग्दर्शन हुआ है, ज्ञान हुआ है और स्वरूपस्थिरता-चारित्र भी हुआ है; किन्तु विशेष स्वरूपस्थिरता—विशेष शुद्धोपयोग न हो तो उस काल आग्रह नहीं करना चाहिए कि — अरे! शुभ आयेगा और मैं भ्रष्ट हो जाऊँगा। बीच में शुभभाव आये वह अपवादमार्ग है। अपवाद आया इसलिए शुद्ध से भ्रष्ट हो गया ऐसा नहीं मानता-जानता। शुद्ध में विशेष स्थिर नहीं रह सकता इसलिए अपवाद आये बिना नहीं रहता ऐसा भी वह जानता है। अपवाद आये, तथापि उस काल भी उत्सर्ग में जाने की भावना होती है; अपवाद में ही रहना ऐसा उसका आग्रह नहीं होता। अहा! ऐसा मार्ग है।

‘....अपवादमार्ग का या उत्सर्गमार्ग का आग्रह नहीं होता, किन्तु जिससे अपने परिणामों में आगे बढ़ा जा सके उस मार्ग को ग्रहण करता है।’ स्वरूप में स्थिर रह सके तो उत्सर्ग में जाता है, न रह सके तो शुभ में —अपवाद में—आता है। ज्ञानी जानता है कि शुभराग बन्ध का कारण है, किन्तु शुद्ध में स्थिर नहीं रह सकता इसलिए वह बीच में आता है; तथापि वह अपवाद उत्सर्ग का कारण है — ऐसा नहीं है; शुभ आया इसलिए उसके कारण शुद्ध होगा — ऐसा नहीं है। ऐसी बात है! इसमें वाद-विवाद कहाँ है भाई! वस्तुस्थिति ही ऐसी है।

सिद्ध—सर्वज्ञ परमात्मा—पूर्ण हो गये हैं, उन्हें अब बाधकपना नहीं है; किन्तु नीचे अपूर्ण साधकदशा में साधक—बाधकपना दोनों हैं। शुद्ध चैतन्य की दृष्टि है, शुद्ध उपयोग हुआ है, तथापि उस शुद्ध-उपयोग में अधिक स्थिर न रह सकें तब शुभराग में आना ही पड़ता है। वह हठ करे कि मुझे तो शुद्ध में ही रहना है, शुभ में नहीं आना है —

तो ऐसा नहीं हो सकता। शुभ को अपवादमार्ग कहा है। अपवाद का अर्थ निन्द्य है ना ? वह आता अवश्य है, किन्तु उस समय भी 'मुझे अन्तर में ही रहना है — स्वरूप में स्थिर हो जाना है' ऐसी उत्सर्ग की भावना बनी रहती है। मुझे तो भीतर स्वरूप में ही रहना है ऐसा एकान्त उत्सर्ग का आग्रह करने जाए तब भी भ्रष्ट हो जाएगा, और शुभ में आकर वहीं मुझे रहना है ऐसा अपवाद का आग्रह रखेगा तब भी भ्रष्ट हो जाएगा। अहा, ऐसा वस्तुस्वरूप है !

अन्तरात्मा धर्मी जीव को—मुनि को—भी अपवादमार्ग आता है। मुनि छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते ही होते हैं। छठवें में नहीं आना — ऐसा आग्रह मुनि को नहीं होता। विकल्प आये बिना नहीं रहता, तथापि वह है हेय। साधक जीव हैं, अन्तर में पूर्ण स्थिरता नहीं हो सकती, पूर्ण वीतराग नहीं हुए हैं, इसलिए अपवाद—शुभ बीच में आता है — होता है परन्तु ध्येय तो अन्तरङ्ग स्थिरता का ही है। अहा! मुनिदशा कैसी होती है उसका विचार तो करो ! छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए वे मुनि स्वरूप में गुप्त हो गये होते हैं। प्रचुर स्वसंवेदन वही मुनि का भावलिङ्ग है और शरीर की नग्नता-वस्त्रपात्र रहित निर्ग्रन्थदशा — वह उनका द्रव्यलिङ्ग है। उनको भी अपवाद—व्रतादि का शुभराग आता है परन्तु वस्त्र ग्रहण करने या अपने लिए चौका लगाकर बनाया हुआ अधःकर्म आहार लेने का भाव उनको नहीं होता। अहा! ऋषभदेव भगवान को मुनिदशा में प्रथम छह महीने के उपवास थे। पश्चात् आहार का विकल्प उठता था, किन्तु मुनि की विधिपूर्वक आहार नहीं मिलने से विकल्प तोड़कर अन्तर के आनन्द में रहते थे। आनन्द में रहना ही आत्मा का स्वरूप है।

भूखा रहना वह तो जड़ की दशा है। मुनि तो अतीन्द्रिय आनन्द में कल्लोल मौज करते हैं। उनके तो अतीन्द्रिय आनन्द की उमड़ आती है। अहा! ऐसा मार्ग है भाई! उसे अन्य प्रकार से मानोंगे तो अहित हो जाएगा। हित के बिना आत्मा जागृत कहाँ से होगा ? शुभ आता है, इसलिए शुभ करते-करते शुद्ध होगा ऐसी हठ करेगा तो उसमें हित कहाँ आया ? उलटा अहित ही हुआ।

प्रवचनसार की 77 वीं गाथा में आचार्यदेव कहते हैं —

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं ।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥

इस प्रकार पुण्य और पाप में अन्तर नहीं है ऐसा जो नहीं मानता, वह मोहाच्छादित होता हुआ 'हिंडदि घोरमपारं संसारं' — घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है ।

व्यवहार से ऐसा कथन आता है कि अशुभ की अपेक्षा शुभ कुछ ठीक है परन्तु निश्चय से शुभ अच्छा है और अशुभ बुरा है — ऐसा उन दोनों में अन्तर माने तो हिंडदि घोरं अपारं संसारं — घोर अपार संसार में भटकता है । अरेरे— तुझे ऐसा आग्रह है प्रभु— भीतर तो प्रभु शान्त अविकारी अकषायस्वरूप है । उसकी प्रतीति एवं अनुभव हो तो अन्तर से अलौकिक शान्ति प्राप्त हो । सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा पंचम गुणस्थानवर्ती को आत्मा में से प्रगट हुई वह अतीन्द्रिय शान्ति अधिक है । छठवें गुणस्थानवर्ती को उससे भी अत्यधिक है । अन्तर में शान्ति का भाव आया नहीं है और जीव मानता है कि शुभराग से शान्ति होती है । भाई! राग तो अशान्ति है । अशान्ति में से शान्ति आती है ? राग आता अवश्य है, मुनि को भी अपवादमार्ग आता है परन्तु अपवाद—राग अशान्ति है । तो फिर किसलिए आता है ? भाई! वह अभी साधक है, मात्र उत्सर्ग में नहीं रह सकता, आत्मा में पूर्ण स्थिर नहीं हो सकता, इसलिए बीच में विकल्प—शुभराग—आये बिना नहीं रहता । यदि अन्तर में स्थिरता करके श्रेणी मांडे तो फिर पूछना ही क्या... पूर्ण वीतराग हो जाये; किन्तु श्रेणी न मांडे तब तक स्थिरता की धारा प्रवाहित नहीं होती; और इसलिए बीच में विकल्प—शुभराग आता रहता है । जिससे अपने परिणाम में आगे बढ़ा जाये वह मार्ग ग्रहण करता है ।

किन्तु यदि एकान्त उत्सर्ग या एकान्त अपवाद की हठ करे तो उसे वस्तु के यथार्थ स्वरूप की ही खबर नहीं है ।

मुझे तो शुद्ध-उपयोग में ही रहना है ऐसी हठ करे उसे वस्तु के स्वरूप की खबर नहीं है । निचली दशा में शुद्ध-उपयोग अधिक काल नहीं रह सकता । शुद्ध-उपयोग वह वस्तु है किन्तु उसका आग्रह-हठ-इतना नहीं होता कि मुझे तो बस, इसी में रहना है । वहाँ

वह अधिक नहीं रह सकेगा, शुभराग आएगा ही। तथा शुभराग आए तो उसकी भी हठ नहीं कि शुभभाव आया इसलिए अब मुझे इसी में रहता है। शुद्ध-उपयोग आए बिना शुभ-उपयोग को व्यवहार से निमित्त भी नहीं कहा जाएगा। अपवाद की हठ करे तो उसे भी वस्तु के यथार्थ स्वरूप की खबर नहीं है। अहा! ऐसा मार्ग है।

(वचनामृत प्रवचन, वचनामृत 11, पृष्ठ 26)



वह महामूर्ख है

आपकी निर्मल परिणति, द्रव्य में से प्रगट हुई है — इस कारण द्रव्य ही आपका कुल है। शारीरिक सम्बन्धों से आपकी पहिचान करनेवाले आपकी पहिचान की विधि से अनभिज्ञ हैं।

यदि कोई हस्तगत सुवर्ण को यह कहकर फेंक दे कि यह तो पत्थर की खान में से उत्पन्न हुआ है तो वह महामूर्ख है। उसी प्रकार जो शरीर के कुल से आपकी पहिचान कराये किन्तु निर्मलानन्द चैतन्यधातु में से आपकी निर्मल पर्याय प्रगट हुई है, उस कुल को नहीं पहिचाने तो वह भी महामूर्ख है, अज्ञानी है। अचिन्त्य प्रभु अनादि-अनन्त स्वयंसिद्ध ही सर्वज्ञ का 'कुल' है; अतः जो भगवान के शरीर की ही स्तुति करते हैं और शरीर से ही भगवान की पहिचान कराते हैं, वे बड़ी भ्रान्ति में हैं क्योंकि आपकी स्तुति तो आपके गुणों से है।

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-82)

उन्हें विकल्प का जाल नहीं चलता

जो न हो सके वह कार्य करने की बुद्धि करना मूर्खता की बात है।

क्या कहते हैं ? कि शरीर की क्रिया कर सकता हूँ, भाषा बोल सकता हूँ, पैसा ले-दे सकता हूँ – यह सब क्रियाएँ आत्मा की नहीं हैं, जड़ पुद्गल की हैं। वह क्रिया आत्मा से नहीं हो सकती तथापि 'मैं' उसे करता हूँ, ऐसी मान्यता करना वह मूर्खता है। मुनि को भाषासमिति का विकल्प आये वह राग है किन्तु वे उसके कर्ता नहीं हैं। ज्ञानी राग को कर्ता नहीं है, ज्ञाता है। राग वह तो विष है, काला नाग है।'

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दामृत का सागर है। उसका जिसे अनुभव हुआ उसे अशक्तिवश भले थोड़ा राग आये परन्तु स्वानुभव के स्वाद के सामने वह विष जैसा काले नाग जैसा लगता है, दुःखमय लगता है। यमसार के मोक्ष अधिकार में प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहरण आदि शुभभावों को विषकुम्भ कहा है ना ? वे सब विकल्प विष के घड़े हैं और भगवान ज्ञायक आत्मा तो वीतरागी अमृतस्वरूप है।

अमृतसागर ऐसे ज्ञायक प्रभु का जिसे अनुभव हुआ-पर्यायबुद्धि एवं विकारदृष्टि छोड़कर अन्तर में धर्मदृष्टि हुई है – ऐसे ज्ञानी सम्यक्त्वी को विषयवासना के भाव आते हैं परन्तु वे काले नाग के समान विषमय लगते हैं। श्री शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ एवं अरहनाथ – तीनों तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती तथा कामदेव थे। तीनों पदवियाँ थीं, मति, श्रुत एवं अवधि – तीनों ज्ञान साथ लेकर माता के गर्भ में आये थे, सम्यग्दर्शन और आत्मा का अनुभव वर्तता था। उन्होंने छियानवे हजार रानियों के साथ विवाह किये। विवाह करूँ तो उससे सुख

प्राप्त होगा ऐसी बुद्धि उनके अन्तर में नहीं थी। आत्मा के ज्ञान एवं आनन्द का अंशतः स्वाद होने पर भी निर्बलतावश किञ्चित् अविरति का राग आता है परन्तु वह विष जैसा लगता है, दुःखमय लगता है।

जीव पर के कार्य नहीं कर सकता, तथापि 'में पर का मोक्ष कर दूँ' – ऐसी पर के कार्य करने की जो बुद्धि है, वह मिथ्यात्व है। समयसार के बन्ध-अधिकार में विस्तार से आता है कि पर को मैं बँधाता हूँ, छुड़ाता हूँ, वह मान्यता तो अज्ञानभाव है; परजीव तो अपने रागभाव से बँधता है और अपने वीतरागभाव से मोक्ष प्राप्त करता है, उसमें इस जीव ने क्या किया? पर में मैं कुछ कर सकता हूँ – यह बुद्धि ही मूर्खतापूर्ण है, मिथ्यात्व है। पर का जीवन-मरण उसकी आयु के अनुसार होता है, उसमें तू क्या मार-बचा सकेगा? तथापि मैं पर को मार-बचा सकता हूँ, वह मान्यता अज्ञान है, भ्रमणा है। यहाँ कहते हैं कि जो नहीं हो सकता वह कार्य करने की बुद्धि करना वह मूर्खता की बात है।

अनादि से यह जीव जो नहीं हो सकता उसे करने की बुद्धि करता है और जो हो सकता है, वह नहीं करता।

'रोगियों की सेवा करूँ, गरीबों की सेवा करूँ, अरे! देश की सेवा करूँ' – इस प्रकार भाई! पर का करने की बुद्धि करना वह मूर्खता है। वि. सं. १९९५ में एक देशनेता व्याख्यान सुनने आये थे। उस समय भी यही बात आयी थी कि – 'मैं पर को जिला सकता हूँ, सुखी कर सकता हूँ, देश की सेवा कर सकता हूँ' – ऐसी मान्यता रखनेवाला जीव अज्ञानी, मूढ और मिथ्यादृष्टि है। समयसार के बन्ध अधिकार में आता है —

**जे मानतो-हुं मारुं ने पर जीव मारे मुजने,
ते मूढ छे, अज्ञानी छे, विपरीत ऐथी ज्ञानी छे।**

व्याख्यान में तो सिद्धान्त का न्याय बतलाने के लिए बात आयी थी। यहाँ तो यह बात चलती है कि पर का करने की बुद्धि वह अज्ञान है, मिथ्यात्व है।

श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं एक तिनके के दो टुकड़े करने की भी हममें शक्ति नहीं है। श्रीमद् आत्मज्ञानी थे, गृहस्थाश्रम में थे, जवाहिरात का व्यापार करते थे। वि.सं. १९२४ में उनका जन्म हुआ था, ३३ वर्ष की छोटी उम्र में वि. सं. १९५७ में उनका

स्वर्गवास हो गया था। २३ वें वर्ष में उन्हें आत्मज्ञान-आत्मा का अनुभव हुआ था। व्यापार का विकल्प था किन्तु अन्तर में उसके कर्ता नहीं थे, राग से भिन्न ज्ञाता थे। छोटी-सी उम्र में उनमें जो तीक्ष्ण बुद्धि थी, उससे गाँधीजी खूब प्रभावित हुए थे। वास्तव में उस समय ऐसे तीक्ष्ण क्षयोपशमवाले एक श्रीमद् ही थे।

मैं पर को सुखी करूँ, दुःखी करूँ – यह सब पर की क्रिया करने का भाव वह अनादि महा मिथ्यात्व है, महा असत्य भाव है, पाखण्ड भाव है। क्या मन्दिर बनाया जा सकता है? मन्दिर भी परद्रव्य है। जीव से पर का कुछ भी नहीं हो सकता, तथापि उसका कर्ता होने की बुद्धि करना वह अनादि अज्ञानभाव है। लोक में कहा जाता है ना! – ‘मैं करूँ, मैं करूँ, यही अज्ञानता शकटका भरा ज्यों श्वान ढोवे।’ बैलगाड़ी के नीचे कुत्ता चल रहा हो तो वह ऐसा मानता है कि यह गाड़ी मुझसे चल रही है, उसी प्रकार बाहर के कार्य मुझसे होते हैं – ऐसा माननेवाला मूढ़, अज्ञानी है।

अज्ञानी जीव अनादि से जो नहीं हो सकता उसे करने की बुद्धि करता है और जो अपने से हो सकता है – ज्ञानस्वरूप आत्मा में एकाग्रता, ज्ञान एवं आनन्द का अनुभव वह नहीं करता।

मुनिराज को पर के कर्तृत्व की बुद्धि तो छूट गई है और आहार-विहारादि के अस्थिरतारूप विकल्प भी बहुत ही मन्द होते हैं।

अविरत सम्यग्दृष्टि और देशविरत श्रावक को भी पर के कर्तृत्व की बुद्धि तो छूट ही गई है परन्तु मुनिराज को तो पर के कर्तृत्व की बुद्धि छूटने के उपरान्त राग भी अधिक टल गया है, आहार-विहारादि के अस्थिरतारूप विकल्प खूब ही मन्द हो गये हैं। मुनिराज अन्तर में वीतराग चैतन्यबिम्ब हो गये हैं, अक्रिय जिनबिम्ब समान हो गये हैं, अतीन्द्रिय आनन्द में रमते हैं, झूलते हैं। ‘निजपद रमे सो राम कहिये, राग में रमे सो हराम कहिये।’

भरत और बाहुबली दोनों भ्राता आत्मज्ञानी थे। राज्य के राग के कारण दोनों ने युद्ध किया। उन्हें अन्तर में प्रतीति है कि युद्ध की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता और जो राग की वृत्ति उठती है, उसमें उन्हें कर्तृत्वबुद्धि नहीं है, तथापि जो विकल्प आते हैं उनके वे ज्ञाता ही हैं, स्वामी नहीं हैं। मुनिराज को तो स्वरूप स्थिरता खूब ही बढ़ गई है, इसलिए

उनको कर्तृत्व तो कदापि नहीं है परन्तु व्यवहारचारित्र के पालनरूप अस्थिरता का राग भी अत्यन्त मन्द हो गया है।

उपदेश का प्रसङ्ग आए तो उपदेश देते हैं परन्तु विकल्प का जाल नहीं चलता।

मुनिराज को विकल्प आते हैं परन्तु उनकी धारा नहीं चलती। उपदेश देते-देते भी वे अन्तरस्वरूप में लीन हो जाते हैं, छट्टे-सातवें गुणस्थान में हजारों बार आते-जाते हैं, प्रमत्तदशा में से हटकर तुरन्त ही अप्रमत्तदशा में-आनन्द के उग्र अनुभव में आ जाते हैं। लोगों को बाहर से उपदेश देते दिखायी देते हैं किन्तु अन्तर में वे बारम्बार निर्विकल्प स्वानुभव दशा में आ जाते हैं। सूक्ष्म बात है। लोगों को अभी खबर नहीं है कि मुनिदशा क्या है तथा केवलज्ञान दशा क्या है।

उपदेश देने का प्रसङ्ग आये तो किसी धर्म लोभी जीव को देखकर उपदेश देते हैं। मोक्षमार्ग प्रकाशक में पण्डित टोडरमलजी ने कहा है कि मुनिराज मुख्यरूप से तो निर्विकल्प स्वरूपाचरण में ही मग्न रहते हैं और कदाचित् धर्म के लोभी अन्य जीवों को देखकर, रागांश के उदय से करुणाबुद्धि आ जाए तो उनको धर्म का उपदेश देते हैं। उस शुभराग को जो कि अपनी अशक्ति से आता है, उसे भी छोड़कर तुरन्त ही अन्तर आनन्द में विशेष लीन हो जाते हैं। उपदेश से मुझे लाभ होगा या मेरे उपदेश से दूसरों को लाभ होगा - ऐसी मान्यता किञ्चित् भी नहीं है। अहा! लोग मानते हैं उस बात में बड़ा फेर है, लोगों के साथ बात-बात में फेर है। त्रिलोकनाथ जिनेश्वर भगवान का मार्ग कोई अलौकिक है, यहाँ कहते हैं कि मुनिराज को विकल्प उठता है परन्तु विकल्प का जाल परम्परा नहीं चलती, विकल्प तोड़कर वे तुरन्त ही निर्विकल्प आनन्द में स्थिर हो जाते हैं।

(वचनामृत प्रवचन, 2/201)



आगमहीन के कर्मक्षय नहीं

परम पूज्य दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्ददेव ने श्रमण को एकाग्रतायुक्त कहा है और एकाग्रता, पदार्थ के निश्चयवान के होती है; पदार्थ का निश्चय, आगम से होता है; इसलिए आगमहीन श्रमण के कर्मक्षयरूप मोक्ष नहीं होता।

आचार्यदेव के इस भाव को स्पष्ट करनेवाली प्रवचनसार गाथा 233 एवं टीका पर हुए आध्यात्मिक सन्त पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मङ्गल प्रवचन इस प्रकार हैं।

अब, जिस जीव को आगम का अभ्यास नहीं है, उसे पवित्रता प्रगट नहीं होती अर्थात् कर्म का अभाव नहीं होता - ऐसा कहते हैं।

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।

अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू ॥

आगमहीन श्रमण, आत्मा को अर्थात् अपने को और पर को नहीं जानता; पदार्थों को नहीं जाननेवाला वह भिक्षु, कर्मों का क्षय किस प्रकार कर सकता है ?

वास्तव में भगवान की वाणी के बिना स्व-पर भेदविज्ञान नहीं होता। मैं आत्मा, ज्ञानस्वभावी हूँ और शरीर-कर्म, पर हैं; आत्मा स्व है और विभाव पर है - ऐसा भेदज्ञान नहीं होता तथा आत्मा, लोकालोक को जाननेवाला ज्ञानस्वभाववाला है, परम आत्मा है - ऐसा ज्ञान भी भगवान की वाणी के बिना नहीं होता। जिसे ऐसा स्व-पर भेदविज्ञान नहीं

है तथा परमात्म ज्ञान नहीं है, उस जीव को मोहनीय आदि जड़कर्मों का, राग-द्वेषादि भावकर्मों का तथा अपूर्ण ज्ञान के कार्य का नाश नहीं होता ।

ज्ञान का एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय में पलटना, वह ज्ञप्तिपरिवर्तनरूप कर्म है । छद्मस्थ को अपूर्णदशा में ज्ञान परिवर्तित होता है, वह अपूर्ण ज्ञान की दशा, आत्मा का स्वभाव नहीं है । जड़कर्म तो पर हैं, उनका तो आत्मा में अत्यन्त अभाव है ही, किन्तु विकार होता है, तब तक जड़कर्म निमित्तरूप होते हैं । भावकर्म तो मोह-राग-द्वेष है, वह तो आत्मा का स्वभाव ही नहीं है परन्तु ज्ञान की अपूर्णदशारूप रहना भी आत्मा का स्वभाव नहीं है । परिपूर्ण ज्ञान में एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय पर ज्ञान का परिवर्तन नहीं होता; इसलिए आत्मज्ञान और परात्मज्ञानरहित जीव को द्रव्यकर्म, भावकर्म और अपूर्णज्ञान का अभाव नहीं होता ।

- प्रथम तो जगत् को आगम का ज्ञान ही नहीं है । व्यवहार के चतुर जीव को खाते-बहियों का तो प्रत्येक पृष्ठ याद होता है परन्तु सर्वज्ञ द्वारा कथित शास्त्रों में क्या है ? इसका पता नहीं है, शास्त्र की रुचि नहीं है । कैसा है यह जगत् ? जिसमें चौरासी के अवतार का पार नहीं है ।

- मिथ्यात्वरूपी महादोष से भवरूप सरिता बह रही है । जैसे, नदी में पानी का प्रवाह उछलता है; उसी प्रकार अज्ञानी की पर्याय में मोह का प्रवाह उछल रहा है । वह मोह, भवरूपी नदी के प्रवाह को बहाता है ।

- जिस प्रकार धतूरा पिया हुआ मनुष्य, जगत् के श्वेत पदार्थों को भी पीला देखता है; इसी प्रकार अज्ञानी जीव ने मिथ्यात्वरूपी शराब पी रखी है; इसलिए उसे स्व-पर का विवेक नष्ट हो गया है । जैसे, गोसलिया बाहर गाँव गया और स्वयं गोसलिया हूँ - ऐसा भूल गया और अपने को ढूँढने निकल पड़ा; इसी प्रकार भगवान् आत्मा स्वयं सुखस्वरूप है, वह अपने को शोधने निकल पड़ा कि आत्मा कहाँ होगा ? पुण्य-पाप ही मैं हूँ; राग है, वह मैं हूँ; भाईसाहब ! आत्मा कौन है ? इसकी हमें कुछ भी खबर नहीं पड़ती - इस प्रकार वह अपने को भूल गया है । विवेकहीन होने से, विवेकशून्य ज्ञानज्योति द्वारा देखता है । कारण कि अज्ञानी का ज्ञान मिटकर जड़ नहीं होता अर्थात् वह ज्ञान द्वारा स्व-पर को एक जानता है तो भी स्व और पर का निश्चय करानेवाला आगम के उपदेशपूर्वक स्वयं

ज्ञानस्वरूप है, इस अनुभव का अभाव है। आत्मा स्व है और आत्मप्रदेशों में रहे हुए शरीर, कर्म इत्यादि पर हैं। इस प्रकार उसे स्व-पर का विवेक सिद्ध नहीं होता।

आत्मा, आत्मा में है और शरीर, शरीर में है। आत्म-प्रदेश स्थित जो कहा है, वह चरणानुयोग का कथन है। आत्मा के एक क्षेत्र में शरीर और कर्म रहते हैं; इस कारण आत्म-प्रदेश स्थित कहा गया है। इस प्रकार विवेक नहीं होने के कारण स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं है; इसलिए उस अज्ञानी को धर्म नहीं होता।

प्रथम तो सर्वज्ञदेव द्वारा कथित शास्त्रों का जगत् को अभ्यास नहीं है। ऐसे जीव ने अनादि से मिथ्यात्व की शराब पी रखी है। शरीर और पुण्य मेरा है, इस प्रकार के मोह से मलिन होकर परिभ्रमण कर रहा है। उस जीव को स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है। यद्यपि वह जड़रूप नहीं हुआ है परन्तु उसे पर से भिन्नता का ख्याल नहीं है। जिस प्रकार सोने की साँकल में एक हजार कड़ी होने पर भी साँकल एक है; उसी प्रकार आत्मा के असंख्य प्रदेश होने पर भी वह एक है। संकोच-विस्तार प्राप्त कर सके - ऐसा अवयववाला है। यद्यपि उस आत्मा के साथ एक क्षेत्र में शरीर और कर्म रहते हैं, तथापि आत्मा, शरीर और कर्म से भिन्न है। जैसे, कोई अन्य का गहना, विवाह के लिये माँगकर ले आवे तो वह गहना अपना नहीं हो जाता; उसी प्रकार शरीर, पर का गहना है; वह आत्मा का नहीं हो जाता, किन्तु अज्ञानी जीव, शरीर पृथक् होने पर मैं मर गया - ऐसा मानता है।

आत्मा त्रिकाली वस्तु, वह स्व है और शरीर, कर्म इत्यादि पर हैं। आत्मा का ज्ञान-दर्शन का शुद्धव्यापार, वह स्व है और मलिनभाववाला उपयोग, वह पर है। इस प्रकार स्व-पर के भेदविज्ञान का अज्ञानी को अभाव है। दया, दानादि विकारीभाव, आत्मा का स्वभाव नहीं हैं परन्तु पर्याय का भी वह वास्तविक स्वभाव नहीं है।

स्व-पर्याय का ज्ञान-दर्शनोपयोगमय स्वभाव है; दया, दान में रुकना पर्याय का स्वभाव भी नहीं है। इस प्रकार अज्ञानी को स्व-पर भेदविज्ञान सिद्ध नहीं होता।

अहो! जब शरीर-कर्म, जो कि एक क्षेत्र में रहते हैं और विकार, जो कि अपनी पर्याय में होता है, वह भी पर है तो फिर स्त्री-पुत्र, दुकान, पैसा इत्यादि वस्तुएँ तो आत्मा की कभी हो ही नहीं सकती। चेतन और जड़ के द्रव्य-गुण-पर्याय भिन्न-भिन्न हैं,

तथापि अज्ञानी जीव अभिमान करता है कि मैं पर की दया पालन कर सकता हूँ, व्रत करता हूँ, दूसरों की सहायता करता हूँ, दूसरों की व्यवस्था करता हूँ, मैं हूँ तो भाषा बोली जाती है - इत्यादि प्रकार से अभिमान करता है। पर के द्रव्य-गुण-पर्याय पृथक् हैं और स्व-आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय पृथक् हैं - ऐसा भान अज्ञानी को नहीं है।

जो शास्त्र, शरीर और आत्मा को एक कहते हैं, कर्म से आत्मा परिभ्रमण करता है - ऐसा बतलाते हैं, वे वीतराग के शास्त्र नहीं हैं परन्तु शरीर और कर्म से आत्मा भिन्न है - ऐसा बतानेवाले तथा चैतन्य का अनुसरण करके शुद्ध-उपयोगरूप परिणति से विकारीपरिणति भिन्न है - ऐसा बतावे; कर्म आत्मा को हैरान नहीं करते - ऐसा बतावे; दया-दानादि परिणाम जितना ही आत्मा नहीं है, अपितु जानने-देखनेवाला ही आत्मा है - ऐसा बतावे, वह वीतराग के शास्त्र हैं।

आत्मा सत्पदार्थ है, अनन्त गुणों का पिण्ड है, वह परिवर्तन को प्राप्त होता है; पर्याय में विकार है किन्तु वह आत्मा का स्वरूप नहीं है; इसलिए पर है तथा देव-शास्त्र-गुरु भी पर हैं; उनसे धर्म होता है - ऐसा वीतरागी शास्त्र नहीं मनवाते। शास्त्र तो कहते हैं कि मेरी ओर की वृत्ति उत्पन्न होती है, देव-गुरु के प्रति विकल्प उत्पन्न होते हैं, वह तेरे उपयोग की चीज नहीं है। चैतन्य को अनुसरण करके होनेवाली चीज ही तेरी है, तू तो चैतन्यज्योति है; अज्ञान, राग-द्वेष आदि को जला दे - ऐसी तेरी ज्ञानज्योति है - ऐसा बतलानेवाला ही वीतराग का आगम है।

यहाँ 'आगम उपदेशपूर्वक' कहा है, आगमपूर्वक नहीं कहा - इसका अर्थ यह है कि आगम के अनुसार कहनेवाले ज्ञानी पुरुषों के उपदेशपूर्वक। तात्पर्य यह है कि जो वीतराग के शास्त्र मिलने पर भी शरीर की क्रिया से धर्म मनवाते हैं; कर्म से आत्मा परिभ्रमण करता है - ऐसा उपदेश देते हैं; दया, दान से लाभ होता है - ऐसा बतलाते हैं, वे आगम के यथार्थ उपदेशक नहीं हैं; इसलिए उन मिथ्या उपदेशकों को भी निकाल दिया है। यहाँ तो आगम के कथनानुसार जो उपदेश देते हैं, उनकी बात है अर्थात् उपदेशक ज्ञानी होना चाहिए - ऐसा भी इस कथन से निश्चित होता है। यहाँ उपदेश निर्णय कराता है, यह कथन चरणानुयोग का है; जीव स्वयं निर्णय करता है तो आगम के उपदेश को

निमित्त कहते हैं। मुनि तथा गृहस्थ सभी के लिए यही उपदेश है, सबके लिए सुखी होने का मार्ग यह एक ही है। ज्ञानी के उपदेश द्वारा आगम का अभ्यास करके स्व-पर भेदविज्ञान करना चाहिए।

अज्ञानी जीव को सच्चे आगम के उपदेश का अभाव है। आत्मा परिपूर्ण ज्ञानस्वभावी है, उसमें एकाग्र होने पर सर्वदर्शी और सर्वज्ञपर्याय प्रगट हो सकती है – ऐसे परमात्मस्वभाव को बतलानेवाले आगम का उपदेश अज्ञानी को प्राप्त नहीं हुआ है। कदाचित् किसी जीव को ऐसा उपदेश प्राप्त हो कि तू भगवान् है, परमात्मा है तो वह कहेगा कि भाईसाहब! क्या मुझे अभी परमात्मा हुआ जाता है? नहीं... नहीं.. यह तो पञ्चम काल है; आप भगवान् कहते हो परन्तु मैं ऐसा नहीं हूँ। जैसे, किसी भगवान् नामक पुत्र को उसके कुटुम्बीजन, 'यह भृगु, पशु जैसा है' – ऐसा कहते थे, उसे याद रखकर वह भृगु सबको कहता फिरता है कि मैं भृगु, पशु हूँ; उसी प्रकार शास्त्र में पर्यायदृष्टि से हुए भिन्न-भिन्न भावों का ज्ञान कराया तो अज्ञानी जीव ने उसे भृगु पशु की तरह पकड़ रखा कि मैं तो एकेन्द्रिय हूँ, पञ्चेन्द्रिय हूँ, मैं रागी हूँ, मैं कर्मवाला हूँ; इस प्रकार वह अपने को ऐसा मानने लगा।

ज्ञानी कहते हैं कि भाई! तू भगवान् है, परमात्मा है; तू रागी नहीं है, कर्मवाला नहीं है; तथापि अज्ञानी जीव इन्कार करता है। आगम का उपदेश, दो इन्द्रिय आदि का ज्ञान कराकर, उस पर्याय में अटकने के लिये नहीं था किन्तु आत्मा, इन्द्रियों से रहित, राग-द्वेष से रहित, अपूर्णता से रहित; परिपूर्ण परमात्मा है – ऐसी प्रतीति कराने के लिये वह अध्यात्मशास्त्रों का उपदेश है, उसकी अज्ञानी को खबर नहीं है।

अज्ञानी तो कहता है कि मैं सर्वदर्शी नहीं हो सकता; मैं तो रङ्ग हूँ, भिखारी हूँ, पञ्चम काल में शरीर की कमजोरी होती है अर्थात् हीन संहनन होता है; अतः इस काल में परमात्मा की बात ही नहीं होती। भगवान् की कृपा हो तो तिरा जा सकता है। अज्ञानी के इस कथन से यह निश्चित हुआ कि भगवान् की अकृपा से तूने परिभ्रमण किया है किन्तु तू अपनी भूल से नहीं भटका है – ऐसा वह मानता है। वस्तुतः अज्ञानी की यह मान्यता यथार्थ नहीं है। अज्ञानी कहता है कि पञ्चम काल में ऐसा उपदेश! इस प्रकार वह

सच्चे उपदेश की अवज्ञा करता है। इस तरह उसे सच्चे उपदेश का अभाव है; अतः स्वानुभव नहीं होता।

इस जगत् में तीनों काल, जड़ और चेतन की परिपाटी चली आ रही है। जिस प्रकार घोड़ा एक के बाद दूसरा पैर रखते हुए दौड़ता चला जाता है; उसी प्रकार जड़ और चेतनद्रव्य, द्रव्यरूप से कायम रहकर, एक के बाद एक उनकी अवस्था क्रमबद्ध हुआ करती है - ऐसे जड़ और चेतन पदार्थों की त्रिकाल परिपाटी चला ही करती है। उसमें विचित्र पर्यायों का समूह प्रगट होता है। एक परमाणु एक समय में हरा होता है और दूसरे समय में काला हो जाता है। निगोद में से एक जीव निकलकर, मनुष्य होकर उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। यहाँ कोई धर्मी जीव बीमार अवस्था में हो, शरीर जीर्ण हो गया हो और दूसरे समय मरकर देव का सुन्दर शरीर प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार क्षेत्र बदलता है, भाव बदलते हैं, भव बदलते हैं - यह क्या? इतना अधिक फेरफार! देखो, इस प्रकार जड़ और चेतन वस्तुओं में विचित्र पर्यायों का समूह प्रगट होता है।

अनन्त काल से अनन्त पर्यायें प्रगट होती हैं - ऐसे अगाध गम्भीरस्वभावी विश्व को आत्मा जान लेता है। ज्ञानस्वभावी परमात्मा, विश्व को ज्ञेयरूप करके प्रतापवन्त वर्तता है। विश्व में जड़ और चेतन अनन्त पदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्याय हैं, वे अनन्त होने पर भी उन अनन्त को एक समय में जान लेता है; इसलिए एक कहा है तथा 'प्रतपता' कहा है। स्वयं ही ज्ञान करने के लिये प्रतापवन्त हैं। अनेक ज्ञेय हैं; इसलिए ज्ञान होता है - ऐसा नहीं है किन्तु स्वज्ञेय तथा अनन्त परज्ञेयों को स्वयं एक समय में जान लेता है, प्रत्येक आत्मा ऐसी शक्तिवाला है।

अज्ञानी को प्रतापवन्त ज्ञानस्वभावी एक आत्मा का पता नहीं है, अपनी कीमत नहीं है। जैसे, किसी ग्रामीण मनुष्य को हीरा की कीमत कही जाए तो वह कहेगा कि इतनी अधिक कीमत! इसी प्रकार अज्ञानी को अनन्त शक्तिवान परमात्मस्वभाव की बात करने से आश्चर्य लगता है परन्तु भाई! तू ऐसा ही है। उस शक्ति का तोल, राग और शरीर से नहीं हो सकता, किन्तु एकमात्र ज्ञान से ही उसका तोल हो सकता है। परम आत्मा अकेला चैतन्यज्योतिस्वरूप है, ज्ञेयों की पर्यायें विचित्रता का समूहस्वरूप है, तथापि एक

पर्याय उल्टी-सीधी प्रगट नहीं होती - ऐसी समस्त पर्यायों को एक समय में जानने का अपना स्वभाव है - ऐसा ज्ञान अज्ञानी को नहीं है, कारण कि उसे आगम का अभ्यास नहीं है तथा सच्चे उपदेश द्वारा यह बात सुनी भी नहीं है।

इस प्रकार अज्ञानी जीव, परात्मज्ञान से शून्य है। आत्मा है, वह स्व है और शरीर, कर्म आदि पदार्थ पर हैं। चैतन्य का अनुसरण करके होनेवाला शुद्ध उपयोग, वह स्व है और दया-दान में अटकनेवाला विकारी मिश्रउपयोग, वह पर है - ऐसा परात्मज्ञान उसे नहीं है; अर्थात्, आत्मा-स्व और पर का भेदज्ञान जिसे नहीं है, उसे द्रव्यकर्म और नोकर्म का नाश नहीं है क्योंकि वह अज्ञानी जीव, द्रव्यकर्म के निमित्त से होनेवाले शरीर इत्यादि के साथ एकता का अनुभव करता है। शरीर ही मैं हूँ - ऐसा मानता है तथा मोह-राग-द्वेष के साथ एकता का अनुभव करता है।

विकार से आत्मा को लाभ मानना ही मोह के साथ एकत्वबुद्धि कहलाती है। विकार जितना ही मैं हूँ - ऐसा अज्ञानी मानता है। शरीर तथा पुण्य से आत्मा भिन्न है, इस प्रकार स्व-पर विवेक नहीं करके, शरीर और विकार के साथ एकत्वबुद्धि करना ही पर्यायबुद्धि है; इसलिए वह आत्मा बध्य है और मोहादि भावकर्म घातक है तथा मोहादि द्रव्यकर्म भी उसमें निमित्तभूत होने से घातक कहलाते हैं। इस प्रकार पर्यायदृष्टि होने के कारण बध्य-घातक के विभाव का सद्भाव है; अर्थात्, बध्य-घातकपना है।

आत्मा तथा विकार का विभाग नहीं, किन्तु एकपना है। यदि आत्मा और विकार का विभाग हो तो बध्य-घातकपना नहीं हो सकता, किन्तु पर्यायदृष्टि होने के कारण अज्ञानी जीव को द्रव्यकर्म तथा भावकर्म का नाश नहीं होता। इस प्रकार अज्ञानी जीव, अनन्त काल से परिभ्रमण करता है; इसलिए जिसे संसार में से बचना हो, उसे सत्समागम से आगम का अभ्यास करना चाहिए और स्व-पर भेदविज्ञान करना चाहिए। इस प्रकार स्व-पर के भेदविज्ञान में सच्चा आगम निमित्त होना चाहिए और आगम का उपदेश देनेवाला भी ऐसा होना चाहिए कि जो स्व-पर का भेदविज्ञान कराये। जिस जीव को स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं है, उसे धर्म नहीं होता।

आत्मा स्वयं परमात्मस्वरूप है - ऐसा ज्ञान जिसे नहीं है, उस जीव को अनादि

संसार से ज्ञेयों में तत्परतावाला ज्ञान है। शरीर, मन, वाणी, देव-शास्त्र-गुरु, पुण्य और पाप के विकल्प, ज्ञेय हैं और आत्मा, ज्ञाता है; तथापि ज्ञानस्वभावी परमात्मा में स्थिर नहीं रहते हुए अज्ञानी ने परपदार्थों पर दृष्टि की है। दया, दानादि विकार जो ज्ञेय हैं उनमें, और परपदार्थों में उसका ज्ञानस्वभाव स्थिर हो गया है। वह जानने-देखनेवाला नहीं रहकर परवस्तु में एकाग्र रहता है। पुण्य-पाप और परवस्तु की एकाग्रता में ज्ञानक्रिया पलटा खाती है किन्तु चैतन्य में एकाग्र नहीं होती; पर में प्रीति करती है; इस प्रकार अज्ञानी जीव एक के बाद एक ज्ञेय में तत्पर रहता है। शरीर में रोग आवे तो द्वेष में तत्परता; निरोग हो जाए तो ठीक, इस प्रकार राग में तत्परता; गन्दगी देखे तो द्वेष में तत्परता; फूल के गजरा देखे तो प्रीति में तत्परता रहा करती है। शरीर, ठण्डा पड़ने पर मानों में ठण्डा हो गया हूँ; इस प्रकार पर में तत्पर रहता है परन्तु ज्ञानस्वभाव में तत्परता नहीं है। शरीर पुष्ट होने पर मैं पुष्ट हुआ - इस प्रकार अपना उत्पाद हुआ मानता है और शरीर कृश होने पर मैं कृश हुआ - इस प्रकार अपना व्यय हुआ मानता है।

लक्ष्मी, स्त्री इत्यादि की प्राप्ति होने पर अपने को सुख का उत्पाद मानता है और स्त्री -पुत्रादि के मर जाने पर, पैसा समाप्त हो जाने पर सुख का विनाश मानता है। इस प्रकार अज्ञानी का ज्ञान प्रत्येक वस्तु के उत्पाद -विनाशरूप परिणमता है, अन्तरस्वभाव में एकाग्र हुए बिना ज्ञेयों में एकाग्र होकर खण्ड-खण्डरूप परिणमित होता है।

अनादि काल से जीव, पर में एकत्वबुद्धि करता है, वह मानता है कि रुपये खर्च करने से धर्म होता है परन्तु वह तो जड़ की अवस्था है, उसे आत्मा नहीं कर सकता; तथापि जड़ में तत्पर रहता है। मैंने उपवास किया; इसलिए धर्म हो गया - ऐसा मानता है। वह जीव, शरीर की क्रिया में तत्पर रहता है। दूसरे लोग साता पूछें तो इसे ठीक लगता है और तप का उद्यापन करें तो ठीक लगता है; इस प्रकार परज्ञेयों में अपने ज्ञान को खण्ड-खण्ड करता है। परमात्म ज्ञानस्वभाव को छोड़कर, पर में लक्ष्य करता है परन्तु स्वभाव में एकाग्रता के बिना पर में एकाग्रता का अभाव नहीं होता।

अनादि संसार से ज्ञप्ति, ज्ञेयनिष्ठ होने से वह (? !) प्रत्येक पदार्थ के उत्पाद, विनाशरूप परिणमने के कारण परिवर्तन पाया करती है। परमात्मनिष्ठता के बिना ज्ञप्ति

का वह परिवर्तन अनिवार्य है। आत्मा, परमात्मस्वरूप है, उसके भान बिना मिथ्याभ्रान्ति का नाश नहीं हो सकता। ज्ञान की पर्याय, जो अनेक ज्ञेयों पर लक्ष्य करके खण्ड-खण्ड होती है, उस खण्डपने का अभाव स्वभाव की एकाग्रता के बिना नहीं होता।

आत्मा, असंख्य प्रदेशी वस्तु है, स्वयं परमात्मस्वरूप है, उसका ज्ञानोपयोग परज्ञेयों में अटककर खण्ड-खण्ड होता है। उस खण्ड-खण्ड अटकनेवाली दशा का नाश, परमात्मस्वरूप के लक्ष्य से होता है। जिसे संसार का अभाव करना हो, यह बात तो उस जीव के लिये है। अरे! आत्मा ने चौरासी के अवतार में अपनी शान्ति का घर नहीं देखा है। इसे पर-घर की पड़ी है; स्व-घर की नहीं पड़ी है। कर्म अच्छे होंगे तो सब ठीक होगा - यह मान्यता विपरीत है; इसलिए जिसे कर्मों का क्षय करना हो, उसे सब प्रकार से आत्मा की उपासना करनी चाहिए। जिसे आगम की सेवा करनी हो, वह निम्न बिन्दुओं को ध्यान में रखे तो उसने आगम की सेवा की - ऐसा कहा जाता है -

1. जगत् की रुचि छोड़कर आगम का अभ्यास करना चाहिए।
2. कुदेव-गुरु-शास्त्र की रुचि सबसे पहले छोड़नी चाहिए।
3. सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की रुचि करके, वैसे उपदेशक से उस आगम को सुनना चाहिए और विरुद्ध उपदेशक से शास्त्र नहीं सुनना चाहिए।
4. यहाँ आगम अर्थात् द्रव्य आगम की बात है। वह आगम यह कहते हैं कि मेरी ओर का झुकाव भी लाभ का कारण नहीं है; अतः तू मेरी ओर का झुकाव छोड़कर, स्व की रुचि कर तो लाभ होगा और तभी आगम को निमित्त कहा जाएगा।

इस प्रकार आगम का मर्म समझना ही आगम की उपासना कही जाती है। ऐसी सेवा करे और स्व-पर भेदविज्ञान करे तो राग-द्वेषरूप भावकर्मों का नाश होता है और निमित्तरूप द्रव्यकर्मों का भी नाश होता है तथा ज्ञप्तिपरिवर्तनरूप कर्मों का भी नाश होता है। ज्ञप्तिपरिवर्तन कर्म अर्थात् ज्ञान अपने में एकाग्र नहीं होकर, अनेक ज्ञेयों में खण्ड-खण्डदशा हो, वह भी कर्म है। ज्ञप्ति अर्थात् ज्ञान की क्रिया; अनेक ज्ञेयों में खण्ड-खण्डरूप दशा होना भी कर्म है - ऐसा जानकर कर्मों का नाश करने के लिये स्वलक्ष्य

से सत्समागम में आगम का यथार्थ अभ्यास करना चाहिए। आगम का अभ्यास करने से स्व-पर भेदविज्ञान होता है तथा परात्मज्ञान हो तो समस्त कर्मों का नाश होता है।

यह जगत्, आगम की उपासनारहित है; अर्थात्, सच्चा वस्तुस्वरूप नहीं समझा है तथा आगम के उपदेशपूर्वक उसे स्व का अनुभव नहीं होता। देखो, यहाँ मात्र 'आगमपूर्वक' नहीं कहा है। ज्ञानी के श्रीमुख से आगम का उपदेश सुनकर निर्णय करे तो स्वानुभव होता है किन्तु अज्ञानी जीव को उसका भान नहीं है। अमूर्तिक आत्मा मैं हूँ और मूर्तिक कर्म, शरीरादि पर हैं - ऐसा भान नहीं है। कदाचित् शास्त्र सुनता है तो भी विपरीत अर्थ निकालता है। जानने-देखने के स्वभाव के कारण निर्मल उपयोग होकर अभेद हो, वही मैं हूँ और दया-दान का मिश्रित उपयोग, वह मैं नहीं हूँ; इस प्रकार जो स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं करता, उसे आगम उपदेशपूर्वक स्वानुभव नहीं है। मैं परिपूर्ण परमात्मस्वरूप हूँ, परिपूर्ण सिद्धसमान हूँ - ऐसा परात्मज्ञान भी वह नहीं करता।

इस प्रकार जिसे स्व-पर ज्ञान अथवा परात्मज्ञान नहीं है, उसे स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं है; इसलिए उसे मोहादि भावकर्मों का नाश नहीं होता। मैं प्रति समय अपने अज्ञान के कारण मर रहा हूँ और विकारीभाव मारनेवाले हूँ।

प्रश्न : जो वस्तु प्रगट हो, उसका घात किया कहलाता है तो क्या पर्याय में चैतन्य प्रगट हुआ है और राग-द्वेष ने उसका घात किया है ?

उत्तर : नहीं; जिसे स्वभाव का लक्ष्य नहीं है और निर्मलपर्याय प्रगट नहीं हुई है, उसे राग-द्वेष घातते हैं - ऐसा कहते हैं। निर्मलपर्याय प्रगट है और विकार उसका घात करता है - ऐसा नहीं है। आत्मा, घातने योग्य कब हुआ ? जब स्वभाव का ज्ञान नहीं रहे और विकार की रुचि करे, वही घात -योग्य हुआ और तब विकार को और निमित्तरूप जड़कर्मों को घातक कहा जाता है। ऐसी पर्यायबुद्धिवाले जीव को भावकर्म और द्रव्यकर्म का नाश नहीं होता।

आत्मा, स्वयं परमज्ञानस्वभावी है, उसमें एकाग्रता के बिना ज्ञप्तिपरिवर्तन का अभाव नहीं होता; इसलिए ज्ञान की खण्ड-खण्डदशा का नाश नहीं होता। जीव, वस्तुस्वरूप को

नहीं समझे और मात्र रटे कि 'अधमाधम अधिको पतित सकल जगत् मां हूँ'। वस्तुतः यह वाक्य अवस्था का ज्ञान कराता है, पर्याय का ज्ञान कराकर अधमपर्याय में खड़ा नहीं रखता; अपितु तू पामरतारहित परमात्मस्वरूप है – ऐसा ज्ञान कराता है तथा सिद्धासिद्धिमम् इसंतु – ऐसा बोलता है परन्तु भाई! तेरा सिद्धपद अन्तर में है; अन्य कोई सिद्ध तुझे कुछ दे – ऐसा नहीं है। स्वयं सिद्धदशा प्रगट करे तो सिद्धभगवान पर निमित्तपने का आरोप आता है।

इसलिए मोक्षार्थी जीवों को जैसा है, वैसा शास्त्र का अर्थ समझना चाहिए और सर्व प्रकार से सर्वज्ञ द्वारा कथित आगम का सेवन करना चाहिए। यह सेवा कब की कहलाये? शास्त्र के समीप दीपक जलाये अथवा शास्त्रों की पूजा करे तो उपासना की कहलाये? नहीं, अनन्त काल से जो वस्तुस्वरूप को नहीं समझा था, उसकी समझ ही शास्त्र की सेवा कहलाती है। ●

(सद्गुरु प्रवचनप्रसाद, (हस्तलिखित दैनिक))



जङ्गल में भी मुनिराज परम सुखी

किसी को ऐसा लगे कि जङ्गल में मुनिराज को अकेले कैसे अच्छा लगता होगा? अरे भाई! जङ्गल के बीच निजानन्द में झूलते मुनिराज तो परम सुखी हैं; जगत के राग-द्वेष का शोरगुल वहाँ नहीं है। किसी परवस्तु के साथ आत्मा का मिलन ही नहीं है, इसलिए पर के सम्बन्ध बिना आत्मा स्वयमेव अकेला आप अपने में परम सुखी है। पर के सम्बन्ध में आत्मा को सुख हो —ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने ऐसे आत्मा का अनुभव करते हैं और उसी को उपादेय मानते हैं।

— गुरुदेवश्री के वचनामृत, १७६, पृष्ठ १०९

आगम में प्रवृत्ति ही मार्ग है

परमपूज्य दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्ददेव ने श्रमण को एकाग्रतायुक्त कहा है और एकाग्रता पदार्थ के निश्चयवान के होती है; पदार्थ का निश्चय आगम से होता है; इसलिए आगम में प्रवृत्ति मुख्य है।

आचार्यदेव के इस भाव को स्पष्ट करनेवाली प्रवचनसार गाथा २३२ एवं टीका पर हुए आध्यात्मिक सन्त पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मङ्गल प्रवचन इस प्रकार है—

एयगगदो समणो एयगंगं णिच्छिदस्स अत्थेसु ।
णिच्छित्तो आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ॥

अर्थात्, श्रमण एकाग्रता को प्राप्त होता है; एकाग्रता पदार्थों के निश्चयवान् के होती है; (पदार्थों का) निश्चय आगम के द्वारा होता है; इसलिए आगम में व्यापार मुख्य है।

अज्ञानी जीव, मोह के कारण पर में एकाग्रता करता है। लक्ष्मी, स्त्री, परिवार हो तो मुझे सुख होता है - ऐसी कल्पना करता है और आर्त-रौद्रध्यान करता है परन्तु यह सब तो अकुलता है, दुःख है। परलक्ष्मी दया -दानादि परिणाम करके पुण्य में एकाग्रता करता है, वह भी दुःख ही है। वहाँ भी अज्ञानी जीव, मन्द आकुलता का वेदन कर रहा है। परपदार्थ से रहित, पुण्य-पाप से रहित ज्ञानस्वभाव एक ही सुखकर है - ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करे, एकाग्रता करे तो उसमें से सुख उत्पन्न होता है क्योंकि उसमें आत्मा एक को ही अग्र

किया है, उस एकाग्रता के लक्षणवाला मोक्षमार्ग के साधन, शास्त्र के अभ्यास में प्रवृत्ति कराते हैं -

मुनिराज, स्वरूप में एकाग्रता करके, एक आत्मा को अग्र करके लीनता करते हैं। मन -वाणी-देह से आत्मा भिन्न है — ऐसे भानसहित अन्तररमणता करनेवाले मुनि हैं। अज्ञानी जीव, पर में, राग-द्वेष में एकाग्रता करता है। आत्मा में पर का अभाव है - ऐसा प्रथम भान होना चाहिए। छहों द्रव्य स्वतन्त्र हैं, नौ तत्त्व स्वतन्त्र हैं - ऐसे पृथक्-पृथक् आगम द्वारा ज्ञान करे तो समकित होता है। छह द्रव्य और नौ तत्त्व का स्वरूप ओंकार ध्वनि में आया और आगमों में लिपिबद्ध हुआ, उसका सम्यक् प्रकार से अभ्यास करना चाहिए। वीतराग के नाम पर किसी ने कल्पित शास्त्र रचे हैं; इसलिए परीक्षा करके वीतराग के आगम क्या हैं? - यह जानना चाहिए और उन शास्त्रों द्वारा यथार्थ वस्तुस्वरूप जानना चाहिए। शास्त्र अभ्यास से तत्त्वों की प्रतीति होने के पश्चात् मुनिपना ले, मुनिपने में एकाग्र हो तो वीतरागता प्राप्त हो और वीतरागता होने के पश्चात् सिद्धदशा को प्राप्त करे - यह क्रम है।

प्रथम तो, श्रमण वास्तव में एकाग्रता को प्राप्त ही होता है; एकाग्रता पदार्थों के निश्चयवान् के ही होती है और पदार्थों का निश्चय, आगम द्वारा ही होता है; इसलिए आगम में ही व्यापार प्रधानतर; अर्थात्, विशेष प्रधान है; दूसरी गति; अर्थात्, अन्य कोई मार्ग नहीं है।

प्रथम अर्थात्, मुद्दे की बात तो यह है कि मुनिराज अपने ज्ञानस्वभाव की एकाग्रता में; अर्थात्, स्वरूपानन्द की रमणता में होते हैं। मुनि, जगत् के झंझट में नहीं पड़ते। देखो, यह मुनिदशा! जिसे गणधर भी नमस्कार-मन्त्र बोलते समय नमस्कार करते हैं, वह मुनिपद कैसा होगा? जिसमें परपदार्थ में तो एकाग्रता नहीं, परन्तु महाव्रतादि के विकल्प उत्पन्न होते हैं, उनमें भी एकाग्रता नहीं है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, उसमें एकाग्रता उन्हें होती है कि जिन्होंने पदार्थों के स्वरूप का निश्चय किया हो। शरीरादि की अवस्था जड़ से होती है, आत्मा से नहीं तथा जीव कमाने का भाव करता है; इसलिए पैसा आता है - ऐसा नहीं है। जड़, जड़ के कारण क्षेत्रान्तर होकर आता है; जीव के अशुभभाव से नहीं आता।

जिसे स्वरूप का निश्चय हुआ हो, वह यह नहीं मानता कि मैं शरीर को ठीक रख सकता हूँ। आत्मा, अरूपी है और शरीर, रूपी है, दवा भी रूपी है, दवा से भी शरीर की अवस्था निरोग नहीं होती। इस प्रकार वह प्रत्येक परमाणु को स्वतन्त्र मानता है। आत्मा को स्वतन्त्र मानता है तथा कर्म, जड़ हैं, उनके उदय से आत्मा को राग होता है - ऐसा नहीं मानता है। कर्म पृथक् हैं, अवस्था में राग अपने अपराध से होता है; तथापि स्वभाव में राग नहीं है। रागरहित स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान से धर्म है; इस प्रकार जिसे छह द्रव्यों और नौ तत्त्वों का यथार्थ निश्चय है, उसे ही एकाग्रता होती है।

जो जीव, जड़ की क्रिया आत्मा से होना मानता है, कर्म से परिभ्रमण होना मानता है, पुण्य से धर्म होना मानता है, उसे पदार्थों का निश्चय नहीं है और पदार्थों के निश्चय के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता तथा सम्यग्दर्शन के बिना एकाग्रता नहीं होती; इसलिए पदार्थों के स्वरूप का निर्णय करनेवाले को ही एकाग्रता है।

उन पदार्थों का निर्णय करने के लिए भगवान द्वारा कथित आगम का अभ्यास करना चाहिए। भगवान की ओम् ध्वनि में आया हुआ पदार्थों का स्वरूप और उस स्वरूप को यथार्थ बतानेवाले वीतरागी शास्त्रों में व्यापार ही उपाय है। जिस शास्त्र में, शरीर की क्रिया आत्मा से होती है, पुण्य से धर्म होता है - ऐसा लिखा हो, वह शास्त्र वीतराग का नहीं है। नव तत्त्वों का पृथक्-पृथक् यथार्थ स्वरूप बतानेवाले ही वीतराग के शास्त्र हैं। उनमें ही व्यापार; अर्थात्, प्रवृत्ति करना ही मार्ग है; अन्य कोई मार्ग नहीं है।

साधु कहो, एकाग्रता लक्षणवाली दशा कहो, मोक्षमार्ग कहो - सब एक ही है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि का पिण्ड है, उसमें रमणता ही मोक्षमार्ग है। वह रमणता, पदार्थों के निश्चयवन्त पुरुषों को होती है; उन पदार्थों का निश्चय, आगम के अभ्यास से होता है; इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है।

उसका कारण यह है कि - वास्तव में आगम के बिना पदार्थों का निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि आगम ही, जिसके त्रिकाल (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप) तीन लक्षण प्रवर्तते हैं - ऐसे सकल पदार्थ -सार्थ के यथातथ्य ज्ञान द्वारा सुस्थित अन्तरङ्ग से गम्भीर है; अर्थात्, आगम का ही अन्तरङ्ग, सर्व पदार्थों के समूह के

यथार्थज्ञान द्वारा सुस्थित है; इसलिए आगम ही समस्त पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से गम्भीर है।

देखो, यहाँ चरणानुयोग में निमित्त की प्रधानता से कथन है। आगम, ज्ञान में निमित्त है; इसलिए आगम के बिना निर्णय नहीं होता - ऐसा निमित्त की प्रधानता से कथन है। वस्तुतः आगम के बिना पदार्थों का निश्चय नहीं किया जा सकता। पदार्थ तीनों काल उत्पाद-व्यय - ध्रौव्यरूप प्रवर्त रहे हैं। समझनेवाला जीव ही नयी अवस्थारूप उत्पाद होता है, पूर्व अवस्थारूप से व्यय होता है और स्वयं नित्य टिका रहता है तथा उपदेश / जड़ परमाणु भिन्न हैं, वे भी नयी अवस्थारूप से उत्पन्न होते हैं, पूर्व अवस्था का व्यय होता है और परमाणु ध्रुव रहते हैं - ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीन लक्षणोंवाले पदार्थों के ज्ञान द्वारा आगम सुस्थित अन्तरङ्ग से गम्भीर है।

देखो, इसमें आगम कैसा होना चाहिए? - यह बात भी आ जाती है। प्रत्येक पदार्थ का अपने कारण से उत्पाद होता है, अपने कारण से व्यय होता है और स्वयं सदृश्य टिका रहता है। इस प्रकार आगम, समस्त द्रव्यों का स्वरूप बताता है परन्तु निमित्त आवे तो उपादान में उत्पाद हो और निमित्त नहीं आवे तो उत्पाद नहीं हो - ऐसा पराधीन वस्तुस्वरूप बतानेवाला, आगम नहीं है।

वह आगम, सच्चे देव-निर्ग्रन्थ गुरु इत्यादि का सत्य लक्षण बताता है। चौथे गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक की भूमिका का लक्षण जैसा है, वैसा बताता है, वही आगम है। ऐसा आगम, सर्वज्ञ के मार्ग के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं हो सकता। वह आगम, समस्त पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से गम्भीर है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि शरीर, जीव के बिना क्यों नहीं चलता ?

समाधान - भाई! शरीर में उत्पाद-व्यय-ध्रुव - ऐसे तीन लक्षण होते हैं या नहीं? क्या वे तीनों लक्षण, आत्मा के आधार से हैं? वह पदार्थ है या नहीं? यदि वह पदार्थ है तो उसके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य उसके कारण हैं; आत्मा के कारण नहीं। शरीर का चलना, गिरना, स्थिर रहना, वह शरीर के कारण है; आत्मा के कारण नहीं। शरीर में नयी अवस्था का उत्पाद होता है, पूर्व अवस्था का व्यय होता है और परमाणु, ध्रुव रहते हैं।

अधिगमज सम्यग्दर्शन भी आत्मा को स्वयं से हुआ है, गुरु के कारण नहीं हुआ, क्योंकि शिष्य के आत्मा में उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप तीन लक्षण प्रवर्तते हैं; उसके मिथ्यात्व का व्यय होता है, सम्यग्दर्शन का उत्पाद होता है और जीव, ध्रुव रहता है। सम्यग्दर्शनरूपी उत्पाद होना, वह द्रव्य का अपना लक्षण है, अपने कारण उत्पाद हुआ है परन्तु गुरु के कारण उत्पाद नहीं हुआ है। गुरु के कारण ज्ञान होता है - ऐसा माननेवाला त्रिलक्षणी पदार्थ का स्वरूप नहीं जानता।

अग्नि के निमित्त से कपड़ा जलता है, उसमें कपड़े के परमाणु में स्पर्शगुण की पर्याय उष्णरूप परिणमती है क्योंकि उष्णरूप होने का उसका स्वकाल है। उष्णता का उत्पाद, वह वस्त्र के परमाणु का लक्षण है, वहाँ अग्नि तो मात्र निमित्त का ज्ञान कराने के लिये है। रोटी के टुकड़ेरूप अवस्था हुई, वह उत्पाद उसके कारण है; मुँह, दाँत अथवा जीव की इच्छा के कारण रोटी के टुकड़े नहीं होते। प्रत्येक परमाणु अपने लक्षणसहित अपने में परिणमित होता है। दाँत का उत्पाद-व्यय-ध्रुव, दाँत में प्रवर्तता है और रोटी का रोटी में। जिस वस्तु की बात चलती हो, उस पर लक्ष्य जाना चाहिए। वह उत्पाद-व्यय-ध्रुव लक्षण, उसी वस्तु को बताते हैं; दूसरी संयोगी वस्तु को नहीं बताते।

अहो! वस्तुस्वरूप स्वतन्त्र है। सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान का परिपूर्ण विकास हुआ और निमित्तरूप से दिव्यध्वनि खिरी, उसमें स्वतन्त्र वस्तु का स्वभाव जैसा है, वैसा देखा, जाना और वाणीरूप आया। प्रत्येक पदार्थ स्वयंसिद्ध है, वह एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप प्रवर्त रहा है। वह एकरूप कूटस्थ नहीं है; उसका परिणमनशील स्वभाव है।

कोई पदार्थ किसी का कुछ नहीं कर सकता। शरीर की रोगी अवस्था में से निरोग अवस्था, जीव नहीं कर सकता। प्रत्येक परमाणु की पर्याय स्वतन्त्र हो रही है। परमाणु, अजीव-अचेतन पदार्थ है, उसका जीव कुछ नहीं कर सकता। ऐसे भान बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान नहीं होते हैं और उनके बिना चारित्र प्रगट नहीं होता; चारित्र के बिना केवलज्ञान नहीं होता और केवलज्ञान के बिना सिद्धदशा नहीं होती।

इसलिए जिसे मुक्ति प्राप्त करना हो, उसे केवलज्ञान प्रगट करना; केवलज्ञान प्रगट करने के लिए वीतरागता लाना; वीतरागता के लिए चारित्र अङ्गीकार करना; चारित्र के

लिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट करना; उस सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान के लिए पदार्थों के स्वरूप का निश्चय करना और पदार्थों के स्वरूप का निश्चय करने के लिए आगम का अभ्यास करना चाहिए।

अज्ञानी जीव, वस्तुस्वरूप नहीं समझते; इसलिए वस्तुस्वरूप से विपरीत कहते हैं। भाषा का उत्पाद उसके स्वयं के कारण होता है, तथापि अज्ञानी मानता है कि आत्मा है तो भाषा बोली जाती है। भाई! भाषा का त्रि लक्षणी स्वभाव है, वह आत्मा के कारण नहीं है। जीव अभिमान करता है कि मैं शरीर का, देश का, परिवार का कुछ कर सकता हूँ, यह भाव मिथ्या है। परवस्तु का आत्मा में अभाव है, परवस्तु उसके उत्पाद-व्यय-ध्रुव लक्षणों से टिक रही है, दूसरा उसमें क्या करेगा ?

प्रश्न - आगम का अभ्यास आवश्यक है - ऐसा तो आप कहते हो न ?

उत्तर - भाई! यह तो निमित्त के कथन हैं। जिस जीव की अपनी ज्ञान की योग्यता होती है, उसे आगम की उपस्थिति होती है परन्तु आगम से ज्ञान होता है - ऐसा आचार्य को कहना नहीं है। आगम भी यह बात नहीं कहता कि मुझसे तुम्हें ज्ञान होता है। आगम तो कहता है कि तेरा उत्पाद-व्यय-ध्रुव तुझमें है, तेरे ज्ञान का उत्पाद तुझमें प्रवर्तता है, मुझमें; अर्थात्, आगम में नहीं प्रवर्तता। इस प्रकार आगम गम्भीररूप से सच्चे ज्ञान से सुस्थित है। आगम यही कहता है कि जैसी जिसकी ज्ञान की योग्यता है, उसे ज्ञानी की वाणी अथवा आगम निमित्तरूप होता है परन्तु निमित्त से ज्ञान का उत्पाद नहीं होता।

प्रत्येक वस्तु स्वयंसिद्ध है, जो नित्य हो, उसका कोई कर्ता नहीं हो सकता। यदि ईश्वर को कर्ता कहा जाए तो पदार्थ नित्य नहीं रहता और यदि पदार्थ पलटता नहीं हो तो दुःख का अभाव करके सुख उत्पन्न करना - ऐसा नहीं हो सकता। इसलिए पदार्थ पलटता है और जो पदार्थ पलटता है, उसे वर्तमान में दूसरा नहीं पलटा सकता। त्रिकाली पदार्थ है, उसका कोई कर्ता नहीं है और परिणमनशील है; इसलिए उसे वर्तमान में किसी पलटानेवाले की आवश्यकता नहीं है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र हैं।

बर्तन पर नाम लिखने की अवस्था उन परमाणुओं के कारण हुई है; जीव से नहीं

हुई, यन्त्र के कारण नहीं हुई। जीव, ध्यान रखे तो रोग मिटता है - ऐसा भी नहीं है किन्तु शरीर की अवस्था स्वतन्त्र है, दवा स्वतन्त्र है, जीव का भाव स्वतन्त्र है; प्रत्येक के उत्पाद-व्यय - ध्रुव अपने-अपने में है। कर्म के कारण विकार नहीं होता, किन्तु जीव विकार करता है तो कर्म को निमित्त कहा जाता है। जीव के उत्पाद-व्यय-ध्रुव जीव से हैं, कर्म के कारण नहीं। भगवान की मूर्ति के कारण जीव को शुभभाव होता हो तो चोर लोग मूर्ति की चोरी करते हैं, उन्हें शुभभाव क्यों नहीं होता ? जो जीव अपने में जैसे भाव का उत्पाद करता है, उसमें वह पदार्थ निमित्त कहलाता है।

प्रत्येक वस्तु नित्य रहकर प्रति समय स्वतन्त्ररूप से परिणमन कर रही है - यह वस्तु का स्वरूप है। ऐसा सूक्ष्म परिणमन सर्वज्ञ के ज्ञान के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं ज्ञात नहीं हो सकता। अपूर्ण और रागी जीवों के ज्ञान में वस्तु का स्वरूप पूर्ण नहीं आ सकता। इस प्रकार आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी है, उसका निर्णय करके एकाग्रता करना, वह मोक्षमार्ग है और उसका निर्णय, सर्वज्ञ के आगम के बिना नहीं हो सकता; इसलिए सर्वज्ञ के आगम का अभ्यास करना चाहिए।

और, पदार्थों के निश्चय के बिना एकाग्रता सिद्ध नहीं होती; क्योंकि जिसे पदार्थों का निश्चय नहीं है, वह (१) कदाचित् निश्चय करने की इच्छा से आकुलता प्राप्त चित्त के कारण सर्वतः दोलायमान (डाँवाडोल) होने से अत्यन्त तरलता (चञ्चलता) प्राप्त करता है, (२) कदाचित् करने की इच्छारूप ज्वर से परवश होता हुआ विश्व को; अर्थात्, समस्त पदार्थों को स्वयं सर्जन करने की इच्छा करता हुआ विश्व-व्यापाररूप अर्थात् समस्त पदार्थों की प्रवृत्तिरूप परिणमित होने से प्रतिक्षण क्षोभ की प्रगटता को प्राप्त होता है।.....

पदार्थों का जैसा स्वरूप है, वैसा जाने बिना स्वरूप में एकाग्रता नहीं हो सकती। जिन्हें पदार्थों का निश्चय नहीं है, वे डाँवाडोल रहा करते हैं। यह सत्य होगा या दूसरा सत्य होगा - ऐसी आकुलता में मिथ्यात्वसहित चञ्चलता को प्राप्त करते हैं। आत्मा में कर्म के कारण विकार होता होगा या स्वयं के कारण होता होगा ? मेरा कल्याण मुझसे होता है या निमित्त से होता है ? यह शरीर, शरीर के कारण चलता होगा या आत्मा से चलता होगा ?

आत्मा न हो तो शरीर चलता नहीं दिखता। व्यापार में जीव अपनी होशियारी से कमाता होगा या पुण्य से कमाता होगा? इस प्रकार पदार्थ के स्वरूप का निर्णय किये बिना, डाँवाडोल रहता है। प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है, स्वयं के कारण ही परिणमित होती है। जीव की चतुराई से पैसा नहीं आता। शरीर, शरीर के कारण चलता है; आत्मा के कारण नहीं।

प्रश्न - सर्वज्ञ के आगम मिलने पर ही यह सब ज्ञान होता है न?

उत्तर - आगम ऐसा कहते हैं कि तेरा आत्मा तेरे सम्यक्ज्ञान के उत्पाद लक्षण से प्रवर्त रहा है। मैं (आगम) आया, इसलिए तुझे सम्यक्ज्ञान हुआ - यह आगम नहीं कहता है। जीव, ज्ञान करे तो आगम को निमित्त कहा जाता है। आगम यही कहता है कि ज्ञान के लिए मेरा भी लक्ष्य छोड़ और अपने में देख।

प्रश्न - आगम का विवेक तो रखना चाहिए न?

उत्तर - आगम जैसा कहता है, वैसा मानना, विवेक है। उत्पाद लक्षण तेरे द्रव्य को बतलाता है परन्तु मैं/आगम तेरे नजदीक हूँ - ऐसा नहीं बतलाता। प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है - ऐसा निर्णय करनेवाले ने ही वास्तव में आगम का विवेक किया है।

अनादि काल से जीव को स्वतन्त्रता की बात नहीं जँचती; पराधीनता और भिखारीपन ही रुचता है। कौन किसका भला-बुरा कर सकता है? अपना भला अथवा बुरा अपने से होता है; पर से नहीं होता। पर का सम्पर्क साधने की बात अज्ञानी करता है परन्तु परजीव को नहीं साधा जा सकता। स्वयं अपने में भाव करता है। भाव का उत्पाद अपने को बतलाता है; पर को नहीं। प्रत्येक समय की पर्याय स्वतन्त्र है, अन्य चीजें भासित हों परन्तु अन्य चीजें हैं तो उत्पाद होता है - ऐसा नहीं है।

देखो, यहाँ अन्य वस्तुओं से इन्कार नहीं कर रहे हैं। निमित्त है अवश्य, परन्तु निमित्त किसका? उपादान में कार्य हो तब या उसके पहले? जिस समय काम हो, उस समय ही निमित्त है, पहले-बाद में है ही नहीं। निमित्त आने पर उपादान में कार्य हो अथवा उपादान में काम होने के पश्चात् निमित्त कहलाये - ऐसा आगे-पीछे नहीं है। एक ही समय में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है और एक समय का छद्मस्थ को कहाँ ख्याल में

आता है परन्तु उत्पादलक्षण से स्व की प्रतीति होने पर, स्व-परप्रकाशक स्वभाव खिलने से, पर-प्रकाशक ज्ञान में परपदार्थों का ज्ञान हो जाता है परन्तु पर से अपने में कुछ भी होता है - ऐसा ज्ञान नहीं होता। नैमित्तिक में स्वतन्त्र कार्य होता है, तब परपदार्थ; अर्थात्, निमित्त की उपस्थिति उसके स्वयं के कारण होती है। ऐसे स्वतन्त्र ज्ञान का निर्णय नहीं होने से अज्ञानी जीवों के मन में डाँवाडोल स्थिति बनी रहती है।

जिसे आत्मा की पूर्ण पवित्रता अपेक्षित हो, उसे आत्मवस्तु क्या है? यह जानना चाहिए। अपने शुद्धस्वभाव को चूककर, शरीर-मन-वाणी ही मैं हूँ और विकारीभाव होते हैं, वही मैं हूँ अथवा उनसे मुझे लाभ है - ऐसी भ्रान्ति करना संसार है, दुःखदायक है। उस संसार; अर्थात्, विकारीभाव का स्वभाव के लक्ष्य से अभाव करना और पूर्णानन्द शुद्धदशा प्रगट करना, मोक्ष है। जीव को सुखी होना है, इससे यह निश्चित होता है कि वह वर्तमान में सुखी नहीं है। यदि सुखी हो तो अन्य वस्तुओं की आवश्यकता नहीं रहे। सुख के लिए स्त्री, परिवार, पैसे की आवश्यकता पड़ती है - यह मान्यता, अज्ञान और दुःख है।

जब तक जीव, परवस्तुओं के सन्मुख देखा करता है, तब तक जीव को शान्ति नहीं मिलती। आत्मा जितने काल रहे, उतने काल भी वे वस्तुएँ एक क्षेत्र में भी नहीं रहतीं; इसलिए जीव का सुख, संयोगी पदार्थों में नहीं हो सकता। अतः जिसे शान्ति और सुख अपेक्षित हो, उसे स्वयंसिद्ध आत्मपदार्थ का लक्ष्य करना जरूरी है। प्रति समय जड़ और चेतन में सूक्ष्म परिणमन हुआ करता है - ऐसे सूक्ष्म परिणमन को जाननेवाला ही सर्वज्ञ हो सकता है। रागी अथवा अल्पज्ञ, सम्पूर्ण सूक्ष्म वस्तुस्वरूप को नहीं जान सकते।

उन सर्वज्ञ भगवान को सर्वज्ञपद प्रगट होने के पश्चात् ओम् ध्वनि निकली, उस वाणी को आगम कहते हैं और उस वाणी के आधार से मुनियों ने शास्त्रों की रचना की, उसे भी आगम कहते हैं। ऐसे आगम के अभ्यास के बिना पदार्थों का निर्णय नहीं होता। जिस प्रकार घर की पूँजी का विवरण अपने पिता बहियों में लिख गये हों तो उस पूँजी की खोज बहियाँ देखकर करते हैं; इसी प्रकार चौदह ब्रह्माण्ड में क्या-क्या वस्तुएँ हैं? इन

सबका विवरण सर्वज्ञ के शास्त्रों में हैं, उन शास्त्रों में खोज करना चाहिए। आत्मा क्या है ? पुद्गल क्या है ? कर्म क्या है ? यह सब जानना चाहिए और जानकर पदार्थों का निर्णय करना चाहिए।

देखो, आगम का अभ्यास करके पदार्थों का निर्णय करना चाहिए। जैसे, फिटकरी और मिश्री की दो डली हों; उसमें मक्खी, मिश्री पर चिपकती है और फिटकरी को छोड़ देती है। मक्खी जैसा मनरहित प्राणी भी, कौन सा पदार्थ छोड़ने योग्य है और किस पदार्थ का ग्रहण करने से मिठास आयेगी – ऐसा विवेक करता है तो फिर संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव, सुख किसमें है ? इसका विवेक न करे तो सुख की प्राप्ति नहीं होती।

प्रत्येक पदार्थ, स्व से अस्तिरूप है और पर से नास्तिरूप है। यदि ऐसा न हो तो पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं रह सकता है। मैं आत्मारूप से हूँ और अनन्त पररूप से नहीं हूँ तथा मैं शुद्ध हूँ और पुण्य-पाप के विकार मुझे नहीं हैं – ऐसा निर्णय करना चाहिए। अज्ञानी ने अनादि काल से माना है कि पैसे के बिना मेरा जीवन नहीं चल सकता, शरीर के बिना नहीं चल सकता – ऐसी विपरीतमान्यता की है। पदार्थों के निर्णय बिना इस भ्रान्ति का अभाव नहीं होता और पदार्थों का निर्णय, शास्त्र से होता है।

पदार्थों का निर्णय किये बिना स्वरूप में एकाग्रता नहीं होती, कारण कि जिसे पदार्थों का निश्चय नहीं है, वह कई बार निश्चय करने की इच्छा से आकुलता प्राप्त करता है और अपनी स्थिति डाँवाडोल होने के कारण चञ्चलता को प्राप्त होता है। मेरा सुख मुझमें होगा या पर पदार्थ में होगा ? भाई ! यदि परपदार्थ अपने में हो तो अपने साथ सदा रहना चाहिए; कभी भी पृथक् नहीं होना चाहिए।

यह पैसा मेरे कारण आता होगा या ... ? भाई ! यदि आत्मा के आधार से पैसा आता हो तो पैसा स्वयंसिद्ध पदार्थ नहीं रहता। निमित्त से धर्म होता होगा या मुझसे धर्म होता होगा ? यह वस्तु है, इसका कोई कर्ता होगा ? अरे ! यदि इसका कोई कर्ता हो तो पदार्थ नित्य नहीं रहता। मैं, पहले नहीं था – ऐसा कहें तो जो वस्तु पहले न हो, वह तीनों काल नहीं हो सकती। यह ज्ञान, पर्याय पर से होता है या मुझसे होता है ? भाई ! यदि पर से ज्ञान हो तो स्वयं ज्ञानरहित वस्तु सिद्ध हुई, परन्तु ऐसा नहीं है। जीव का निश्चय करने से

आकुलता घटती है। यह आत्मा, शरीररहित अकेला कैसे रहता होगा ? दुकान पर बैठने से पैसा आता है या नहीं बैठने से ? अज्ञानी को इसका निर्णय नहीं है। भाई ! पैसा प्रयत्न से नहीं आता, परन्तु पूर्व प्रारब्ध के योग से आता है। पाप में-विषय में सुख होगा या पुण्य में सुख होगा या खाने-पीने में सुख होगा ? मिठास मुझमें होगी या जड़ में ? इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय इन प्रत्येक का निर्णय नहीं किया।

आत्मा, कब से होगा ? क्या गुण, कल्पना है ? मेरी धर्मरूप अवस्था, यात्रा से होगी या आत्मा के आश्रय से होगी ? जीव की काललब्धि पकती है, तब धर्म होता होगा या पुरुषार्थ से होता होगा ? इसका निर्णय नहीं है। इस कारण अज्ञानी सदैव डाँवाडोल हो जाता है।

जिसे मोक्ष की प्राप्ति करना हो, उसे मोक्षमार्ग अङ्गीकार करना चाहिए। मोक्षमार्ग के लिए स्वरूप में एकाग्रता करनी चाहिए। एकाग्रता के लिए पदार्थों का निर्णय करना चाहिए। पदार्थों का निर्णय करने के लिए सर्वज्ञ के आगम का अभ्यास करना चाहिए, परन्तु जो जीव, आगम का अभ्यास करके पदार्थों का निर्णय नहीं करता, वह डाँवाडोल होने से अत्यन्त चञ्चलता को प्राप्त करता है।

कदाचित् वह अज्ञानी जीव, पर का करनेरूप भाव करता है, मैं शरीर का कुछ करता हूँ, पर की दया पालता हूँ - ऐसा भाव करता है। दूसरों का उद्धार करूँ, दूसरे को पार करूँ, परपदार्थ के द्वारा मेरा परिणमन होता है, मेरे बिना देश, परिवार, पुत्रों का काम कैसे चलेगा ? मेरे बिना इस प्राणी की हिंसा हो जाती; इस प्रकार पर को करने का भाव, वह ज्वर के समान है।

देखो; जैसे, जगत् कर्ता की मान्यतावाला यह मानता है कि ईश्वर जगत् का कर्ता है; इसी प्रकार यह मिथ्यादृष्टि जैन नाम धराकर भी परपदार्थ की पर्याय का कर्ता होता है। परपदार्थ की अवस्था ज्ञेय है और मैं ज्ञाता हूँ - ऐसा भूलकर; पदार्थों की सृष्टि-उत्पत्ति अपने से होती है - ऐसा मानता है। एक पदार्थ की एक समय की अवस्था मैं कर सकता हूँ - ऐसा माननेवाला तीन काल के पदार्थों की अवस्थाएँ मुझसे होती हैं - ऐसा मान रहा है। वस्तुतः वह जगत् कर्ता की मान्यतावाले की तरह मिथ्यादृष्टि है।

जैसे, बकरी 'मैं... मैं' करती है; उसी प्रकार अज्ञानी जीव, शरीर को 'मैं' सम्भाल रखता हूँ; पर की अवस्था जो होनेवाली नहीं थी, वह 'मुझसे' हुई; 'मैं' पर की दया पालता हूँ — इस प्रकार पर का करनेरूप अभिमान करता है। बुखार आया तो इंजैक्शन से मिटेगा... डॉक्टर को बुलाओ.... इत्यादि प्रकार से आकुलता करता है। कोई मनुष्य मर जाए तो कहता है कि तुम्हें सेवा करना नहीं आया, दवा करना नहीं आया; मैं होता तो ऐसा कर देता, इस प्रकार अहङ्कार करता है।

वस्तुतः परपदार्थ उसके स्वयं के कारण पलटता है — ऐसा नहीं मानकर, जो यह मानता है कि मैं उसे पलटा देता हूँ अथवा पर की एक समय की पर्याय स्वयं कर सकता हूँ — ऐसा माननेवाला जीव, इस जगत् के अनन्त आत्माओं का तथा अनन्त पुद्गल परमाणुओं का मैं कर सकता हूँ और वे मेरे आधार से हैं — ऐसा मानता है, तथापि वे पदार्थ इसके आधीन होकर परिणमित नहीं होते।

महिलाएँ मानती हैं कि मैं रोटी की अवस्था करती हूँ, पुरुष मानते हैं कि मैं पैसा कमा सकता हूँ, ब्याज पैदा कर सकता हूँ — इत्यादि। इस प्रकार अपनी स्वरूपलक्ष्मी को चूककर, जड़लक्ष्मी के प्रति मोह करते हैं। वस्तुतः पर का होना, पर के आधार से है और स्व का होना, स्व के आधार से है। आत्मा, पर के कर्तापने से रहित है, इसका निर्णय सत्समागम द्वारा नहीं करता।

अज्ञानी मानता है कि यदि मैं दुकान पर उपस्थित होता तो रुपये जाने नहीं देता; मैंने इस जीव की दया का पालन किया; यदि मैं वहाँ गया होता तो उस जीव का काम सुधार देता; इस प्रकार प्रति समय क्षोभ को प्राप्त करता है। अपने ज्ञान-दर्शन इत्यादि अनन्त गुणों का आदर करके अपने में टिकना और परिणमन करना चाहिए, उसके बदले मैं अनन्त परपदार्थों का कर सकता हूँ — ऐसी मान्यता में उसने अपने वीर्य को रोक लिया है और विपरीत परिणमन करते हुए क्षोभ को प्राप्त कर रहा है। आत्मा के अनन्त गुणों की एकाग्रता में शान्ति होना चाहिए, उसके बदले विपरीत परिणमन करके प्रतिक्षण आकुलता का अनुभव कर रहा है।

धर्मी जीव को तो प्रतिक्षण शान्ति होती है। अज्ञानी, सन्देह और क्षोभ को प्राप्त

करता है। जगत् के पदार्थ नित्य हैं, उनका कर्ता कोई नहीं हो सकता तथा पदार्थ परिणमनशील हैं; अतः वे पर से परिणमित नहीं होते, तथापि अज्ञानी को इस बात का पता नहीं होने से वह मानता है कि मैं ऐसा बोला तो सामनेवाले जीव को ऐसे परिणाम हुए; दूसरे ने क्रोध किया, इसलिए मेरे परिणाम बिगड़े - इत्यादि मानकर वह प्रतिक्षण क्षोभ प्राप्त करता है।

.... और (३) कदाचित् भोगने की इच्छा से भावित होता हुआ - विश्व को स्वयं भोग्यरूप ग्रहण करके, राग-द्वेषरूप दोष से कलुषित चित्तवृत्ति के कारण (वस्तुओं में) इष्ट-अनिष्ट विभाग द्वारा द्वैत को प्रवर्तित करता हुआ, प्रत्येक वस्तुरूप परिणमित होने से अत्यन्त अस्थिरता को प्राप्त होता है; इसलिए [उपरोक्त तीन कारणों से] उस अनिश्चयी जीव के (१) कृतनिश्चय, (२) निष्क्रिय, और (३) निर्भोग - ऐसे भगवान् आत्मा को, जो कि युगपत् विश्व को पी जानेवाला होने पर भी, विश्वरूप न होने से एक है, उसे नहीं देखने से सतत व्यग्रता ही होती है, (एकाग्रता नहीं होती।)

जिसे आगम के अभ्यास द्वारा पदार्थों के स्वरूप का निश्चय नहीं है, वह कई बार परपदार्थों को भोगने की इच्छावाला होता है। अज्ञानी भी खाने-पीने के पदार्थों को भोग नहीं सकता, परन्तु वह मानता है कि मैं इन्हें भोगकर सुख प्राप्त कर लूँ। वस्तुतः आत्मा, अरूपी है, जड़ पदार्थों में सुख नहीं है; जीव सच्ची समझ करके शान्ति को भोगे अथवा राग को भोगे, परन्तु पर को तो कभी भोग ही नहीं सकता। ज्ञानी जानता है कि ये रूपी पदार्थ हैं, इनकी पर्याय को मैं अरूपी आत्मा स्पर्श नहीं करता। अरे! जब एक रूपी पदार्थ, दूसरे रूपी पदार्थ को स्पर्श नहीं करता तो फिर अरूपी आत्मा, रूपी पदार्थ को कैसे स्पर्श करेगा अथवा भोगेगा ?

परपदार्थ स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवाले हैं और आत्मा अस्पर्श, अरस, अगन्ध, अवर्णवाला है परन्तु अज्ञानी को उसका ज्ञान नहीं है; इसलिए वह पर को भोगने की इच्छा करता है। अरे! कल की किसे खबर है? बहुत कठिनता से संयोग प्राप्त हुए हैं; पैसा, स्त्री, पलङ्ग, सुहावने कपड़े सभी बहुत मुश्किल से प्राप्त हुए हैं; इसलिए लाओ इन्हें ले लूँ - इस प्रकार अज्ञानी, विकार की भावना का अनुभव कर रहा है।

अज्ञानी, अग्नि का स्पर्श होने पर मैं गर्म हो गया – ऐसा मानता है। मीठे पदार्थ को चखने पर मीठा हो गया मानता है परन्तु भाई! उस मीठे या गर्म पदार्थ का तुझे ज्ञान होता है परन्तु तू स्वयं मीठे या उष्णरूप नहीं होता। परपदार्थ का तो तुझमें अभाव है तो उस अभावरूप पदार्थ का अनुभव तू किस प्रकार कर सकता है? ये सभी तेरी विपरीत मान्यताएँ हैं। जिसे एक पदार्थ को भोगने की इच्छा है, वह विश्व के समस्त पदार्थों का भोक्ता होना चाहता है। विश्व को स्वयं भोग्यपना ग्रहण करके; अर्थात्, समस्त पदार्थों का ग्रहण तो नहीं कर सकता, परन्तु मानता है कि मैं समस्त पदार्थों को भोग सकता हूँ – यह मान्यता ही भ्रम है। वस्तुतः वह अज्ञानी जीव, परपदार्थ को भोगने में हर्ष-शोक किया करता है; इसलिए उसे पर्याय में कलुषितता हुआ करती है परन्तु परवस्तु भोगने में नहीं आती। वह विकार को भोगता है; इसलिए अपनी शान्ति लुटती है।

प्रश्न – परपदार्थों को निश्चय से तो नहीं भोगा जा सकता, परन्तु व्यवहार से तो भोग सकता है न?

उत्तर – आत्मा का व्यवहार आत्मा में होता है; जड़ में नहीं। आत्मा, परवस्तु को व्यवहार से भी नहीं भोग सकता, मात्र अज्ञानभाव को भोगता है। खाने-पीने की क्रिया में तो वस्तु क्षेत्रान्तर प्राप्त करती है, तथापि ‘मैंने उस वस्तु को भोगा’ – ऐसा अज्ञानी मानता है। ज्ञानी तो समझता है कि मैं परपदार्थ को नहीं भोग सकता। परपदार्थ की ओर लक्ष्य जाता है, वह शान्ति में भङ्ग पड़ता है, उसे पर्याय में किञ्चित् कमजोरी है परन्तु दृष्टि तो अखण्ड स्वभाव पर ही है; वह पर में सुख नहीं मानता है।

अज्ञानी जीव, पर में सुख मानकर ‘अनुकूल विषय मिले तो ठीक है और प्रतिकूल विषय मिले तो ठीक नहीं है’ – इस प्रकार परपदार्थों में इष्ट-अनिष्टपने की कल्पना करता है। रस-पूड़ी मिले तो ठीक; ज़हर आदि मिले तो ठीक नहीं – ऐसा मानता है परन्तु भाई! वे तो ज्ञान के ज्ञेय हैं, उनमें इष्ट-अनिष्टपना है ही नहीं। समस्त ज्ञेयों को जानने का एक ही प्रकार है परन्तु पर को भोगने के आवेश में अज्ञानी मानता है कि ऐसा हो तो ठीक और ऐसा हो तो ठीक नहीं; इस प्रकार वह ज्ञेयों के दो भाग करता है और इस कारण अत्यन्त अस्थिरता को प्राप्त करता है; अपने स्वभाव में स्थिरता को प्राप्त नहीं करता।

प्रतिक्षण यह ठीक है और यह ठीक नहीं है, इस प्रकार पर में रुचि करके पर का भोक्ता मानकर अस्थिर होता है। इस प्रकार अज्ञानी जीव को पदार्थों का निर्णय नहीं होने से धर्म नहीं होता।

(१) कृतनिश्चय : आत्मा का स्वभाव कृतनिश्चयी है। मुझसे भिन्न अनन्त पदार्थ हैं, उनका परिवर्तन उनसे है। मुझमें प्रतिक्षण पर्यायें पलटती हैं, उन पर्यायों का स्वभाव उनके कालक्रम से पलटता है, मैं उसे क्या पलटाऊँ ? और जो नहीं पलटता, उसे भी क्या पलटाऊँ ? जो राग आता है, उसे मैं लानेवाला नहीं, अपितु उसका ज्ञाता-दृष्टा हूँ। इस प्रकार जो ज्ञाता-दृष्टा हुआ, उसका राग घट जाता है। जैसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा है, वैसी समस्त पदार्थों में प्रति समय की अवस्थाएँ होती हैं; उसी प्रकार आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, आत्मा का स्वभाव कृतनिश्चय है। अज्ञानी को इस मूल मुद्दे की बात का ही पता नहीं है, वह तो परीक्षा किये बिना ही मूल पूँजी ब्याज पर लगा देता है और वह पूँजी चली जाती है; ब्याज रहे तो भी क्या काम का ? इसी प्रकार आत्मा मिथ्यात्व में चला जाता है और मन्दराग करे तो भी क्या ? अर्थात् उससे कुछ लाभ नहीं है।

भाई ! वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान हैं, उनके केवलज्ञान में तीन काल-तीन लोक के पदार्थ प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं। उन्होंने जैसा कहा-जाना, वैसा ही आत्मा मैं हूँ, मेरा स्वभाव जानने का है; किसी का कुछ कर सकूँ - ऐसा मेरा स्वभाव नहीं है। देखो, यह राजा-रानी की वार्ता नहीं है, अपितु भगवान आत्मा की वार्ता है। भगवान आत्मा का स्वभाव पर को पलटाने का नहीं है। अपने में पर्याय का प्रवाह चलता है, आत्मा उसका जाननेवाला है। आत्मा, ज्ञाता-दृष्टा है - ऐसा निर्णय करनेवाला आत्मा कृतनिश्चय है। अनिश्चयी जीव को कृतनिश्चयी आत्मा की बात ख्याल में नहीं आती। मैं ज्ञानस्वभाव हूँ, मेरा स्वभाव स्व-परप्रकाशक है - ऐसा आत्मा जिसे ज्ञानगोचर नहीं होता, वह अनिश्चयी जीव है।

(२) निष्क्रिय : भगवान आत्मा, शरीर को हिला-चला नहीं सकता, पर का उद्धार नहीं कर सकता। मैं हूँ तो दूसरे जड़पदार्थों की अवस्था होती है - ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। जड़ की क्रिया, जड़ के कारण होती है; उसका आत्मा कर्ता नहीं है।

परिवार का, देश का, समाज का, संघ का कुछ कर दे - ऐसा आत्मस्वभाव नहीं है तथा आत्मा में पुण्य - पाप के परिणामरूप क्रिया होती है, वह भी आत्मा का वास्तविक स्वभाव नहीं है। इसलिए भगवान आत्मा इस क्रिया से रहित है; अतः निष्क्रिय है, तथापि कूटस्थ नहीं है। अपने स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान की क्रियावाला है, इस अपेक्षा से सक्रिय है किन्तु पर और विकार की क्रिया से रहित है; इसलिए निष्क्रिय है।

(३) निर्भोग - आत्मा, पर को नहीं भोगता। जड़-पदार्थों की अवस्था तो भिन्न-भिन्न क्रियारूप होती है, उन्हें आत्मा खा नहीं सकता, वेदन नहीं कर सकता, किन्तु अज्ञानी जीव, पर्याय में हर्ष-शोक की वृत्तियों को भोगता है; तथापि भगवान आत्मा जो कि निर्भोग स्वरूप है, उसमें तो हर्ष-शोक की वृत्तियों को भी नहीं भोगता। स्वरूप में पर का तथा आकुलता का भोग नहीं है; इसलिए आत्मा निर्भोग है।

(४) युगपद ज्ञाता - भगवान आत्मा, युगपद ज्ञाता है। वह देह में विराजमान है। आत्मा के अलावा अनन्त आत्माएँ तथा अनन्त जड़-पदार्थों को एक समय में जानने का आत्मा का स्वभाव है। किसी का करे - ऐसा स्वभाव नहीं है। सर्वदर्शी और सर्वज्ञत्व स्वभाव है। थोड़ा-थोड़ा रुक-रुक का जानना भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। अल्पज्ञदशा रहे, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। एक समय में परिपूर्ण जानने का आत्मा का स्वभाव है।

(५) ज्ञानस्वभावी अनन्त है - समस्त विश्व के पदार्थों को पी जाता है। जैसे, ग्रास छोटा हो और मुँह बड़ा हो; इसी प्रकार अनन्त ज्ञेयों को जानने पर भी ज्ञान की अनन्तता बाकी रह जाती है, ज्ञान में इतनी अनन्तता है। जीव, अनन्त काल से परिभ्रमण कर रहा है, शुभाशुभभाव किये हैं, तथापि उन भावों और शरीररूप नहीं हुआ है। उसका ज्ञानस्वभाव विशाल है, जगत् का ज्ञान करने की सामर्थ्यवाला है किन्तु जगत् को पलटने की सामर्थ्यवाला नहीं है। दूसरों को जानने से ज्ञान गौणरूप नहीं हो जाता। बिच्छु के डंक का ज्ञान करने पर भी ज्ञान उसरूप नहीं होता; अनन्त को जानने पर भी ज्ञान की अनन्तता कम नहीं होती।

(६) एक है - अनेक पदार्थों को देखता है। प्रतिकूल अथवा अनुकूल संयोगों को जानने पर भी ज्ञानस्वभाव अनेकरूप नहीं होता। पुण्य-पाप की भी अनेकता होने पर भी अनेकरूप नहीं होता, किन्तु भगवान आत्मा एकरूप रहता है।

इस प्रकार भगवान आत्मा कृत-निश्चय, निष्क्रिय, निर्भोग, युगपद् ज्ञाता, अनन्त को जानने पर भी ज्ञान की अनन्तता कम नहीं हो ऐसा, अनेक को जानने पर भी एकरूप रहनेवाला है किन्तु अज्ञानी जीव, जिसे आगम का अभ्यास नहीं है, वह तो आत्मा, स्वभाव से कृत-निश्चय, निष्क्रिय, निर्भोग होने पर भी उसकी श्रद्धा नहीं करता। पर की सहायतारहित, पर की सहायता न करे, ऐसा और पर का भोक्ता नहीं होने पर भी अज्ञानी उसे नहीं देखता - नहीं जानता, इस कारण उसे सदा आकुलता होती है। मैं ज्ञान हूँ, शुद्ध हूँ, पुण्य-पाप से रहित हूँ - ऐसा नहीं मानकर, पर का कुछ कर सकता हूँ, भोग सकता हूँ - ऐसा मानकर, अज्ञानी जीव, व्यग्रता का सेवन कर रहा है। जहाँ व्यग्रता होती है, वहाँ आत्मा में एकाग्रता नहीं हो सकती और जहाँ आत्मा में एकाग्रता नहीं है, वहाँ व्यग्रता होती है; इस प्रकार अस्ति-नास्ति से बात की है।

और एकाग्रता के विना श्रामण्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जिसके एकाग्रता नहीं है, वह जीव (१) 'यह अनेक ही है' - ऐसा देखता (श्रद्धान करता) हुआ, उस प्रकार की प्रतीति में अभिनिविष्ट होता है; (२) 'यह अनेक ही है' इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ के विकल्प से खण्डित (छिन्न-भिन्न) चित्तसहित सतत प्रवृत्त होता हुआ, उस प्रकार की वृत्ति से दुःस्थित होता है; इसलिए उसे एक आत्मा की प्रतीति-अनुभूति-वृत्तिस्वरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रपरिणतिरूप प्रवर्तमान जो दृशि-ज्ञप्ति-वृत्तिरूप आत्मतत्त्व में एकाग्रता है, उसका अभाव होने से शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूप श्रामण्य ही (शुद्धात्मतत्त्व में प्रवृत्तिरूप मुनिपना ही) नहीं होता।

जहाँ आत्मा के स्वभाव में एकाग्रपना नहीं है, वहाँ मुनिपना सिद्ध नहीं होता। यहाँ मुनिपने की मुख्यता से बात है। भगवान आत्मा को ऐसा श्रद्धा में लेने के पश्चात् अन्तर रमणता करना, वह चारित्र है; स्त्री-पुत्रादि को छोड़ देना, जङ्गल में रहना, दया पालना, दो रोटियाँ कम खाना, वह साधुपद नहीं है। पर से निराला शुद्धस्वभाव है - ऐसी श्रद्धा-ज्ञान नहीं करे तो साधुपद नहीं होता।

* जिसे निशङ्क आत्मा की प्रतीति नहीं है, वह जीव, मैं ज्ञानस्वभावी एक हूँ - ऐसी प्रतीति नहीं करता, परन्तु मैं इन सब सगे-सम्बन्धियों का हूँ, मैं पुण्य-पाप का हूँ, मैं कर्ता - भोक्ता हूँ - ऐसा वह मानता है। शरीर-मन -वाणी सभी पर हैं तथा पुण्य-पाप

विभाव हैं - ऐसा नहीं मानकर, पर से और विभाव से अपने को अनेकरूप श्रद्धा कर रहा है। आत्मा जानने-देखनेवाला एक है - ऐसा नहीं मानकर, अनेकरूप श्रद्धा कर रहा है। अभी मुझे पर का बहुत-बहुत करना बाकी है और पर से बहुत-बहुत लेना बाकी है; इस प्रकार की बातें करता है।

परपदार्थ आत्मा को शरणभूत नहीं होते; आत्मा निरालम्बी ज्ञाता-दृष्ट एक तत्त्व है - ऐसा नहीं मानकर, अनेकरूप श्रद्धा कर रहा है। उस श्रद्धा में तो पक्का आग्रही हुआ है; मिथ्यात्व में मस्त हुआ है। कोई किसी का कुछ नहीं करता। एक परमाणु, दूसरे परमाणु का नहीं करता; कोई जीव दूसरे जीव का कुछ नहीं करता - ऐसा धर्म भी कहीं होता होगा? इस प्रकार सच्ची बात बाहर आने पर भी सत्य सुनने के लिये निवृत्त नहीं होता और आत्मा की विपरीत श्रद्धा में पक्का आग्रहवन्त होता है; अतः उसे धर्म नहीं होता।

* आगम का अभ्यास करके स्वयं जानने-देखनेवाला एक ही पदार्थ है - ऐसा जानना चाहिए, उसके बदले जो शुभाशुभभाव होते हैं, वही मैं हूँ - ऐसा अज्ञानी मानता है। मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, मैं शरीरवाला हूँ, मैं कर्मवाला हूँ, मैं पुण्य-पापवाला हूँ इत्यादि अनेक प्रकार की विकारीपर्यायों का कर्ता होता हुआ मैं अनेक हूँ - ऐसी ज्ञान की भावना को भाता है।

मेरे तत्त्व में अन्य का प्रवेश नहीं है - ऐसा ज्ञान होना चाहिए, उसके बदले अनेक के ज्ञान में मैं अनेक हूँ - ऐसे ज्ञान की रटन और घोटन करता है। आत्मा का ज्ञानपना करके स्वभाव में एकाग्र हो तो एकता है किन्तु व्यग्रता करे तो अनेकपना है; इसलिए विपरीत ज्ञानवाले अज्ञानी को धर्म नहीं होता।

* मेरा ज्ञानस्वभाव एकरूप है और उसमें ही एकाग्रतारूप से ठहर कर रमणता करना चारित्र है - ऐसा वह अज्ञानी जीव नहीं मानता; इसलिए अनेक प्रकार के विकल्पों में डोलता है। यह मित्र है, इसलिए मुझे राग होता है; यह शत्रु है, इसलिए मुझे द्वेष होता है; भगवान मिले, इसलिए मुझे समकित होगा; दुश्मन मिला, इसलिए मुझे हानि होगी; दूसरे आत्माओं की मैंने मदद की तो वे सुखी हुए और मुझे सन्तोष हुआ; यदि मदद नहीं की होती तो वे दुःखी होते; मैंने ध्यान रखा तो इतने जीवों की दया पली; शत्रु आयेगा तो

मुझे मार डालेगा; अनुकूल मित्र आयेंगे तो मुझे आराम मिलेगा - इत्यादि अनेक प्रकार के विकल्प किया ही करता है।

भाई! तेरा विश्राम एवं तेरी शान्ति तुझमें है किन्तु बाह्य में नहीं है। किसी के मर जाने पर तू उसे विश्राम दे सकता है? या वह स्वयं शान्ति रखे तो शान्ति होगी? उसकी शान्ति उसमें है, तेरी शान्ति तुझमें है। जो जीव, अपने अज्ञान के कारण अशान्ति खड़ी करता है, वह स्वयं ज्ञान करके शान्ति करे तो सुख होता है; दूसरा कोई सुखी कर दे - ऐसा नहीं है। अपने ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होकर एकपना साधकर शान्ति और आनन्द का अनुभव करना चाहिए, उसके बदले अज्ञानी जीव, आत्मा को विकारी मानकर अपना सुख पर में मानकर, अनेक परपदार्थों का आश्रय लेकर विकल्प किया ही करता है।

जैसे, पानी का प्रवाह एक समान चला जाता हो किन्तु रास्ते में पुल आवे तो जितने पुल के खम्बे हों, उतने खण्ड-खण्डरूप वह प्रवाह हो जाता है; इसी प्रकार ज्ञानजल एक प्रवाही है, पर्याय में प्रगट होकर स्वभाव में अभेद होना चाहिए, किन्तु अज्ञानी अनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न करके ज्ञान की एकरूप परिणति नहीं करता हुआ अनेक प्रकार से खण्ड-खण्ड करता है। वह एक के बाद एक विकल्प सतत किया ही करता है, इसका कुछ कर दूँ, इसमें से सुख ले लूँ - इत्यादि अनेक प्रकार के विकल्पों में रुककर ज्ञानपरिणति को खण्ड-खण्ड करता है और उसमें सतत प्रवर्तता है। इस प्रकार के विकल्पों में प्रवर्तता होने से चारित्र में मलिनता खड़ी करता है।

इस प्रकार जिसे आगम का अभ्यास नहीं है, पदार्थों का निर्णय नहीं है, उस अज्ञानी जीव को, अपना आत्मा जानने-देखनेवाला है - ऐसी प्रतीति, ज्ञान और रमणता नहीं है; इसीलिए वह अपने को अनेकरूप श्रद्धा करता है, अनेकरूप जानता है और अनेक प्रकार के विकल्पों से अपनी परिणति को खण्ड-खण्ड करता है। उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से प्रवर्तित एकाग्रता नहीं होती। मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ - ऐसी प्रतीति, ऐसा ज्ञान और उसमें विकाररहित रमणता करनी चाहिए। ऐसी वृत्तिस्वरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रपरिणतिरूप से प्रवर्तित जो दृशि-ज्ञप्ति-वृत्तिरूप आत्मतत्त्व में एकाग्रता, वह अज्ञानी को नहीं है किन्तु मैं पुण्यवाला हूँ, विकारवाला हूँ, मैं परिवारवाला हूँ, मैं दया

पालनेवाला हूँ - ऐसी विपरीत प्रतीति, विपरीत ज्ञान और विपरीत स्थिरता होती है; इसलिए वह अनेकपना अनुभवता है।

इस प्रकार तत्त्व की श्रद्धा नहीं होने से स्वरूप में एकाग्रता नहीं होती, एकाग्रता के बिना आत्मस्वरूप की लीनतारूप मुनिपना नहीं होता। मुनिपना नग्न अवस्था में, विकल्प में, पाँच महाव्रत में नहीं है; अपितु जो परपदार्थ और पुण्य-पाप से रहित है - ऐसे आत्मस्वभाव में एकाग्रता ही मुनिपना है किन्तु अज्ञानी जीव, खण्ड-खण्ड करके अनेकपना मानता है, उसे मुनिपना नहीं हो सकता, उसे धर्म भी नहीं होता।

जिसे भगवान के द्वारा कथित आगमों का अभ्यास नहीं है, उसे पदार्थों का निर्णय नहीं है, वह स्व-पर की भिन्नता को नहीं जानता। जिसमें सन्देह नहीं है - ऐसा कृत निश्चय आत्मा की, पर की क्रिया से रहित निष्क्रिय आत्मा की, पर और विकार के भोग से रहित निर्भोग आत्मा की जिसे श्रद्धा नहीं है, उसे धर्म नहीं होता। ऐसे आत्मा की जिसे प्रतीति नहीं है, उसे व्यग्रता है; उसे एकाग्रता नहीं है; इसलिए उस जीव को साधुपद नहीं हो सकता। अहो! अज्ञानी जीव एक समय में तीन काल - तीन लोक को जाननेवाले भगवान आत्मा का अन्तर्मुख रुचि करके ज्ञान नहीं करता।

जिसने सम्यग्ज्ञानरूपी नयन / आँख प्रगट नहीं की; अर्थात्, भगवान आत्मा को नहीं देखा और शरीर तथा परपदार्थ मेरे हैं, पुण्य से लाभ है - ऐसा मिथ्यात्वभाव पाप है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है, उसमें श्रद्धा-ज्ञान करके मिथ्यात्व और राग-द्वेष का नाश करता है, वह स्वयं हरि है। कोई आत्मा परमेश्वर है, वह तो उसका (निज आत्मा का) हरि है; वह इस जीव को पार कर दे - ऐसा नहीं है। जीव स्वयं सच्ची समझ करके हरि होता है। आत्मा में से सच्चे ज्ञान द्वारा परमार्थदशा प्रगट करनेवाला नर, नारायण है परन्तु अज्ञानी को ऐसे आत्मा का भान नहीं है; इसलिए उसे धर्म नहीं होता और साधुपद नहीं होता।

इससे (ऐसा कहा गया है कि) मोक्षमार्ग जिसका दूसरा नाम है, ऐसे श्रामण्य की सर्व प्रकार से सिद्धि करने के लिए, मुमुक्षु को भगवान् अरहन्त सर्वज्ञ से उपज्ञ (स्वयं जानकर कहे गये) शब्दब्रह्म में, जिसका कि अनेकान्तरूपी केतन (चिह्न-ध्वज-लक्षण) प्रगट है, उसमें निष्णात होना चाहिए।

इसलिए यह कहा गया है कि मोक्षमार्ग अथवा मुनिपने की सिद्धि करने के लिए मुमुक्षुओं को, जिन्हें सर्वज्ञशक्ति खिल गयी है - ऐसे सर्वज्ञ भगवान के शास्त्रों में निष्णात होना चाहिए। जैसे, कमल विकसित होता है, उसी प्रकार जिनका चेतनस्वभाव, श्रद्धा-ज्ञान और रमणता द्वारा परिपूर्ण खिल गया है - ऐसे सर्वज्ञ भगवान ने वस्तु का स्वरूप ज्यों का त्यों जाना है और वाणी द्वारा ऐसा ही कथन किया है। भगवान की ओमध्वनि को शब्दब्रह्म कहते हैं और अनेकान्त जिसका लक्षण है, उस शब्दब्रह्म में निष्णात होना चाहिए।

अनेकान्तु, वस्तु के अनेक धर्मों को बताता है, उसके दृष्टान्त इस प्रकार हैं -

* आत्मा, आत्मा से है, पर से नहीं; स्वभाव, स्वभाव में है, स्वभाव विभाव में नहीं है; विभाव, विभाव में है, विभाव, स्वभाव में नहीं है; एक गुण, उस गुण में है, दूसरे गुण में नहीं है; एक वर्तमान पर्याय, वर्तमान पर्यायरूप है और दूसरी भूत-भविष्य की पर्यायरूप नहीं है; साधक पर्याय में पूर्ण पर्याय नहीं है और पूर्ण पर्याय, अपूर्णरूप नहीं है।

* एक पदार्थ, दूसरे पदार्थरूप नहीं है - ऐसा निर्णय करते ही तीनों काल के पदार्थरूप नहीं है - ऐसा निश्चित होता है; इसलिए कोई पदार्थ दूसरे पदार्थ को लाभ-हानि नहीं करता, सहायता नहीं पहुँचा सकता।

* एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं है - ऐसा निर्णय करते ही तीनों काल कोई गुण, दूसरे गुण का कार्य नहीं करता; इसलिए एक गुण दूसरे की सहायता नहीं करता।

* एक पर्याय, दूसरी पर्यायरूप नहीं है; एक का दूसरे में अभाव है तो पूर्व पर्याय, वर्तमान को मदद करे - यह बात नहीं रहती।

इस प्रकार एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ की अपेक्षा नहीं होने से द्रव्य परिपूर्ण सिद्ध होता है। एक गुण, दूसरे गुण की अपेक्षा नहीं रखता; इसलिए गुण परिपूर्ण सिद्ध होता है। एक पर्याय, दूसरी किसी पर्याय की अपेक्षा नहीं रखती; इसलिए पर्याय परिपूर्ण सिद्ध होती है। अहो! अनेकान्त वस्तुस्वरूप अद्भुत है।

अनेकान्त वस्तु का स्वरूप समझकर अपने में स्वतन्त्रता प्रगट करना ही स्वराज्य है। आत्मा स्वयं शिवानन्दस्वरूप है, उसे कोई मार नहीं सकता। अरे! शरीर को मार नहीं सकता, शरीर का व्यय होता है, उसे लोग मृत्यु कहते हैं; वस्तुतः वहाँ परमाणु की अवस्था

पलटी है। जब संयोगी चीज का भी नाश नहीं होता तो फिर असंयोगी आत्मा कभी मरे, ऐसा तो होता ही नहीं; इसलिए आत्मा का स्वरूप जैसा है, वैसा ही अनेकान्त द्वारा जानना चाहिए, उसमें निष्णात होना चाहिए, पारङ्गत होना चाहिए, अवगाहन करके पता लगाना चाहिए। जिस प्रकार मोतियों की प्राप्ति के लिए समुद्र में डुबकी लगाते हैं; उसी प्रकार आगम गहरा समुद्र है, उसमें गहरे प्रवेश करके स्वभाव में निष्णात होने से ही मोक्षमार्ग की सिद्धि है।

प्रश्न - द्रव्यलिङ्गी मुनि ने बहुत शास्त्रों का अभ्यास किया हो तो वह निष्णात है या नहीं।

उत्तर - नहीं है; शास्त्र में जैसा कहा है, वैसी द्रव्यलिङ्गी मुनि श्रद्धा नहीं करता। वह अन्दर ही अन्दर पुण्य से धर्म मानता है जो कि शास्त्र से विरुद्ध है; इसलिए वह शास्त्र में निष्णात नहीं है और किसी समकिति को ज्ञान का अल्प उघाड़ होने पर भी आगम में कहे हुए भाव का भासन है। शरीर जड़ है, पर है; विकार, आत्मा का स्वभाव नहीं है; आत्मा ज्ञान-स्वभावी है - ऐसा भान उसे वर्तता है; इसलिए वह समस्त शास्त्रों में निष्णात है।

जिस तरह बाप-दादा की पुराने बहीखातों में पुराना लेना निकले तो व्यापारी सूक्ष्मता से उसकी तपास / खोज करता है; उसी प्रकार भगवान के शास्त्रों में केवललक्ष्मी का भरा हुआ पुराना माल निकलता है। देखो, वह आगम कहता है कि यह तुम्हारा पुराना लेना वसूल कर सकते हो। बहियों में ली जानेवाली रकम की तो अमुक वर्ष की अवधि बाँधते हैं, जबकि यहाँ तो आगम कहता है कि तू नरक में गया, निगोद में गया, भले ही अनन्त काल व्यतीत हुआ, तथापि हमने तो यह अवधि बाँधी है कि तेरा लेना तू ले सकता है। परिभ्रमण की पर्याय एक समय की है। तू पर्यायबुद्धि का नाश करके, अन्दर से केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी निकाल ले, इस प्रकार अनादि काल का खोया हुआ आत्मा प्रगट हो सकता है; अतः शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए। देखो, यह बात अकेले मुनि के लिए नहीं है किन्तु सबको यही अभ्यास करना जरूरी है।

आगम के बिना पदार्थों का निश्चय नहीं होता; पदार्थों के निश्चय के बिना अश्रद्धाजनित तरलता, परकर्तृत्वाभिलाषाजनित क्षोभ और परभोक्तृत्वाभिलाषाजनित अस्थिरता के कारण एकाग्रता नहीं होती और एकाग्रता के बिना एक आत्मा में

श्रद्धान-ज्ञान-वर्तनरूप प्रवर्तमान शुद्धात्मप्रवृत्ति न होने से मुनिपना नहीं होता; इसलिए मोक्षार्थी का प्रधान कर्तव्य शब्दब्रह्मरूप आगम में प्रवीणता प्राप्त करना ही है।

आगम के बिना पदार्थों का निश्चय नहीं है; पदार्थों का निश्चय नहीं है, इसलिए पदार्थों के स्वरूप में विपरीत श्रद्धा है और इससे अज्ञानी को चञ्चलता रहा करती है। अज्ञानी जीव, परपदार्थों का कुछ करने की अभिलाषा से क्षोभ पाता है और परपदार्थों को भोगने की अभिलाषा से अस्थिरता पाता है - ऐसा होने से अज्ञानी जीव, स्वस्वरूप में एकाग्र नहीं हो सकता। अज्ञानी जीव को मरण के समय मिश्री का पानी याद आता है परन्तु अमृतस्वरूप आत्मा याद नहीं आता। पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्वरहित शुद्धस्वभाव से भरा हुआ अमृतमय आत्मा है, उसे याद कर; व्यर्थ क्षोभ मत कर। एक बार चैतन्यस्वभाव के गीत गा और एकाग्रता का घोलन करके अमृत पी।

अज्ञानी जीव, चैतन्यस्वभाव की एकाग्रता नहीं करके एक के बाद एक विकल्प किया करता है और क्षोभ प्राप्त करता है। आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप से होनेवाली शुद्धात्मा की प्रवृत्ति, अज्ञानी जीव को एकाग्रता के बिना नहीं होती; इसलिए उसे मुनिपना प्रगट नहीं होता; इस कारण मोक्ष के अभिलाषी जीवों को सर्वज्ञ द्वारा कथित शास्त्रों में प्रवीणता प्राप्त करनी चाहिए।

इन गाथाओं में सर्वज्ञ द्वारा कथित समस्त द्रव्यश्रुत को सामान्यरूप से आगम कहा गया है। कई बार द्रव्यश्रुत के आगम और परमागम - ऐसे दो भेद भी पढ़ते हैं। जीव के भेद तथा कर्मों के भेद बतलानेवाले द्रव्यश्रुत को, आगम कहते हैं और समस्त द्रव्यश्रुत के सारभूत चिदानन्द एक भगवान आत्मा के प्रकाशक अध्यात्म द्रव्यश्रुत को, परम आगम (परमागम) कहते हैं।

समयसार, पञ्चास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड़, तत्त्वार्थसूत्र, प्रवचनसार - इन सभी को परम आगम कहते हैं। समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय - ये तीनों प्राभृतत्रयी है। इनमें चैतन्य की मुख्य बात है; इसलिए परम आगम हैं। ●

(सद्गुरु प्रवचनप्रसाद (हस्तलिखित दैनिक))

गुण-गम्भीर आचार्य-उपाध्याय भगवन्त

अहो! मोक्ष के साधक मुनिवरों की अन्तरदशा कैसी अद्भुत होती है, और उनकी दशा पहिचाननेवाले धर्मात्मा को उनके प्रति कितना महान भक्तिभाव होता है ? — उसकी झलक इन प्रवचनांशों में झलकती है।

कैसे हैं आचार्य भगवन्त ?

अन्तर्मुख चिदानन्दस्वभाव को पकड़कर, राग से पृथक् होकर, शुद्धोपयोग द्वारा ज्ञान का आचरण करनेवाले आचार्य हैं... वे परिपूर्ण चिदानन्दस्वभाव भगवान आत्मा को जानने में, श्रद्धा करने में, अनुभव करने में कुशल हैं... गुणों से वे गम्भीर हैं, चैतन्य के अनन्त गुणों का भण्डार उनके लिए खुल गया है - ऐसे मोक्षमार्गी गुण-गम्भीर आचार्य भगवान, धर्मी जीवों के द्वारा वन्द्य हैं... उन्हें हम वन्दन करते हैं।

चैतन्यतत्त्व में स्वाभाविक अनन्त गुण हैं, उस स्वभाव की ओर उन्मुख होने पर एक साथ अनन्त गुण के रस का वेदन हो जाता है; ऐसे अनन्त गुण -सम्पन्न आत्मा का स्वीकार करने पर ज्ञान की सामर्थ्य अनन्त गुणा विकसित हो जाती है, वह ज्ञान अतीन्द्रिय होकर स्वभाव का प्रत्यक्ष वेदन करता है।

जिसका आदर करना हो, उसके सन्मुख होकर ही उसका आदर होता है; उससे विमुख रहकर आदर नहीं होता। राग की ओर उन्मुख होकर चैतन्यभगवान का आदर नहीं हो सकता। जैसे, घर पर कोई विशेष अतिथि पधारे हों, तब उनके सन्मुख जाकर आदर-सत्कार करते हैं कि आइये! पधारिये!! परन्तु यदि अतिथि की ओर न देखे और

दूसरी ओर देखे तो अतिथि का अनादर होता है; इसी प्रकार जिसका हमें आदर करना हो, उसके सन्मुख होकर उसे देखना चाहिए।

यह आत्मा 'हरि' अर्थात् चिदानन्दस्वभाव के सामर्थ्य द्वारा विभाव को हरनेवाला 'सिंह', सर्व पदार्थों में श्रेष्ठ, ऐसा 'इन्द्र' - ऐसा महान भगवान है; उसे अपने आँगन में बुलाकर सत्कार करने की यह बात है। श्रद्धा-ज्ञान को अन्तरस्वभाव की ओर उन्मुख करके अर्थात् परोन्मुखभावों से भिन्न होकर, चैतन्यभगवान का आदर-सत्कार और स्वीकार होता है। राग या पर के सन्मुख रहने से चैतन्यप्रभु का आदर-स्वीकार नहीं हो सकता।

सन्त तो अन्तर्मुख होकर सर्वज्ञपद को ग्रहण कराने का पुरुषार्थ कर रहे हैं। सिद्धपद को साध रहे हैं, उन्होंने निज चैतन्यगृह में सिद्धों का सत्कार किया है और रागादि परभावों को दूर किया है। अहा! अनन्त स्वभाव की साधना करनेवाले सन्त-मुनिवरों की क्या बात? सम्पूर्ण स्वभाव को स्वीकार करनेवाली पर्याय भी अनन्त गुण के रस से उल्लसित होती हुई आनन्दरूप हो गयी है। अहा! अनन्त गुण से गम्भीर ऐसे चैतन्यतत्त्व को साधनेवाले जीव की दशा भी महा-गम्भीर होती है।

अहो! ऐसी दशा द्वारा आत्मा को साधनेवाले साधु परमेष्ठी भगवन्तों में **आचार्य भगवन्त** कैसे हैं? उनकी यह बात है। शास्त्रकार श्री कुन्दकुन्दस्वामी स्वयं भी ऐसे ही महान आचार्य हैं, वे कहते हैं कि अहो! आचार्य भगवन्त ज्ञानादि पञ्चाचारों से पूर्ण हैं; धीर और गुण-गम्भीर हैं; पञ्चेन्द्रियरूपी हाथी को वश करने में दक्ष हैं; चाहे जैसा घोर उपसर्ग आये, तथापि अपने स्वरूप की साधना से चलायमान नहीं होते - ऐसे अत्यन्त धीर और गुण-गम्भीर हैं। रत्नत्रय में ज्ञान-दर्शन-चारित्र कहे हैं परन्तु ऐसे अनन्त गुणों द्वारा जो गम्भीर हैं, स्वभाव के अनुभव में अनन्त गुणों का कार्य एक साथ हो रहा है - ऐसे गम्भीर गुणवाले **आचार्य भगवन्त** वन्दनीय हैं। उन आचार्य भगवन्तों को, भक्तिक्रिया में कुशल हम, भवदुःखों को छेदने के लिए पूजते हैं।

धर्मात्मा की परिणति अन्तर में चैतन्य की ओर झुक गयी है, उसमें वे कुशल हैं; इसलिए विकल्प से भिन्न ज्ञानरूप होकर ही वह परिणमित हो रही है - ऐसी ज्ञानदशा तो

विकल्प से भिन्न ही वर्तती है, वहाँ बीच में पञ्च परमेष्ठी भगवन्तों के प्रति वन्दन-नमस्कार आदि का भाव आता है। अन्तर में चैतन्य के स्वभाव में से अनन्त गुणों के अतीन्द्रिय आनन्द का निर्मल झरना झरता है।

पर को नमस्कार आदि का शुभभाव, वह व्यवहार आचार में जाता है। उसमें भी कहते हैं कि भक्ति-क्रिया में भी कुशलतापूर्वक हम पूजते हैं अर्थात् निश्चय-व्यवहार दोनों की पहिचानपूर्वक हम उन **आचार्य भगवन्तों** को पूजते हैं; मात्र राग में स्थित रहकर नहीं पूजते। अन्तर में राग से भिन्न चैतन्यस्वभाव की सन्मुखतापूर्वक उन वीतरागी **आचार्य भगवन्तों** को हम पूजते हैं; इस प्रकार निश्चय-व्यवहारसहित भक्तिक्रिया में कुशलता द्वारा हम **आचार्य भगवन्तों** को वन्दन करते हैं, पूजते हैं।

आचार्य, उपाध्याय या साधु - ये सब परम चिद्रूप आत्मतत्त्व में अन्तर्मुख होकर निश्चयरत्नत्रय में कुशल हैं, उन्हें यहाँ व्यवहारचारित्र में भक्ति से वन्दन किया है। वे ज्ञानादि की शुद्धपरिणतिरूप परिणमन कर रहे हैं। ज्ञानी ऐसे चैतन्यपरिणमन को पहिचानकर उन्हें नमस्कार करता है, वह सच्ची भक्ति है परन्तु पर को नमस्कार करने में परलक्ष्य होने से शुभराग है, उस शुभराग से चैतन्यपरिणाम भिन्न है - ऐसा ज्ञानी जानता है। अहा! सन्त चैतन्य की आराधना में शूरवीर हैं। **आचार्य-उपाध्याय-साधु** चैतन्यस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप, शुद्धरत्नत्रयरूप रत्नों को साधने में **शूरवीर** हैं।

जगत में जड़रत्न तो अति अल्प हैं परन्तु सम्यक्त्वादि गुणरत्न तो प्रत्येक जीव के पास अनन्त हैं। आत्मा उन अनन्त चैतन्यरत्नों का भण्डार है, उसके सन्मुख होने से पर्याय में भी सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञान तक के रत्न प्रगट होते हैं। आचार्यदेव प्रमोद से कहते हैं - 'हे रत्नधर! तू अनन्त चैतन्यरत्नों को धारण करनेवाला रत्नधर है; तू दीन नहीं है। तू अनन्त मुक्तिरत्नों, आनन्दमय रत्नों का भण्डार है... अरे चैतन्य हीरा! चैतन्य के अनन्त हीरों का तू भण्डार है, उनके सन्मुख होते ही तुझे रत्नत्रय और मोक्ष की प्राप्ति होगी।'

अहा! आत्मा की एक स्वसंवेदन ज्ञानपर्याय में अनन्त सिद्धों, लाखों अरिहन्तों एवं करोड़ों साधुओं के स्वरूप का निर्णय समा जाता है कि जैसा ज्ञान-आनन्द का वेदन मुझे

स्व-संवेदन में हुआ है; वैसा ही ज्ञान-आनन्द का वेदन वे सब पञ्च परमेष्ठी भगवन्त कर रहे हैं।

देखो तो सही, साधक के स्वसंवेदनज्ञान का महान सामर्थ्य! ऐसी शक्ति शुभविकल्प में नहीं है। स्वसंवेदन ज्ञान में विकल्प का समावेश नहीं है। विकल्प से भिन्न कार्य करनेवाला ज्ञान ही पञ्च परमेष्ठी आदि के स्वरूप की सच्ची महिमा जानता है और वह ज्ञान अन्तर्मुख होकर अपने अनन्त आनन्दधाम में प्रवृत्ति करता है, आनन्दमय श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र्य द्वारा वह मोक्ष को साधता है। सन्तों के ऐसे अतीन्द्रिय आनन्दमय चैतन्य-परिणामन को पहिचानकर, हम भक्ति से उनकी वन्दना करते हैं।

अहा! वे सन्त तो चैतन्य के निर्विकल्प शान्तरस का वेदन करनेवाले हैं, वहाँ उन्हें बाह्य विकल्पों की काँक्षा क्यों हो? वे परम निष्काँक्ष हैं। अन्तर में परमसुखरस के पान से जो स्वयं तृप्त हुए हैं, वे अब दुःखजनक विषयों की इच्छा क्यों करेंगे? - ऐसे परम निःकाँक्ष भाववाले जैन साधु होते हैं।

स्वभाव के परमसुख का स्वाद लिये बिना विषयों की इच्छा नहीं मिटती। पुण्य-राग की इच्छा भी विषयों की ही इच्छा है। रागरहित अतीन्द्रिय चैतन्यसुख का स्वाद लिये बिना राग या विषयों की इच्छा नहीं मिटती और ऐसे जीव को साधुपना कहाँ से होगा? साधु तो चैतन्यसुख के अमृत से तृप्त-तृप्त होने से परम निष्काँक्ष हैं। परमात्मतत्त्व की भावना से अर्थात् उसमें एकाग्रता से ही परम निष्काँक्ष भावना होती है और ऐसी दशावाले रत्नत्रययुक्त उपाध्यायादि साधु भगवन्तों को हम भक्ति से बारम्बार वन्दन करते हैं।

मुनि भगवन्त अपनी अन्तर्मुख रत्नत्रयपरिणति में वर्तते हैं, विकल्परूप बाह्य परिणति में वे तन्मय नहीं होते; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी अपने निर्मल चैतन्यभाव में वर्तता है, रागादि में नहीं वर्तता। रागपरिणति और चेतनापरिणति, दोनों बिल्कुल भिन्न-भिन्न कार्य करती हैं।

अहा! मोक्ष के साधक साधुओं की दशा तो परमात्मतत्त्व की भावना में परिणमित हो गयी है, एकदम अन्तर्मुख होकर ढल गयी है; इसलिए वे निर्मोह और निर्ग्रन्थ हैं। चैतन्य के आनन्द का अनुभव करके जो विषयों से सदा विरक्त है और आत्मा में सदा

अनुरक्त हैं - ऐसे चार आराधना के आराधक साधु, मोक्ष के सन्मुख और भव से विमुख हैं, ऐसे साधुओं की पवित्र चैतन्यदशा को हम वन्दन करते हैं।

कैसे हैं उपाध्याय भगवन्त ?

१. अविचलित अखण्ड अद्वैत परम चिद्रूप के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप शुद्धनिश्चय स्वभावरत्नत्रयवाले हैं।

अन्दर त्रिकाली द्रव्य भगवान आत्मा अविचलित है, अखण्ड है, अद्वितीय है; उसमें गुण-गुणी का भेद भी नहीं है और वह परम चिद्रूप अर्थात् त्रिकाली ज्ञानरूप है - ऐसा आत्मस्वरूप है, उसका श्रद्धान होना अर्थात् आत्मा की श्रद्धा होना **समकित** है। नव तत्त्व की श्रद्धा, देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा **समकित** नहीं है क्योंकि वह तो विकल्प है, राग है परन्तु अविचलित अखण्ड अद्वितीय परम चिद्रूप की अर्थात् पूर्ण ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा की श्रद्धा, **समकित** है। आत्मा की सन्मुखतापूर्वक निर्विकल्प प्रतीति करना, **समकित** है।

अविचलित, अखण्ड, अद्वैत, परम चिद्रूप का ज्ञान, **सम्यग्ज्ञान** है। देखो! आत्मा का ज्ञान ही ज्ञान है - ऐसा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि शास्त्र के पठनरूप ज्ञान, ज्ञान नहीं है। अरे! अज्ञानी तो शास्त्र की थोड़ी बात मुखाग्र (याद) हो तो अपने को ज्ञानी मान लेता है।

अविचलित अखण्ड अद्वैत परम चिद्रूप का अनुष्ठान अर्थात् आत्मस्वरूप में लीनता चारित्र है। अहा! आत्मस्वरूप में रमणता, वह अनुष्ठान है, चारित्र है, विधान है।

इस प्रकार अविचलित, अखण्ड, अद्वैत, परम चिद्रूप की अर्थात् त्रिकाली चैतन्यविम्ब परमस्वभावभाव प्रभु आत्मा की अन्तर श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें अनुष्ठान ही सम्यग्दर्शन - ज्ञान-चारित्र है और ऐसे शुद्धनिश्चय रत्नत्रयस्वभाववाले **उपाध्याय** होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि यहाँ व्यवहाररत्नत्रय से इन्कार करते हैं कि **उपाध्याय** व्यवहाररत्नत्रयवाले नहीं, किन्तु शुद्धनिश्चय स्वभावरत्नत्रयवाले हैं। देखो, यहाँ निश्चयरत्नत्रय को शुद्धनिश्चय स्वभावरत्नत्रय कहा है; अतः व्यवहाररत्नत्रय स्वयमेव विभावरत्नत्रय सिद्ध हो गया।

तात्पर्य यह है कि व्यवहारसमकित और व्यवहारचारित्र, वह विभावरत्नत्रय है क्योंकि वह राग है। इस प्रकार उपाध्याय शुद्धनिश्चय स्वभावरत्नत्रयवाले हैं।

२. जिनेन्द्रदेव के मुखारविन्द से निकले हुए जीवादि समस्त पदार्थसमूह का उपदेश देने में शूरवीर हैं।

देखो! किसी ने कल्पना से शास्त्र-सूत्र लिखें हों वे नहीं, किन्तु जिनेन्द्रदेव के मुखरूपी अरविन्द या कमल से निकले हुए, जीवादि समस्त पदार्थसमूह अर्थात् जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और बन्ध-मोक्ष — इन नव तत्त्वों का उपदेश करने में उपाध्याय शूरवीर हैं, उन्हें कोई काँक्षा नहीं होती।

अहा! भगवान द्वारा कथित वीतरागमार्ग दुनिया को सुनने नहीं मिलता, उन्हें उससे उल्टा मार्ग सुनने मिलता है और वे उसे सत्य मानते हैं। अरे रे! जिन्दगी चली जाती है। भाई! बाहर में कोई शरण नहीं है, यदि कोई शरण हो तो वह भगवान आत्मा का अपना स्वरूप है तथा उसके आश्रय से प्रगट हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र — यह स्वभावरत्नत्रय शरण है।

अहा! पहले कहा था कि उपाध्याय शुद्धनिश्चय रत्नत्रयस्वभाववाले होते हैं और फिर कहा कि वे जिनेन्द्रदेव के मुखारविन्द से निकले हुए जीवादि समस्त पदार्थसमूहों का उपदेश करने में शूरवीर हैं। यद्यपि उपाध्याय का उपदेश या वाणी तो वाणी के कारण निकलती है परन्तु उपाध्याय के ज्ञान के क्षयोपशम की इतनी शूरवीरता है, उनके ज्ञान का क्षयोपशम इतना अधिक है कि वे भगवान के द्वारा कथित पदार्थ को समझाने में समर्थ हैं। भाषा तो भाषा के कारण निकलती है परन्तु उपाध्याय के ज्ञान के क्षयोपशम की ऐसी दशा है कि वे शूरवीरपने समझाते हैं परन्तु जो शुद्धनिश्चय रत्नत्रयस्वभाववाले होते हैं, वे उपाध्याय समझाने में समर्थ होते हैं।

३. समस्त परिग्रह के परित्यागस्वरूप जो निरञ्जन निज परमात्मतत्त्व, उसकी भावना से उत्पन्न होनेवाले परम वीतराग सुखामृत के पान में सन्मुख होने से ही निष्काँक्ष भावनासहित हैं।

अहा! त्रिकाली परमतत्त्व आत्मा का स्वरूप समस्त परिग्रह के परित्यागस्वरूप है

अर्थात् विकल्प का भी उसमें त्याग है - ऐसा निरञ्जन निज परमात्मतत्त्व है। आत्मा त्रिकाल शुद्ध ध्रुव नित्यानन्द प्रभु है। अहा! जो विकल्प के भी परित्यागस्वरूप है तथा जिसमें अञ्जन-मैल नहीं है - ऐसा निरञ्जन निज परमात्मतत्त्व है...। 'भगवान का तत्त्व' - ऐसा नहीं कहा, परन्तु 'निज परमात्मतत्त्व' - ऐसा कहा है और उसकी भावना कही है। देखो यहाँ भावना कही है, वह भावना आनन्दस्वरूप शुद्ध ध्रुव प्रभु, आत्मा में एकाग्रतामय है; इसके अतिरिक्त वह भावना कोई कल्पना अथवा चिन्तनरूप नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि जिसमें पर का सर्वथा अभाव है, ऐसे निरञ्जन निज परमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न होनेवाले, परम वीतरागसुखामृत के पान में उपाध्याय सन्मुख हैं। उपाध्याय तो परम वीतरागसुखरूपी निर्विकल्प अमृत के पान में सन्मुख हैं। तात्पर्य यह है कि वे अतीन्द्रिय आनन्द को पीने में, अनुभव करने में सन्मुख हैं और इस कारण निःकाँक्षभावनासहित हैं अर्थात् उन्हें काँक्षा नहीं होती।

अहा! अज्ञानी को शास्त्र की किञ्चित् बात मुख्याग्र हो तो वह अभिमान में चढ़ जाता है और लोग उससे कहते हैं कि अब तुम दीक्षा लो तो हमारे पास से लेना। यहाँ कहते हैं कि वीतराग मार्ग में ऐसा प्रकार नहीं हो सकता, क्योंकि गुरु अर्थात् उपाध्याय स्वयं शुद्धनिश्चय स्वभावरत्नत्रयवाले हैं; इसलिए उन्हें ऐसी काँक्षा या इच्छा ही नहीं है कि हम प्ररूपणा करते हैं, दूसरों को समझाते हैं; इस कारण वे हमारे शिष्य होते हैं।

देखो, यहाँ उपाध्याय की व्याख्या में निःकाँक्षभाव कहा गया है। इसका हेतु यह है कि उपाध्याय प्ररूपणा करते हैं, पढ़ाते हैं, उससे यह मेरा शिष्य होगा और मुझे मानेगा - ऐसी काँक्षा उन्हें नहीं होती, यह कहना है। इस कारण यहाँ निकाँक्ष शब्द रखा है।

उपाध्याय पढ़ाते हैं न? इसलिए इतने जीव मेरे पास पढ़ते हैं तो इतने जीव मुझे माननेवाले होंगे, मेरे शिष्य होंगे - ऐसी काँक्षा जैनदर्शन के उपाध्याय को नहीं होती।

अरे! अज्ञानी को तो जहाँ थोड़ा भी बोलना या कहना आया, वहाँ उपाध्याय पद के योग्य नहीं होने पर भी उपाध्यायपद ले लेता है परन्तु भाई! ऐसा उपाध्याय का स्वरूप नहीं है। वस्तुस्थिति तो यहाँ जैसी कही गयी है, वैसी है। यह वीतरागमार्ग है, इसमें विपरीतता नहीं चल सकती।

इस प्रकार यहाँ तीन बातें कही गई हैं -

१. जिन्हें अन्तरङ्ग में वीतरागता प्रगट हुई है अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप स्वभावरत्नत्रय प्रगट हुआ है;

२. जो भगवान के द्वारा कथित पदार्थों के वर्णन में शूरवीर हैं, तथा

३. जो निज परमात्मतत्त्व अर्थात् त्रिकाली ध्रुव शुद्ध निज भगवान आत्मा में एकाग्र होते हैं, वे उपाध्याय हैं।

अहा! 'निज परमात्मतत्त्व' - त्रिकाली ध्रुव, वह द्रव्य है और उसकी भावना, उसमें एकाग्र होना, वह पर्याय है। यहाँ कहते हैं कि निज परमात्मातत्त्व की भावना अर्थात् एकाग्रता से उत्पन्न होनेवाले परम सुखामृत दशावाले को ही उपाध्याय कहा जाता है। निज परमात्मतत्त्व की एकाग्रता से यह परम वीतरागसुखामृत उत्पन्न होता है।

परम वीतरागसुखामृत के पान में अर्थात् परम वीतरागसुखरूपी अमृत को पीने में सन्मुख होने से.... तात्पर्य यह है कि उपाध्याय आनन्द के पान में सन्मुख हैं और इस कारण ही उपाध्याय निःकाँक्ष भावनासहित हैं।

उपाध्याय, इच्छा के अभावरूप भावनासहित है। यद्यपि उपाध्याय उपदेश देते हैं, तथापि उनको ऐसी इच्छा नहीं होती कि मैं ऐसा उपदेश करता हूँ, जिससे बड़ी सभा भर जाये और जैनधर्म में हमारा नाम प्रसिद्ध हो। अरे भगवान! किसका नाम प्रसिद्ध होता है? अरे! आत्मा के नाम ही कहाँ हैं कि प्रसिद्ध हो? इस प्रकार यहाँ कहा गया है कि उपाध्याय अन्तरङ्ग आनन्द पीने में सन्मुख होने से ही निःकाँक्ष भावनासहित है।

- ऐसे लक्षणों से लक्षित, जैनों के उपाध्याय होते हैं। अहा! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं सच्चे उपाध्याय नहीं हैं परन्तु जैनों में ही ऐसे उपाध्याय होते हैं। मैं ऐसे उपाध्यायों को बारम्बार वन्दन करता हूँ, जिन्हें वीतरागदशा प्रगट हुई है, जो शुद्ध हैं, जो भव्य कमल के सूर्य हैं और जो जिनेन्द्रकथित पदार्थों के उपदेशक हैं। ●

(- आत्मधर्म (गुजराती), वर्ष २८, अंक ४ एवं प्रवचनरत्नचिन्तामणि, भाग-३, से साभार)

ऐसे होते हैं साधु

वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता ।
 णिग्गंथा णिम्मोहा साहू दे एरिसा होंति ॥ ७५ ॥
 व्यापारविप्रमुक्ताः चतुर्विधाराधनासदारक्ताः ।
 निर्ग्रन्था निर्मोहाः साधवः एतादृशा भवन्ति ॥ ७५ ॥
 निर्ग्रन्थ हैं निर्मोह हैं व्यापार से प्रविमुक्त हैं ।
 हैं साधु, चउआराधना में जो सदा अनुरक्त हैं ॥ ७५ ॥

गाथार्थ : व्यापार से विमुक्त (समस्त व्यापाररहित), चतुर्विध आराधना में सदा रक्त, निर्ग्रन्थ और निर्मोह - ऐसे साधु होते हैं ।

अब ७५ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं —

(आर्या)

भविनां भवसुखविमुखं त्यक्तं सर्वाभिषंगसंबंधात् ।
 मंक्षु विप्रंक्ष्व निजात्मनि वंद्यं नस्तन्मनः साधोः ॥ १०६ ॥

(वीरछन्द)

संसारी के भव-सुख से जो विमुख, संग सम्बन्ध विहीन ।
 मुनिमन है वह वन्द्य हमें, हे मुनि! मन करो निजात्म विलीन ॥

श्लोकार्थ : भववाले जीवों के भवसुख से जो विमुख है और सर्व सङ्ग के सम्बन्ध से जो मुक्त है, ऐसा वह साधु का मन हमें वंद्य है । हे साधु! उस मन को शीघ्र

निजात्मा में मग्न करो ।



अब, जैन साधु किसे कहना - यह बात इस ७५वीं गाथा में करते हैं ।

प्रश्न - क्या अन्य धर्म में (सच्चे) साधु होते हैं ?

उत्तर - (नहीं;) फिर भी लोग अन्य धर्म में भी सच्चे साधु होना कहते हैं न! 'णमो लोए सव्वसाहूणं'; अर्थात्, जगत के समस्त / अन्य मत के साधु भी इसमें आते हैं - ऐसा कोई कहते हैं न! (परन्तु यह सत्य नहीं है ।) जैन साधु ही सच्चे साधु हैं; इसके अतिरिक्त अन्य मत में कोई सच्चा साधु है ही नहीं ।

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर ने जैसा वीतरागस्वरूप आत्मा कहा है, वैसे वीतरागस्वरूप आत्मा में जिसकी अन्तर्मुखदृष्टि है, उसका ज्ञान है, और अनुभवरूप स्थिरता है, उन्हें सच्चे साधु कहते हैं । जैन परमेश्वर के अलावा दूसरे अन्य मत में ऐसे साधु होते ही नहीं । इस कारण 'णमो लोए सव्व साहूणं' में जो ऐसे (सच्चे जैन) साधु होते हैं, वे ही आते हैं परन्तु इनके अतिरिक्त चाहे कैसा भी वेष धारण किया हो, वे नहीं आते । तथा जो पुण्य से धर्म माननेवाले और अपने को व्यवहार की क्रिया का कर्ता माननेवाले हैं, वे मिथ्यादृष्टि भी जैन साधु में नहीं आते ।

प्रश्न - पुण्य को धर्म तो नहीं माने, परन्तु उपादेय माने तो.... ?

उत्तर - वह तो एक ही बात हुई । वीतरागमूर्ति आनन्दमय आत्मा ही उपादेय है । इसके अतिरिक्त जो विकल्प-राग है, वह हेय है । ऐसा नहीं माननेवाला मिथ्यादृष्टि है और उसे जैन साधु में नहीं गिना जाता । यहाँ गाथा में पहला शब्द ही यह है कि **वावारविप्पमुक्का**; अर्थात्, साधु व्यापार से विमुक्त है, और ऐसे साधु वीतरागमार्ग में ही होते हैं ।

यह, निरन्तर अखण्डित परम तपश्चरण में निरत (लीन) ऐसे सर्व साधुओं के स्वरूप का कथन है ।

देखों, यहाँ कहते हैं कि साधु निरन्तर अखण्डित परम तपश्चर्या / चारित्र में लीन

हैं। जो अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप आत्मा में उग्र पुरुषार्थ से एकाग्र हुए, वे साधु हैं। अहा! निरन्तर अखण्डित परम तपश्चर्या में निरत कहने से आशय यह है कि इच्छा से रहित अमृतस्वरूप भगवान आत्मा में लीन हैं। देखो! साधु, पञ्च महाव्रत में अथवा अट्ठाईस मूलगुणों में लीन है - ऐसा नहीं कहा है क्योंकि पञ्च महाव्रतादि तो विकल्प है, आस्रव है; इसलिए साधु उनमें लीन नहीं होते। ऐसी बहुत कड़क बात है भाई! यह तो वस्तु की स्थिति है; यह कोई सम्प्रदाय नहीं है।

अहा! आत्मा वीतरागमूर्ति है। उसके स्वरूप में जिन्हें निरन्तर अखण्डित परम स्थिरता / लीनता हुई है, यहाँ उन सर्व साधुओं के स्वरूप का कथन है।

साधु कैसे होते हैं ?

परम संयमी महापुरुष होने से त्रिकाल-निरावरण निरञ्जन परम पञ्चमभाव की भावना में परिणमित होने के कारण ही समस्त बाह्यव्यापार से विमुक्त।

अब, व्यापार से परिमुक्त की व्याख्या करते हैं। साधु को विकल्प का व्यापार भी छूट गया है। अहा! साधु परमेष्ठी महापुरुष होने के कारण, अपना त्रिकाली परम पञ्चमभाव / ध्रुवभाव की भावना में; अर्थात्, भगवान आत्मा का जो त्रिकाली नित्यस्वभाव है, उस परम पञ्चमभाव की भावना में परिणमित होने के कारण....।

यहाँ भावना शब्द का आशय एकाग्रता है; विकल्प नहीं। तात्पर्य यह है कि परम पञ्चमभाव की अकेली विकल्पमय भावना, साधु को है - ऐसा नहीं है परन्तु साधु, परम पञ्चमभाव की भावना में परिणमित हैं - ऐसा कहना है और यहाँ ऐसे साधु को लिया है। पञ्चमभाव, यह त्रिकालीभाव (द्रव्य) है और उसकी भावना, वह वर्तमान पर्याय है।

अहा! साधु तो त्रिकाल आनन्द का धाम ध्रुव शुद्ध चैतन्यद्रव्य, ऐसे परम पञ्चमभाव की / वस्तु की अस्ति के त्रिकालीभाव की भावना में परिणमित हैं और इसी कारण वे समस्त बाह्य व्यापार से विमुक्त हैं। जैन परमेश्वर तीर्थङ्करदेव त्रिलोकनाथ के शासन में ऐसे साधु होते हैं और उन्हें ही सच्चा साधु कहा जाता है।

प्रश्न - साधु, समस्त बाह्य व्यापार से विमुक्त क्यों हैं ?

उत्तर - वे निर्विकल्प अखण्ड त्रिकाली पञ्चमभाव की भावना में परिणमित हैं; अर्थात्, उस अवस्थारूप हुए हैं। इसी कारण साधु के समस्त बाह्य व्यापार छूट गया है। उनके विकल्प का व्यापार भी छूट गया है, इस कारण वस्तुतः तो वे पञ्च महाव्रत के विकल्प से भी विमुक्त हैं। वीतराग द्वारा कथित साधु का यह स्वरूप बहुत सूक्ष्म है। अहा! स्वयं नित्य ध्रुव अलौकिक परमात्मा है, उसकी भावना में परिणति को परिणमाते हुए; अर्थात्, भगवान आत्मा नित्य ध्रुव है, उसकी भावना में / एकाग्रता में वर्तमानदशा को परिणमित करते हुए साधु, बाह्य व्यापार से छूट गये हैं। देखो, यहाँ अस्ति-नास्ति से बात की है कि ऐसी निर्मलपरिणति प्रगट हुई; इसलिए बाह्य विकल्प का व्यापार बन्द हो गया। लो, इसे साधु कहते हैं।

अहा! जिसे परमानन्द की पूर्ण प्राप्ति करना है, उसे तो ऐसी आराधना करना पड़ेगी। तात्पर्य यह है कि त्रिकाल आनन्दस्वरूप आत्मा में लीन होनेवाले को परमानन्द की प्राप्ति होती है - उसकी मुक्ति होती है।

देखो! यहाँ ऐसा कहते हैं कि 'समस्त बाह्य व्यापार से विमुक्त'। गाथा में भी **वावारविप्पमुक्का** शब्द है। टीका में 'प्प' शब्द में से 'समस्त' शब्द निकाला है। अहा! मुनिराज समस्त बाह्य व्यापार से विमुक्त हैं। उनके तो उपदेश का भी (नियमरूप) व्यापार नहीं है। उपदेश तो आचार्य और उपाध्याय के होता है, जबकि मुनि तो अपने स्वरूप को साधते हैं और उनको, मात्र वीतरागभाव का परिणमन है - ऐसा कहते हैं।

अब, यह बताते हैं कि मुनि, आराधना में लीन हैं - **ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और परम तप नामकी चतुर्विध आराधना में सदा अनुरक्त।**

भगवान आत्मा की श्रद्धा, उसका ज्ञान, शान्तिरूप चारित्र और इच्छा निरोधरूप तप - इन चार आराधना में मुनिराज लीन है; अर्थात्, वे अमृतस्वरूप भगवान आत्मा की आराधना में लीन है; इसलिए दुनिया धर्म प्राप्त करे या न करे - ऐसा विकल्प मुनि के है ही नहीं। वे साधु तो आत्मा का ज्ञान, आत्मा का दर्शन, आत्मचारित्र और आत्मा में विशेष उग्र पुरुषार्थ से लीनता (तप), - ऐसी चतुर्विध आराधना में सदा अनुरक्त हैं। देखो, गाथा में ही न **चउव्विहाराहणासयारत्ता।**

प्रश्न - यदि साधु सदा आराधना में अनुरक्त होते हैं, तो आहार-पानी कब लेते हैं ?

उत्तर - वे खाते भी नहीं और पीते भी नहीं। खाने-पीने का विकल्प आवे और उस सम्बन्धी क्रिया हो, वे तो उसके भी ज्ञाता ही रहते हैं। यह णमो लोए सव्व साहूणं की व्याख्या चलती है। इसमें कहते हैं कि ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तप - इन चार प्रकार की आराधना में, इनके सेवन में जो लीन हैं, वे साधु हैं। साधयति इति साधु; अर्थात्, जो अन्दर में पूर्ण स्वरूप की साधना करते हैं, वे साधु हैं परन्तु ऐसा पूर्णस्वरूप और पूर्णस्वरूप की शक्ति का धारक आत्मा, सर्वज्ञ वीतराग के मार्ग में ही होता है; इसलिए उसकी साधना करनेवाले सच्चे साधु भी सर्वज्ञ वीतराग के मार्ग में ही होते हैं। यहाँ कहा गया है कि साधु पूर्णस्वरूप की आराधना में तत्पर हैं, जिससे पर्याय में पूर्ण स्वरूप की प्रगति होती है।

अब, कहते हैं कि साधु निर्ग्रन्थ हैं - बाह्य-अभ्यन्तर, समस्त परिग्रह के ग्रहण से रहित होने के कारण निर्ग्रन्थ - मुनिराज को बाह्य में वस्त्र का एक टुकड़ा... अरे! एक धागा भी... नहीं होता। अष्टपाहुड़ (सूत्रपाहुड़, गाथा १८ व बोधपाहुड़, गाथा ५५ में) कहा है न तिलतुसमितं; अर्थात्, किसी को तिल के तुषमात्र भी परिग्रह हो, तो वह मुनि नहीं है और यदि वह अपने को मुनि मानता है तो निगोद में जाता है - ऐसी वस्तु की स्थिति है। अहा! मुनिदशा में वस्त्र-पात्र के ग्रहण का विकल्प ही नहीं होता।

मुनि किसे कहते हैं ? धन्य दशा! धन्य अवतार!! कि जिसने केवलज्ञान को हथेली में लेने की तैयारी की है - ऐसे मुनि को बाह्य में वस्त्र नहीं होता और अन्तरङ्ग में राग का कण भी नहीं होता। - इस कारण मुनि निर्ग्रन्थ हैं - ऐसा कहते हैं।

मुनि निर्ग्रन्थ क्यों है ? क्योंकि उनके बाह्य-अभ्यन्तर ग्रन्थ का राग छूट गया है, इस कारण साधु को निर्ग्रन्थ कहा गया है।

अब, साधु, निर्मोह हैं, ऐसा कहते हैं - सदा निरञ्जन निज कारण समयसार के स्वरूप के सम्यक्, श्रद्धान, सम्यक् परिज्ञान और सम्यक् आचरण से प्रतिपक्ष, ऐसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का अभाव होने के कारण निर्मोह है।

यहाँ कहते हैं कि साधु निर्मोह होते हैं। सदा निरञ्जन; अर्थात्, त्रिकाल शुद्ध। आत्मा त्रिकाल शुद्ध है। अहा! सदा निरञ्जन निज कारणप्रभु के स्वरूप का; अर्थात्, त्रिकाल परमात्मस्वरूप ध्रुव निज कारण समयसार के स्वरूप का सम्यक्श्रद्धान, वह सम्यग्दर्शन है। सदा निरञ्जन निज कारण समयसार के स्वरूप का परिज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान है और सदा निरञ्जन त्रिकाली भगवान आत्मा के स्वरूप का सम्यक् आचरण, वह सम्यक्चारित्र है। ये तीनों; अर्थात्, नित्य (त्रिकाली) भगवान आत्मा के स्वरूप का सम्यक्श्रद्धान, सम्यक्परिज्ञान और सम्यक्आचरण – यह परिणमनरूप है। आत्मा का ध्रुव वीतरागी स्वरूप है, उसका सम्यक्श्रद्धान, सम्यक्परिज्ञान और सम्यक्आचरण से प्रतिपक्षरूप मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का अभाव होने से, साधु को निर्मोह कहा जाता है।

देखो! यहाँ यह कहा है कि सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र से प्रतिपक्ष मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र है; इसलिए निश्चय का प्रतिपक्ष व्यवहार नहीं, अपितु मिथ्याश्रद्धादि है परन्तु भाई! यहाँ कही गयी बात दूसरी है और गाथा ०३ में विपरीत के परिहार के लिए सार शब्द जोड़ा गया है – ऐसा जो कहा है, उसका अर्थ यह है कि प्रतिपक्षरूप व्यवहार से निश्चय, रहित है। व्यवहार का फल और व्यवहार – इन दोनों से निश्चय प्रतिपक्ष है – ऐसा जो कहा गया है, वह दूसरी बात है। वहाँ तीसरी गाथा में तो व्यवहार के विकल्प का अभाव बताकर, निश्चय बतलाना है; जबकि यहाँ तो साधु ने निर्मोहदशा प्रगट की है तो उसको मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रभाव का अभाव हुआ है – ऐसा कहना है। अहा! क्या करें? (अर्थात्, जिसे विरोध ही करना है, उसे कैसे समझाया जा सकता है?)

अज्ञानी को अन्तरङ्ग में ऐसा मिथ्या आग्रह हो जाता है कि वह उसे नहीं छोड़ता तथा उसे निश्चय का भान नहीं होने से वह व्यवहार को ही सर्वस्व मान लेता है कि यह सब क्रिया पालन करते हैं, वह हमारा साधुपना / मुनिपना है और यही मोक्ष का मार्ग है परन्तु भाई! ऐसी बाह्यक्रिया से कहीं मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि मोक्षमार्ग तो उपशमरसमय / शान्तरसमय है। भगवान आत्मा शान्तरसस्वरूप / अकषायरसस्वरूप है, उस अकषायरूप का पर्याय में परिणमन होना ही मोक्ष का मार्ग है। इसके अतिरिक्त बीच

में (भूमिकानुसार) यह व्यवहार / कषाय आता है, वह कहीं मोक्ष का मार्ग नहीं है।

इस नियमसार की तीसरी गाथा में 'नियमसार' की व्याख्या में कहा है कि 'नियम' के साथ 'सार' शब्द विपरीतता के परिहार के लिए लगाया गया है। वहाँ विपरीत का आशय व्यवहाररत्नत्रय है। जैसे, 'समयसार' में 'समय'; अर्थात्, आत्मा और 'सार'; अर्थात्, द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रहित - यह आशय है। वहाँ भावकर्म कहने से पुण्य-पाप के दोनों विकल्प समाहित हैं और उनसे रहित, वह समयसार है। इसी प्रकार 'नियमसार' में 'नियम' अर्थात्, आत्मा के स्वाभाविक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, जो कि स्वाश्रय से निर्मलरूप प्रगट हुए हैं और 'सार'; अर्थात्, निश्चयरत्नत्रय से विरुद्ध व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प से रहित। अहा! जिस प्रकार समयसार में 'सार' शब्द क्यों कहा? क्योंकि समय / आत्मा, द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित है; इसलिए सार शब्द कहा है। इसी प्रकार यहाँ नियमसार में 'सार' शब्द क्यों कहा? क्योंकि निश्चयरत्नत्रय, व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प से रहित है; इसलिए 'सार' शब्द कहा है। परन्तु यहाँ ७५ वीं गाथा में उक्त अर्थ नहीं है। यहाँ तो साधु को निर्मोह कहना है (इसलिए सम्यग्दर्शनादि से प्रतिपक्ष मिथ्यादर्शनादि है - ऐसा कहा है।) अरे! शास्त्र का अर्थ करने में अपना पक्ष / स्वार्थ का पोषण करना; अर्थात्, अन्य अर्थ करना तो अरे रे! महान अनर्थ है। ऐसी विपरीतता से जीव अपना क्या नुकसान करता है - इसका अज्ञानी को पता नहीं है।

परमनिर्वाणसुन्दरी की सुन्दर माँग की शोभारूप कोमल केशर के रज-पुञ्ज के सुवर्णरङ्गी अलङ्कार को (केशररज की कनकरङ्गी शोभा को) देखने में कौतूहलबुद्धिवाले, वे समस्त साधु होते हैं।

पूर्ण आनन्द की दशा को अवलोकन करने में / प्राप्त करने में आतुर बुद्धिवाले मुनि होते हैं; अर्थात्, समस्त साधु पूर्ण आनन्द की प्राप्तिरूप मुक्ति के अवलोकन करने में कौतूहल बुद्धिवाले होते हैं। मुनि को ऐसी भावना नहीं होती कि कुछ पुण्य होगा और हम स्वर्ग में जायेंगे अथवा लोग हमें मानेंगे / पूजेगें। जैन के सभी सच्चे साधु ऐसे होते हैं और अन्यत्र तो ऐसे साधु होते ही नहीं। इसलिए **णमो लोए सव्व साहूणं** में समस्त; अर्थात्, अन्य मत के साधु भी आ जाते हैं - ऐसा नहीं है।

प्रश्न - **णमो लोए सव्व साहूणं** में अन्य मत के साधुओं को भी गिनने पर ही तो साधु की संख्या पूर्ण होगी न ?

उत्तर - अन्य मती साधु तो मिथ्यादृष्टि हैं। उन्हें साधुपने में कैसे गिना जा सकता है ? यहाँ तो चौथे अथवा पाँचवें गुणस्थानवाले भी इस पद में / साधुपद में नहीं आते - ऐसा कहना है; तब जो मिथ्यादृष्टि हैं, उन अन्य मती साधुओं की तो बात ही कहाँ रही ?

अहा! साधु तो अतीन्द्रिय आनन्द की सेवा / स्वरूप की आराधना करते हैं, उसकी आराधना में ही तत्पर / लीन हैं और यहाँ उन्हें ही सच्चा साधु कहा गया है। देखो! पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कहा है कि जितने साधु के भाव / गुण कहे गये हैं, उन सबका एक देश भाग (अंश) श्रावक को भी लागू पड़ता है, इस कारण श्रावक को भी निश्चयरत्नत्रय एकदेश प्रगट हुआ है परन्तु निश्चयरत्नत्रय प्रगट हुआ या नहीं? - ऐसा मुझे (पूज्य गुरुदेवश्री को) कहना है। भले ही श्रावक को निश्चयरत्नत्रय प्रगट तो हुआ है न? और उसमें भी श्रावक को श्रद्धा का एक देश अंश प्रगट हुआ है - ऐसा नहीं है; आचरण का एक देश प्रगट हुआ है, क्योंकि एक देश और सर्व देश - ये आचरण के भाग (भेद) हैं; परन्तु सम्यग्दर्शन के (- श्रद्धा के) भाग नहीं हैं। मुनि को सर्व देश समकित है और श्रावक को एक देश / एक अंश समकित है - क्या ऐसा है? (नहीं, क्योंकि समकित के ऐसे भेद नहीं हैं।)

भववाले जीवों के भवसुख से जो विमुख है.... देखो! भववाले जीवों के भवसुख -ऐसा कहा है। आशय यह है कि इन्द्रिय के विषयों में सुख है, मान-प्रतिष्ठा में सुख है - ऐसा भव में रहनेवाले अज्ञानी जीवों को भव-सुख की कल्पना है, उससे मुनि विमुख हैं। पाँच इन्द्रिय के विषयों में, राग में अथवा पुण्य में भी कहीं सुख नहीं है - ऐसा मुनिराज मानते हैं।

...और सर्व सङ्ग के सम्बन्ध से जो मुक्त है... यह साधु की बात है न! इसीलिए उन्हें सर्व सङ्ग छूट गया है, यह कहते हैं। असङ्ग भगवान आत्मा के सङ्ग में स्थित मुनि को समस्त पर का सङ्ग छूट गया है।

प्रश्न - शास्त्र का सङ्ग तो होता है न ?

उत्तर – वस्तुतः वह भी अन्तर में नहीं है। शास्त्र वाँचन का विकल्प है, उससे भी साधु छूटे हुए हैं, क्योंकि वे व्यवहार से मुक्त हैं। अरे! चौथे गुणस्थान में समकिती भी राग से, व्यवहार से मुक्त है, अर्थात् देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा के विकल्प से मुक्त है तो फिर मुनि की क्या बात करना? सम्यग्दर्शन होने पर समकिती को भी विकल्प से मुक्तदशा है। हाँ; अस्थिरता की अपेक्षा विकल्प हो, फिर भी दृष्टि की अपेक्षा से तो विकल्प से मुक्त हैं। राग, दृष्टि का विषय नहीं है और दृष्टि के परिणमन में राग नहीं आता; इसलिए सम्यग्दर्शन होने पर समकिती भी शास्त्र-पठन आदि के विकल्प से छूटा हुआ है और मुनि भी उन विकल्पों से छूटे हुए हैं – ऐसा कहते हैं।

दूसरे प्रकार से कहें तो सम्यग्दर्शन होने पर वीतरागरस से परिणमित हुआ भगवान् आत्मा, रागरस से पृथक् पड़ गया है, यह बात जगत् को पकड़ना बहुत कठिन है; इसलिए अन्तर की पकड़ / समझ के बिना बाह्य की क्रिया करके साधु होकर चल निकलते हैं – परन्तु भाई! मार्ग तो ऐसा है, यह तेरे स्वभाव के लाभ की बात है, वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

यहाँ कहते हैं कि मुनि, सर्व सङ्ग के सम्बन्ध से मुक्त है। अहो! इसमें क्या सङ्ग बाकी रहा? अहा! जिनवाणी की तरह देव, गुरु भी पर हैं, इसलिए उनका सङ्ग भी मुनि को अन्तरङ्ग से छूट गया है। बापू! मोक्ष का मार्ग कोई अलौकिक है, वह अन्तर अवलोकन के बिना बाह्य से प्राप्त हो – ऐसा नहीं है। देखो, कलश में 'त्यक्तं सर्वाभिषंगसंबन्धात्' – ऐसा है न! तात्पर्य यह है कि मुनि को कोई सङ्ग है ही नहीं। यद्यपि चौथे गुणस्थान में समकिती को दृष्टि की अपेक्षा से विकल्प का सङ्ग नहीं है, वह विकल्प से मुक्त है; तथापि अस्थिरता की अपेक्षा राग है, परन्तु अब तो उस अस्थिरता के राग से भी मुनि छूट गये हैं – ऐसा कहते हैं। अहा! अकेली वीतराग धारा, वह साधुपद है। जबकि बीच में पञ्च महाव्रतादि का विकल्प आता है, वह कर्मधारा है और वह स्वरूप में है ही नहीं।

.....ऐसा वह साधु का मन हमें वंद्य है। मन, अर्थात् चैतन्य परिणमन। मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव स्वयं कहते हैं कि ऐसा उस साधु का चैतन्य परिणमन हमें वन्द्य

है। अहा! भववाले जीवों के भवसुख से जो विमुक्त हैं, अर्थात् आत्मा के आनन्द-सुख के जो सन्मुख हैं तथा जो सर्व सङ्ग के सम्बन्ध से मुक्त हैं, अर्थात् असङ्ग भगवान् आत्मा के सङ्ग में जो लीन हैं, ऐसा साधु का चैतन्य परिणमन हमें वन्द्य है – ऐसा मुनिराज कहते हैं। देखो, टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव अन्य मुनि के लिए यह कहते हैं।

.... हे साधु! उस मन को शीघ्र निजात्मा में मग्न करो। शुद्धपरिणति को अत्यन्त अन्तर निमग्न करो, उग्ररूप से अन्तर में स्थिर होओ – ऐसा कहते हैं। जहाँ पूर्णानन्दस्वरूप स्वयं प्रभु भगवान् आत्मा विराजमान है, वहाँ लीन होओ, यह साधु का कर्तव्य / कार्य है। अरे! अन्यत्र तो इस बात की गन्ध भी सुनने को नहीं मिलती, वहाँ तो यह करो, वह करो – यह बात मिलती है। अरे रे! जीवन चला जाता है। ●

(नियमसार गाथा ७५ एवं कलश 106 पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन)



धन्य! आज का दिन!!

चैतन्य की मस्ती में मस्त मुनि को देखते हुए गृहस्थ को ऐसा भाव आता है कि अहा! रत्नत्रय साधनेवाले सन्त को शरीर की अनुकूलता रहे — ऐसा आहार-औषध देऊँ, जिससे वे रत्नत्रय को निर्विघ्न साधें; इसमें मोक्षमार्ग का बहुमान है। अहो! धन्य ये सन्त और धन्य आज का दिन कि मेरे आँगन में मोक्षमार्गी मुनिराज के चरण पड़े..... आज तो मेरे आँगन में साक्षात् मोक्षमार्ग आया....। वाह! धन्य ऐसे मोक्षमार्गी मुनियों को, जिन्हें देखते ही श्रावक का हृदय बहुमान से उछल जाता है। जिसे धर्मों के प्रति भक्ति नहीं, आदर नहीं; उसे धर्म का भी प्रेम नहीं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

शुभोपयोगी एवं शुद्धोपयोगी श्रमण

आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, शरीर-मन-वाणी इत्यादि पर हैं; दया, दानादि का विकल्प उत्पन्न होता है, वह आस्रव है, उनसे अर्थात् पर और आस्रव से रहित अनाकुल शान्तस्वभाव की प्रतीति होना, वह प्रथम सम्यग्दर्शन धर्म है। वह सम्यग्दर्शन होने के बाद शुद्धस्वभाव में स्थिरता अथवा रमणता वर्तती है किन्तु राग नहीं वर्तता, वह शुद्धोपयोगी साधु अथवा निश्चय साधु है।

किसी मुनि को आत्मा का भान है तथा कितनी ही स्थिरता भी है परन्तु पञ्च महाव्रत का विकल्प उत्पन्न होता है। वह उस विकल्प का स्वामी नहीं है परन्तु विकल्प का अभाव करके शुद्धस्वरूप में जाना चाहता है; इस कारण उसको व्यवहार साधु अथवा शुभोपयोगी साधु कहते हैं।

जिनागम में, एकाग्रता अथवा मोक्षमार्ग के दो भेद कहे गये हैं। सातवें गुणस्थान से स्वरूप में लीनता वर्तती है तथा छठवें गुणस्थान में भी मोक्षमार्ग है क्योंकि वहाँ भी अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषाय का अभाव हुआ है, उतना चारित्र वहाँ भी प्रगट हुआ है; इसीलिए छठवें गुणस्थान में शुभास्रव को गौण करके 'व्यवहार साधु' कहा है। यहाँ चारित्र के निश्चय और व्यवहार की बात है। दृष्टि का निश्चय अर्थात् मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, शरीरादि की क्रिया नहीं कर सकता, राग मेरा स्वरूप नहीं है - ऐसी प्रतीति तो चौथे गुणस्थान में ही हो गयी है। यहाँ तो उसके आगे की बात है।

स्वरूप में रमणता होना, वह निश्चयचारित्र और शुभविकल्प उत्पन्न होना, वह

व्यवहारचारित्र कहा जाता है। इस प्रकार यहाँ तो चारित्र धर्म की बात चलती है।

जिसको निश्चयदृष्टि का भान नहीं है, सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं हुआ है; जो शरीर की क्रिया अथवा राग से धर्म मानता है, वह बाह्य से पञ्च महाव्रत पालन करता होने पर भी व्यवहार साधु नहीं कहा जाता।

शुद्धस्वभाव का भान होने के पश्चात् जो मुनि अपने स्वभाव में लीनता करता है, उसे अनास्रव कहा है अर्थात् उन्हें मलिनभाव का बन्धन नहीं है और जिन मुनि को स्वरूप का भान होने पर भी, स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकते; इस कारण महाव्रतादि के विकल्प उत्पन्न होते हैं अर्थात् मलिनभाव है, इसलिए बन्धन है।

शङ्का - समयसार में तो जिसे दृष्टि का भान हुआ अर्थात् चौथा गुणस्थान प्रगट हुआ, उस ज्ञानी को भी निरास्रव कह दिया है और यहाँ छठवें गुणस्थान में मुनि को आस्रवसहित कहा है - इसका क्या कारण है ?

समाधान - जीव, अनादिकाल से शरीर की क्रिया और पुण्य में धर्म मानता था। जब उस जीव को ऐसे श्रद्धा-ज्ञान हुए कि मैं तो ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा हूँ, शरीर मेरा नहीं है, पुण्य की क्रिया मेरी नहीं है, तब वह विकार का स्वामी नहीं होता; इस कारण उसको अनन्त संसार के कारणरूप मिथ्यात्व, राग-द्वेष का आस्रव नहीं होता, इसलिए समयसार में दृष्टि की अपेक्षा से चौथे गुणस्थानवाले को निरास्रव कहा है, लेकिन यहाँ चरणानुयोग का अधिकार है। मुनि को दृष्टि तो है, आत्मा का श्रद्धा-ज्ञान है, तीन कषाय चौकड़ी का अभाव भी है, तथापि महाव्रतादि का राग उत्पन्न होता है, इतनी मलिनता भी है और वह बन्ध का कारण है; इस कारण उन्हें चारित्र की अपेक्षा से आस्रव कहा गया है। इस प्रकार दोनों कथनों की अपेक्षा समझना चाहिए।

मुनि को शुद्धस्वभाव का भान है, उस भानसहित स्वरूप रमणता करने की प्रतिज्ञा होती है परन्तु वह कर नहीं सकते, क्योंकि अस्थिरताजन्य राग-द्वेष जीवित है, विद्यमान है। भगवान की भक्ति, दया इत्यादि का राग वर्तता है अर्थात् कषाय का सम्पूर्ण अभाव नहीं हुआ है। यहाँ यह नहीं कहा है कि चारित्रमोहनीय कर्म का उदय है, इसलिए कषायकण जीवित है। अपने स्वभाव में लीन नहीं होने से राग रहा है। अपने आत्मा का स्वभाव तो

सुविशुद्ध दर्शन और ज्ञानमय है; उस आत्मा में लीनतारूप शुद्धोपयोगरूप परिणति, समस्त परद्रव्यों और शुभाशुभभावों से निवृत्तिरूप है लेकिन उसमें लीन रहने में जो समर्थ नहीं हैं, वे शुभोपयोगी मुनि हैं।

(१) उन मुनि को स्वरूप का भान होने पर भी स्वभाव में स्थिर नहीं रह सकते, किन्तु स्वरूप में स्थिरता के अभिलाषी हैं। जैसे, गाँव की तलहटी में खड़ा मनुष्य गाँव के समीप गिना जाता है; उसी प्रकार मुनि, स्वरूप की शान्ति में स्थिरता के अभिलाषी होने से शुद्धोपयोग के समीप खड़े हैं।

(२) जिनकी शान्ति को कषाय ने कुण्ठित की है अर्थात् जैसे, किसी मनुष्य का गला पकड़ने से उसकी श्वास कुण्ठित हो जाती है; उसी प्रकार छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज को संज्वलन कषाय वर्तती है, वह शुद्धोपयोगदशा नहीं होने देती।

(३) जो आत्मा का भान होने पर भी, पञ्च महाव्रतादि के परिणामों में अत्यन्त आतुर मनवाले हैं। जब शुद्धोपयोगी मुनि, स्वरूप में लीन होते हैं, तब बुद्धिपूर्वक मन का सम्बन्ध नहीं होता, परन्तु छठवें गुणस्थान में राग वर्तता होने से 'आतुर मनवाले' कहा है।

ऐसे शुभोपयोगी जीव, जो शुद्धोपयोग की समीप दशावाले हैं, जो पञ्च महाव्रतादि का पालन करते हैं, वे श्रमण हैं या नहीं? – यह यहाँ कहा जाता है।

अहो! देखो, वस्तुस्वरूप!! जिन्हें दृष्टि का भान अर्थात् सम्यग्दर्शन तो है परन्तु अभी पञ्च महाव्रतादि के विकल्प उत्पन्न होते हैं, उन्हें मुनि कहना या नहीं? – यह बात चल रही है। तब फिर जो जीव, पाप से हित और पुण्य से धर्म मानते-मनवाते हैं, वे तो संसार के गहरे कुएँ में पड़े हैं। इसलिए वे स्वयं तो निकल नहीं सकते परन्तु अन्य को भी उन्हें निकालने में कठिनाई पड़ती है।

कोई कहता है कि हमें इन सब बातों से क्या काम है? परन्तु भाई! मुनि कैसे होते हैं – इसकी पहिचान तो करनी चाहिए न! जिसे मुनिपने की व्यवहार श्रद्धा भी नहीं हो, उसे अन्तर अनुभव तो होता ही नहीं और उसके बिना मुक्ति नहीं होती। जिसे पूरे दिन खाना-पीना और मौज करना है, जो पाप में सुख मानता है और जिसे राग की श्रेणी चला करती है, वह जीव तो अनात्मा है। उसका समय तो खाने-पीने में, मौज-मस्ती में जाता

है। अज्ञानी को पैसा-टका मेरा है, शरीरादि मेरा है - ऐसी रमणता करने का समय तो मिलता है परन्तु आत्मा क्या है ? मोक्ष कैसे हो ? - इसका भान उसे नहीं होता।

पाँच-पचास हजार रुपये इकट्ठे हुए हों और सभी कुटुम्बीजन इकट्ठे होकर दावत उड़ाते हों तो अज्ञानी अपने को सुखी मानता है परन्तु भाई ! इसमें कुछ भी दम नहीं है तथा किञ्चित् प्रतिकूलता आए, रोग थोड़ा लम्बे काल तक चले तो अज्ञानी विचारता है कि यह जिन्दगी किस प्रकार चलेगी ? अरे भाई ! यह तो जड़ की अवस्था है। इसे रहना होगा तो रहेगी; तू तो आत्मा की पहिचान कर।

यहाँ तो आत्मभानवाले जीव, पञ्च महाव्रतादि के परिणामों को भी दुःखदायक मानते हैं और स्वरूप-स्थिरता के अभिलाषी हैं, उनकी बात चलती है। तब फिर जो जीव अकेले अशुभभाव में पड़े हैं और आत्मा की दरकार भी नहीं करते, वे तो दीर्घसंसारी ही हैं। इसलिए यहाँ तो धर्म कैसे होता है ? मुनिपना किसे कहते हैं ? - उसकी पहिचान कराते हैं। मोक्षमार्ग की अथवा मुनिपने की सच्ची श्रद्धा तो करनी चाहिए।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इसी ग्रन्थ की ११वीं गाथा में स्वयं ही निरूपण किया है कि धर्म-परिणत स्वभाववाला आत्मा, यदि शुद्धोपयोग में युक्त हो तो मोक्षसुख को प्राप्त करता है और यदि शुभोपयोगवाला हो तो स्वर्गसुख को प्राप्त करता है; इसलिए शुभोपयोग का धर्म के साथ एकार्थ समवाय है अर्थात् आत्मा में धर्म और शुभोपयोग साथ-साथ हो सकते हैं; इसलिए शुभोपयोग का धर्म के साथ एकार्थ समवाय है।

शुद्ध आत्मा के लक्ष्य से धर्म होता है - ऐसी सम्यक्दृष्टि और पुण्य से भी धर्म होता है - ऐसी मिथ्यादृष्टि; ये दोनों साथ-साथ नहीं हो सकती, परन्तु स्वरूप का भान होने के पश्चात् चारित्र की पर्याय में कुछ अंश निर्मल और कुछ अंश मलिन हैं - इस प्रकार उस एक पर्याय में दो भाग हैं। छठवें गुणस्थान में शुभोपयोगी जीवों को भी आंशिक वीतरागता है और आंशिक राग है - इस प्रकार दोनों साथ हैं; उसमें विरोध नहीं है, इसलिए शुभोपयोगी भी श्रमण हैं परन्तु जो अपने शुद्धस्वभाव में लीन रहते हैं, उन शुद्धोपयोगी मुनि से वे समान नहीं हैं।

उसका कारण यह है कि शुद्धोपयोगी मुनि ने बुद्धिपूर्वक के राग-द्वेष का अभाव

किया है। यद्यपि संज्वलन सम्बन्धी अबुद्धिपूर्वक राग का अभाव तो दसवें गुणस्थान के अन्त में ही होता है परन्तु बुद्धिपूर्वक राग का अभाव होने से समस्त कषायों का अभाव हुआ - ऐसा कहा है और इसी कारण उन्हें निरास्रव कहा है।

छठवें गुणस्थान में संज्वलन का तीव्र उदय वर्तता है; इसलिए वे सास्रव हैं अर्थात् आस्रवसहित हैं। इस प्रकार शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं और शुभोपयोगी आस्रवसहित है। इसी कारण शुभोपयोगी को शुद्धोपयोगी के साथ नहीं लिया जाता, परन्तु पीछे से अर्थात् गौणरूप से लिया जाता है।

छठवें गुणस्थान में तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक आंशिक वीतरागता है - ऐसी अनुपचारदशा है और वे परिपूर्ण वीतरागता के अभिलाषी हैं; इसलिए उनके शुभराग को निमित्त मानकर उपचार किया है। यहाँ उपचार का अर्थ मिथ्या नहीं समझना चाहिए। मुक्तिमार्ग में मुख्य तो शुद्धोपयोगी मुनि ही हैं, छठवें गुणस्थानवर्ती शुभोपयोगी मुख्य नहीं हैं, इस कारण उनको गौण माना गया है लेकिन पुण्य और बाह्य क्रिया से धर्म माननेवाले जीव तो अत्यन्त दूर अर्थात् मिथ्यादृष्टि ही हैं।

प्रश्न - हम आत्मा की श्रद्धा करेंगे, परन्तु चारित्र से क्या काम है ?

उत्तर - अरे! दर्शनशुद्धिसहित चारित्र की भावना कर! श्रद्धा जिस सम्पूर्ण आत्मा का परिपूर्ण स्वीकार करती है, उसमें सभी गुण आ जाते हैं, इसलिए चारित्र का अनादर नहीं हो सकता। अपनी कमजोरी के कारण चारित्र नहीं ले सकना, अलग बात है परन्तु चारित्र का अनादर करना तो आत्मा का अनादर करने जैसा ही है; अतः उस जीव की दृष्टि भी सच्ची नहीं है। इसलिए 'चारित्र फिर होगा - ऐसा बोलना भी नहीं'। भावना और श्रद्धा तो परिपूर्ण आत्मा की ही भाना चाहिए, उसमें सभी गुण अखण्डरूप से परिपूर्ण होओ - ऐसी भावना भाना चाहिए।

आत्मा का मूल स्वभाव दुःखदायक नहीं है, अपितु पराधीन दृष्टि दुःखदायक है, पराधीनता में दुःख है, स्वभाव में दुःख नहीं है, जिसे दुःख को नष्ट करके सुख प्रगट करना हो, उसे शुद्ध आत्मस्वभाव को भाना चाहिए। मैं अन्तर्मुख दृष्टि करूँ तभी मुझे

शान्ति प्राप्त होगी। मैं समतास्वरूपी हूँ, मेरा आनन्द मुझमें ही है; किन्तु अज्ञानी जीवों को इसकी खबर नहीं है।

आत्मा जानने-देखनेवाला है। शरीर-पैसा, राग-द्वेषादि सब जाने जाते हैं। इस जगत में ऐसा कौन-सा पदार्थ है कि जिसे आत्मा नहीं जानता हो? किसी क्षेत्र को याद करें तो उसके पीछे ज्ञान की ही विद्यमानता है। जहाँ कहीं भी जो वस्तु हो उसको जानने के पीछे ज्ञान ही रहता है। पूर्व में किए हुए अपराध या अहङ्कार याद आवे, निर्धनता अथवा सधनता याद आवे, अनेक विकल्प, कुटुम्बीजन, शुभाशुभ भाव याद आवें तो उसके पीछे एक ज्ञान ही रहता है। कोई कहता है कि यह बात मुझे याद नहीं रहती, मैं भूल जाता हूँ तो इसके पीछे भी ज्ञान की ही विद्यमानता है। ज्ञान की पर्याय कहाँ, किस क्षेत्र में नहीं है, कौन से ज्ञेय को नहीं जानती है? वह तो समस्त वस्तुओं को देखती-जानती है।

समस्त वस्तुओं के स्मरण के पीछे ज्ञान विद्यमान है। विकल्प अनेक और ज्ञान एक है। मिथ्यादृष्टि को अज्ञान होने से दुःख है। साधक ज्ञानी को आंशिक आनन्द है। ज्ञान की पर्याय में जो ज्ञान की एकता दिखाई देती है, उस पर्याय का धाम नित्य ध्रुव पदार्थ है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान करे वह साधक कहलाता है। वह साधकदशा और सिद्धदशा कैसे प्रगट होती है? उसकी यहाँ बात चल रही है। विकार की आकुलता के कारण जो अनेकता दिखाई देती है वह अनेकता मिटकर अनाकुलता हो तो ज्ञान की एकता हुई - ऐसा कहा जाता है।

दया-दानादि अनेकता का लक्ष्य छोड़कर ज्ञान की एकता के साथ सन्धि करके मैं ज्ञानस्वभावी शान्त हूँ - ऐसा निश्चय करना सम्यग्दर्शन है। इसके बाद साधुपना होता है। जो ज्ञान, ज्ञानरूप भासित होता है, वह चैतन्य शक्ति में से आता है। जानने की अवस्था पलट जाती है, फिर भी ज्ञान रहता है, वह ज्ञान की कायम स्वरूप शक्ति है। जगत के किसी भी पदार्थ की स्थिति को जानने में ज्ञान की उपस्थिति है। ज्ञान स्वयं सदा उपस्थित रहता है। उसे स्वयं की शान्ति के लिए पर-पदार्थों की आवश्यकता नहीं है। शरीर, मन, वाणी, राग-द्वेष इन सबको जानने से मुझे सुख मिलेगा - ऐसी जिसकी श्रद्धा है, वह सच्ची श्रद्धा नहीं है।

अन्तरसन्मुख दशा के बिना आनन्द नहीं हो सकता। पूर्णदशा को साधने का साधन स्वयं में ही है। आनन्द में पर-पदार्थ नहीं है; अतः आनन्द में मैं हूँ – यह नक्की करके चैतन्य को जागृत करना चाहिए। जैसे सोते हुए लड़के को माँ-बाप जगाते हैं, वैसे ही अनादि काल से मोह-निद्रा में सोये हुए आत्मा को सर्वज्ञदेव जागृत करते हैं; किन्तु यह अभी तक जागृत ही नहीं हुआ है। मैं कौन हूँ – इसका विचार ही इसने नहीं किया है।

मैं आत्मा आनन्दस्वरूप हूँ – ऐसी विचारणा कर। अहो! मैं सबको जाननेवाला हूँ तो फिर मुझे दुःख कैसे हो सकता है। ज्ञान में भेद नहीं होता – ऐसा निश्चित करके ज्ञान के साथ आंशिक आनन्द प्रगट करे तो ही सम्यग्दर्शन और धर्म की भूमिका हो सकती है। ज्ञान के साथ सर्वथा आकुलता और खेद रहे तो धर्मदशा नहीं होती; किन्तु ज्ञान के साथ आंशिक अनाकुल आनन्ददशा प्रगट होती है। वह दशा ज्ञान के नित्यधाम शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता से प्रगट होती है।

ज्ञान-भानपूर्वक स्वरूप में विशेष लीनता बढ़ती है। जिसने अन्तर ज्ञानव्यापार को स्थिर किया है – ऐसे शुद्धोपयोगी मुनि श्रमण हैं और शुभोपयोगी भी गौणरूप से श्रमण हैं। ऐसा कथन परमागमों में कहा है।

जिस प्रकार परमशुद्ध और पूर्ण ज्ञानदशा को पाये हुए सिद्ध जीव ही निश्चय से ही जीव कहलाते हैं और व्यवहार से चार गतियों में रहनेवाले संसारी जीव भी जीव कहलाते हैं, किन्तु जड़ पदार्थ कभी भी जीव नहीं कहलाते। उसी प्रकार स्वरूप की अन्तर रमणता करनेवाले साधु मुख्य श्रमण हैं और जिन्हें स्वरूप का भान तो है; किन्तु लीनता नहीं है तथा पाँच महाव्रतादि के पालन में जो तत्पर हैं – ऐसे शुभोपयोगी जीव गौणरूप से श्रमण कहलाते हैं।

शुद्धोपयोगी श्रमणों ने आत्मा के शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान के उपरान्त एकाग्रता की बुद्धिपूर्वक समस्त शुभाशुभभावों का अभाव किया है, अतः आस्रव रहित हैं तथा दया आदि के परिणामों में रहनेवाले शुभोपयोगी आस्रव सहित हैं। उन्हें मिथ्यात्व का परिणाम नहीं है तथा संसार के स्त्री कुटुम्बादिक का अशुभ आस्रवरूप परिणाम भी नहीं है; तथा महाव्रतादि

के परिणाम होते हैं, उनका निषेध करते हुए वे शुद्ध स्वभाव में ठहरने के इच्छुक होते हैं, अतः उन्हें गौणरूप से साधु कहते हैं ।

जो शरीर की क्रिया से, पुण्य से धर्म मानते हैं और वस्त्रसहित मुनिपना मानते हैं, वे तो मुनि ही नहीं हैं । वीतरागी अन्तर मुनिदशा होते ही बाह्य में नग्न दिगम्बर दशा सहज होती है । वस्त्र का राग नहीं होता । अभक्ष्यादि भक्षण का भाव नहीं होता । परजीवों को मारने का भाव नहीं होता - ऐसी सहज दशा होने पर मुनि को स्वरूप लीनता होती है, उन्हें मुख्य श्रमण कहते हैं तथा जिन्हें महाव्रतादि परिणाम होते हैं, उन्हें गौण श्रमण कहते हैं - यही वस्तुस्थिति है ।

अब, शुभोपयोगी श्रमण का लक्षण सूत्र द्वारा (गाथा द्वारा) कहते हैं -

अरहंतादिसु भक्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु ।

विज्जदि जदि सामणणे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥ २४६ ॥

अर्थात् श्रामण्य में यदि अरहन्तादि के प्रति भक्ति तथा प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्य पाया जाता है तो वह शुभयुक्त चर्या (शुभोपयोगी चारित्र) है ।

मुनिराज आत्मस्वभाव में स्थिर नहीं हो सकते हों तो उन्हें शुभभाव होते हैं, उसकी मर्यादा क्या और कितनी है ? अब, यह बताते हैं -

मुनियों को समस्त संग से रहित रहने की भावना वर्तती है । आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी शरीर, कर्मादि से भिन्न है । पुण्य-पाप आत्मा का स्वरूप नहीं है - ऐसे भानसहित किसी भी पदार्थ, पुण्य-पाप अथवा मन में संग करने की भावना उन्हें नहीं होती, अपितु सर्वथा असंग रहने की ही भावना वर्तती है । तथापि सर्वथा असंग होने के लिए जितना पुरुषार्थ चाहिए उतना पुरुषार्थ नहीं होने से कुछ कषायांश के वशीभूत अर्थात् अस्थिरता के राग-द्वेष के कारण सर्वथा अपनी शुद्ध आत्मा में वे स्थिर रहने में समर्थ नहीं होते हैं ।

देखो ! यहाँ कर्म के वशीभूत होकर शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता - ऐसा नहीं कहा है । यहाँ मुनि को राग और कषाय होते हैं ; किन्तु संज्वलन कषाय का उनकी दृष्टि

में नकार वर्तता है। ऐसे राग को ही जब यहाँ आवेश कहा है तो मिथ्यात्वसहित राग तो अत्यन्त कठोर आवेश है।

किसी समय यदि मुनिराज को शुभभाव हों तो अरहन्त, सिद्ध आदि के प्रति भक्ति का राग होता है। कुदेवादि के प्रति भक्ति का राग नहीं होता। राग करना चाहिए अथवा इस प्रकार का राग करने योग्य है - ऐसी उनकी मान्यता नहीं है। उन्हें तो राग का सर्वथा निषेध ही वर्तता है। राग को छोड़कर वे स्वरूप में लीन रहना चाहते हैं; अतः मुनिराज को अल्प राग वर्तता है, इस प्रकार किनके प्रति राग वर्तता है, उस भूमिका का यहाँ ज्ञान कराया है।

हे भाई! जो जीव वीतरागी शास्त्रों में रत रहते हैं। शुद्धात्मा के अनुभव में ही रहने का प्रतिपादन करते हैं, उन जीवों के प्रति शुभोपयोगी मुनि को वात्सल्य भाव होता है।

जो वीतरागी शास्त्रानुसार प्रतिपादन करता है, वह शरीर की क्रिया अथवा पुण्य से धर्म नहीं मानता। धर्म तो आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान और रमणता से है - ऐसा कहनेवाले जीवों के प्रति ही उन्हें वात्सल्यभाव वर्तता है। इससे विपरीत जो पुण्य से धर्म माने, व्यवहार करते-करते धर्म मानें - ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों के प्रति अथवा द्रव्यलिङ्गी मुनियों के प्रति भावलिङ्गी मुनियों को वात्सल्यभाव नहीं होता है।

प्रवचनरत जीवों के प्रति भावलिङ्गी मुनियों को शुभभाव अर्थात् वात्सल्यभाव होता है। प्रथमतः तो वे शुद्धात्मा में ही ठहरते हैं; किन्तु यदि स्थिर नहीं हो सकें तो शुद्धात्मा के प्रतिपादन करनेवालों की ओर उनका लक्ष्य जाता है। यहाँ लक्ष्य में लोकोत्तर जीवों को लिया है। लौकिक में सामान्य शुभभाव करता हो - ऐसे जीवों के प्रति उन्हें वात्सल्यभाव नहीं आता। सर्वज्ञ की विराधना करनेवाला और शास्त्र से विपरीत प्ररूपना करनेवाले के प्रति भी शुभराग नहीं होता है। द्रव्यलिङ्गी का अन्तर अभिप्राय सर्वज्ञ से विरुद्ध है, अतः भावलिङ्गी मुनिराज को उनके प्रति वात्सल्यभाव नहीं है।

इससे निश्चित होता है कि जो जीव जैन सम्प्रदाय में जन्म लेकर पुण्य से धर्म मानते हैं, दया-दान से धर्म मानते हैं, वे जैन नहीं हैं।

इस प्रकार जो मुनिराज पूर्णतः स्वभाव में स्थिर नहीं हैं; किन्तु तीन कषाय के

अभावांश के कारण जिन्हें आंशिक वीतरागता है और जैसा शुभराग ऊपर कहा है, वैसा मर्यादारूप में वर्तता है। वह राग भी अरहन्तादि की भक्ति अथवा शुद्धात्मा का प्रतिपादन करनेवाले प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्यभावस्वरूप ही वर्तता है, इस प्रकार शुद्धता के साथ शुभराग वर्तता है, उनके शुभोपयोगी चारित्र है।

यहाँ ऐसा कहा है कि शुद्ध आत्मा के अनुरागसहित चारित्र शुभोपयोगी श्रमण का लक्षण है। जो निमित्त अथवा पुण्य से धर्म मानता है, निमित्त से कार्य मानता है, वस्त्रसहित मुनिपना मानता है, वह मिथ्यादृष्टि ही है, मुनि नहीं है।

आत्मा का मूल स्वभाव आनन्दस्वरूप है। शरीरादि जड़ पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं। दया, दानादि भाव विकार हैं और विकार रहित स्वरूप पवित्र है। उसकी दृष्टि करना धर्म है, इसके पश्चात् साधुपने की बात चलती है।

आत्मा के भानसहित शुद्धात्मा में रमणता सातवें गुणस्थान में होती है। वहाँ मुनिराज स्थिर रहने में समर्थ नहीं हों तो छठवें गुणस्थान में आते हैं और शुभराग हो जाता है। वे शुभराग को धर्म अथवा धर्म का सहायक नहीं मानते; किन्तु शुभराग हुए बिना रहता नहीं है। उस समय अरहन्तादि के प्रति भक्ति और आगम परायण जीवों के प्रति वात्सल्यभाव आता है परन्तु जो जीव ईश्वर को कर्ता मानते हैं, निमित्त से कार्य अथवा पुण्य से धर्म मानते हैं, वस्त्रसहित मुनिपना मानते हैं, वे जीव मिथ्यादृष्टि हैं। उनके प्रति उन्हें वात्सल्यभाव नहीं आता।

शुभोपयोगी मुनि को भक्ति तथा वात्सल्य का राग होने से चञ्चलता है; वह भाव पुण्य है, बन्ध का हेतु है, उससे शुभोपयोगी चारित्र होता है; यहाँ शुद्ध उपयोग नहीं है; किन्तु आंशिक शुद्धदशा के साथ शुभ उपयोग रहा है।

इस प्रकार शुद्धात्म परिणति और शुभोपयोगी चारित्र – ऐसे दो प्रकार के मुनियों की चर्चा की। वर्तमान में ऐसी मुनिदशा देखना दुर्लभ है और उक्त मुनिदशा के बिना केवलज्ञान नहीं होता। सर्वज्ञ भगवान द्वारा बताया हुआ यही मार्ग है। इसका सन्त आदर करते हैं, इन्द्र भी इसे मानते हैं। मुनिराज स्व के भानसहित आनन्द के झूले में प्रति समय

झूलते रहते हैं। बाह्य में नग्नदशा और अन्तर में प्रति समय अनुभव की धारा में विराजित रहते हैं। उसके पश्चात् सर्वज्ञ दशा को प्राप्त करते हैं।

केवली भगवान को आहार, मल-मूत्र क्षेपण, पसीना आदि नहीं होता। उन्हें तो परमौदारिक शरीर होता है। तीर्थङ्करों की इच्छा बिना ही वाणी खिरती है और एक समय में तीन काल और तीन लोकवर्ती समस्त पदार्थ जानने में आते हैं - ऐसी दशा को वे मुनिराज पुरुषार्थपूर्वक प्राप्त करते हैं।

अब, शुभोपयोगी श्रमणों की प्रवृत्ति बतलाते हैं -

वन्दणमंसणेहिं अब्भुट्टाणाणुगमणपडिवत्ती ।

समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रागचरियम्हि ॥ २४७ ॥

अर्थात् श्रमणों के प्रति वन्दन-नमस्कारसहित अभ्युत्थान और अनुगमनरूप विनीत प्रवृत्ति करना तथा उनका श्रम दूर करना वह रागचर्या में निन्दित नहीं है।

जो मुनि शुभोपयोग में हैं, उन्हें शुद्धात्मा के अनुरागसहित चारित्र होता है। उन्हें अपनी शुद्धात्मा में ही निरन्तर रमणता करना चाहिए; किन्तु वे जीव रमणता को प्राप्त नहीं करते। यहाँ शुद्धात्मा के प्रति वर्तनेवाला राग स्वयं के कारण है, पर के कारण नहीं। पर के कारण राग हुआ - ऐसा माने तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। धर्मात्मा मुनि को राग के काल में अपनी कमजोरी के कारण शुभराग होता है।

शुभोपयोगी मुनि शुद्धात्मपरिणति को प्राप्त मुनिराज को वन्दन करते हैं। जिन्हें वन्दन करते हैं, उन मुनिराजों ने शुद्धात्मपरिणति को प्राप्त कर लिया है। इससे यह निश्चित होता है कि पूर्व में अशुद्ध अवस्था थी; किन्तु सम्यक्ज्ञान और लीनता द्वारा जिन मुनिराजों ने अन्तरस्वभाव में शुद्धता प्रगट की है, उन मुनिराजों को शुभोपयोगी मुनिराज वन्दन-नमस्कारादि करते हैं, उनका गुणगान करते हैं।

नमस्कारादि के समय उन्हें जो शुभराग होता है, उसे वे (शुभोपयोगी मुनिराज) मात्र जानते हैं। शुभभाव हुआ, इसलिए नमन, खड़े होने, हाथ जोड़ने आदि की क्रिया नहीं होती। जड़ की क्रिया तो जड़ के कारण होती है। आत्मा उसका कर्ता-धर्ता-हर्ता नहीं है;

किन्तु उस समय जिस प्रकार का शुभभाव हुआ, उसे वे अवश्य जानते हैं। वे शुभोपयोगी मुनिराज अन्य मुनिराजों की सेवा करते हैं। यदि उन्हें विहारादि में थकावट हुई हो तो उसे दूर करने के लिए वैयावृत्ति करते हैं। यह वैयावृत्ति की प्रवृत्ति उन्हें शुद्धात्मा में स्थिर होने के लिए निमित्तभूत है। शरीर के हाथ-पैर दबाकर वे उनकी थकावट दूर करते हैं; किन्तु यहाँ हाथ की क्रिया आत्मा नहीं करता। राग होवे तो तदनुसार लक्ष्य जाता है; किन्तु हाथ की क्रिया हाथ के कारण होती है।

(१) वैयावृत्ति का राग आया, अतः हाथ की क्रिया हुई – ऐसा नहीं है।

(२) हाथ की क्रिया हुई, इसलिए मुनियों की थकावट दूर हुई – ऐसा भी नहीं है।

(३) मुनिराज की थकावट दूर हुई, इसलिए श्रमरहित शरीर की अवस्था उनकी शुद्धात्म परिणति में मदद करेगी – ऐसा भी नहीं है।

शुद्धात्मा परिणति करते हैं तो शरीर को निमित्त कहा जाता है। वीतरागी परिणति और शरीर की पर्याय में काल भेद नहीं है।

यहाँ चरणानुयोग अधिकार में शुभभाव की बात है। शुभभाव के समय जहाँ लक्ष्य होता है, उस समय जो-जो क्रिया होती है, उसके ऊपर निमित्त का आरोप करके कथन किया जाता है। वन्दन आदि की क्रिया तो आत्मा नहीं कर सकता; किन्तु उसके भानसहित जो शुभभाव होते हैं, उसकी यहाँ बात की है।

शुभभाव हो तो अलौकिक महात्मा का गुणगान होता है; किन्तु लौकिक में कोई बड़ा हो तो भी गुणगान या वन्दन को प्राप्त नहीं होता। वे बाह्य से त्यागी होते हैं; किन्तु आत्मस्वरूप से विपरीत मान्यतावाले हैं, अतः उनका गुणगान या वन्दना नहीं होती।

इस प्रकार शुभोपयोगी मुनि को शुभभाव यदि हो तो धर्मात्मा के प्रति होती है। यह निन्दित या निषेधरूप नहीं है। दृष्टि में तो निषेध ही है परन्तु चरणानुयोग में राग की भूमिकानुसार किस प्रकार का राग आता है, उसका यहाँ ज्ञान कराया है।

प्रश्न – मुनिराज के शरीर में थकावट हो तो उन्हें शुद्ध परिणति नहीं होती, यदि वे लूले-लंगड़े हों तो उन्हें धर्म कैसे होगा ?

उत्तर - भाई! शरीरादि बाह्य क्रिया के साथ धर्म का सम्बन्ध नहीं है। थकावट जड़ की अवस्था है और धर्म आत्मा की वीतरागी दशा है। आत्मा वीतरागी परिणाम करता है, तो शरीर की अवस्था निमित्त कहलाती है। जब स्वरूप में ठहर नहीं सकते, तब शरीर में थकावट हुई हो अथवा भूख लगी हो तो मुनि का उस ओर लक्ष्य जाता है तथा थकावट समाप्त हो जाए और अन्तरलीनता हो - ऐसा भी नहीं है; किन्तु स्वयं स्वरूप में लीनता करें और उस समय शरीर का श्रम दूर हुआ हो तो श्रमरहित शरीर की अवस्था वीतरागी परिणति के रक्षण में निमित्त होती है - ऐसा कथन चरणानुयोग में संयोग की अपेक्षा से किया गया है। वहाँ शरीर की श्रमरहित होने की अवस्था में मुनियों का शुभविकल्प निमित्त है - ऐसा कहा है।

भूख लगी हो, उससे धर्म नहीं होता। यदि खाने से धर्म होता हो तो खूब खाने पर केवलज्ञान प्रगट हो, किन्तु परवस्तु से कदापि धर्म नहीं होता है। जड़ की पर्याय से धर्म का सम्बन्ध नहीं है। मुनिराज स्वरूप रमणता से वंचित हुए हैं, अतः शुभ में आते हैं, लेकिन उन्हें शुभ से धर्म नहीं है। जहाँ शुभपने से ही धर्म नहीं है तो रोटी आदि खाने से कहाँ से धर्म होगा? अर्थात् नहीं होगा।

स्वभाव का भान नहीं किया तो धर्म भी नहीं होगा। अनन्त भव संसार में व्यतीत हुए हैं; किन्तु तेरा शुद्धस्वभाव जैसा का तैसा ही है। वह कभी नष्ट नहीं हुआ, उसमें त्रुटि नहीं हुई है। असंख्यप्रदेशी तत्त्व जैसे का तैसा शुद्ध है। उसकी श्रद्धा करे तो धर्म होगा। बाह्य संयोग तेरे धर्म को नहीं रोकते हैं। हाँ, तेरी विपरीत बुद्धि अवश्य तेरी आत्मा के धर्म को नष्ट करती है।

सम्यग्दृष्टि जीव को दृष्टि का भान होने पर शुभाशुभभाव हुए हैं; किन्तु पतंग की डोर हाथ में रखने के समान अपनी शुद्ध पर्याय को भी वे हाथ में ही रखते हैं। मुनियों को शुभरागरूप प्रवृत्ति होती है; किन्तु फिर भी वे स्वभाव की डोरी हाथ में ही रखते हैं। विशेष पुरुषार्थ करके राग से दूर होते हैं और स्वभावदशा का आधार लेकर वीतरागता की ओर बढ़ते रहते हैं।

अब, ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि शुभोपयोगियों के ही ऐसी प्रवृत्तियाँ होती हैं -

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसण तेसिं ।

चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ॥ २४८ ॥

अर्थात् दर्शनज्ञान का (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का) उपदेश, शिष्यों का ग्रहण, तथा उनका पोषण, और जिनेन्द्र की पूजा का उपदेश वास्तव में सरागियों की चर्या है।

अब, शुभोपयोगी मुनिराज की प्रवृत्ति का वर्णन करते हैं।

अनन्त काल से यह जीव संसार में भटक रहा है। संसार के दुःख को समझकर यदि संसारी जीव धर्म का स्वरूप समझने का इच्छुक हो, मेरा हित कैसे होगा? इसका बारम्बार विचार करता हो तो ऐसे जीव को संसार से वैराग्य लाकर धर्म का स्वरूप बताने के लिए मुनिराज को उपदेश देने का विकल्प आता है और वे ज्ञान-दर्शनस्वरूप का उपदेश देते हैं।

मुनिराज को उपदेश देने का विकल्प आवे और उनके श्रीमुख से संसार को भेदन करनेवाला उपदेश निकले तो मुनि ने अनुग्रह किया – ऐसा कहा जाता है, किन्तु जब तक पात्र जीव ना मिले तब तक वे भी उपदेशादि में प्रवृत्ति नहीं करते हैं।

गृहस्थ को उपदेश समझना है, अतः मुनिराज को राग हुआ, गृहस्थ के कारण उनके श्रीमुख से उपदेश निकला अथवा मुनिराज को राग हुआ, अतः उपदेश दिया गया – ऐसा नहीं है। यहाँ तो मुनिराज को शुभराग की उत्पत्ति होने पर किस प्रकार का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रहता है, उसका ज्ञान कराया है। वे तो सदैव ज्ञाता-दृष्टास्वरूप आत्मा का ही उपदेश देते हैं।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टास्वरूप है, शरीरादि पदार्थ जड़ हैं। शुभराग विकार है। किसी को समझाने का भाव उत्पन्न हुआ, वह भी शुभराग है। इस शुभराग के कारण धर्म नहीं होता। मुनिराज कहते हैं कि हे भाई! तुम हमारा और शुभराग का लक्ष्य छोड़कर स्वयं के ज्ञान-दर्शनमय आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान करो, तुम्हें अवश्य धर्म होगा। हमारे कारण धर्म होगा – ऐसा कदापि सम्भव नहीं है। इस प्रकार मुनिराज सदैव निज शुद्धस्वभाव के श्रद्धान-ज्ञान का ही उपदेश देते हैं।

यहाँ चरणानुयोग में वे सम्यग्दर्शन और ज्ञान का ही उपदेश देते हैं, अन्य कुछ नहीं कहते। व्रत-पूजा आदि का जो शुभराग उत्पन्न होता है, वह जीव का स्वरूप नहीं है, धर्म के लिए मददगार नहीं है - ऐसा जान। इस प्रकार मुनिराज रागोत्पत्ति के काल में उपदेश देते हैं।

शुभोपयोगी मुनिराज राग के होने पर योग्य शिष्य को दीक्षा देते हैं। उसके पोषण की प्रवृत्ति की ओर लक्ष्य देते हैं। अभी, शिष्य अपने स्वभाव में स्थित नहीं है। निजस्वभाव का पूर्ण पोषण करने में समर्थ नहीं है, अतः आचार्यदेव शिष्य की योग्यतानुसार वर्तनेवाले राग को जानते हैं।

अमुक आहार अथवा अमुक क्षेत्र शिष्य के अनुकूल अथवा पोषण में योग्य हो सकता है - ऐसा विकल्प आवे तो शिष्य की भूमिकानुसार उसकी स्थिरता के लिए वे अमुक स्थान पर जाओ - ऐसा भी कहते हैं।

इस प्रकार आचार्य को आहारादि के प्रति विकल्प आते हैं। यहाँ तो शिष्य की भूमिका बनी रहे, इसलिए उनका विकल्प निमित्तमात्र है, इसका ज्ञान कराया है। स्वयं के विकल्पानुसार संयोग मिल जाएँगे अथवा शिष्य को अनुकूल संयोग मिलने पर वह बना रहेगा - ऐसा वे नहीं मानते।

प्रत्येक वस्तु स्वयं स्वतन्त्र है, तथापि शिष्य के पोषण में मुनिराज के विकल्प किस प्रकार निमित्त होते हैं, इसका यहाँ ज्ञान कराया है।

श्रावकों के लिए जिनेन्द्र भगवान की पूजा-भक्ति का भी वे उपदेश देते हैं, आदेश नहीं देते। रागी देवी-देवता अथवा अन्य किसी प्रतिमा की पूजा आदि का वे उपदेश नहीं देते; किन्तु वीतरागी परमात्मा, जिनेन्द्र भगवान की पूजा का उपदेश अवश्य देते हैं।

मुनिराज को इस बात का भी पूर्णतः भान है कि उपदेश देने का यह विकल्प जहर है, स्व-स्वरूप नहीं है। वे जानते हैं कि उनके उपदेश से सामनेवाला जीव समझ जाएगा - ऐसा नहीं है। वह जीव स्वयं अपनी योग्यता से ही समझता है।

गृहस्थों को उपदेश देते समय वे कहते हैं कि तुम स्वभाव में स्थिर नहीं हो सकते,

अतः जिनेन्द्र भगवान की पूजा करो, यात्रा करो; किन्तु वे राग या पूजा में धर्म नहीं मानते। मुनिराज को शुद्ध स्वभाव का भान है परन्तु भूमिकानुसार राग भी वर्तता है, अतः शुद्धस्वभाव को पाकर भी जिनेन्द्र के बहुमान का उपदेश देते हैं। बाह्य क्रिया तो जड़ के कारण होती है, तथापि पूजा का यथायोग्य हेतु कहकर पूजा करने को कहते हैं।

मुनि को शुभराग हो तो तदनुसार प्रवृत्ति होती है; किन्तु दृष्टि में निषेध ही वर्तता है। यहाँ शुभराग के कारण प्रवृत्ति में किस प्रकार का वर्तन होता है, यह बताया है। जो मुनिराज निजस्वरूप में स्थिर हैं, उन्हें उपदेश अथवा शिष्य के ग्रहण आदि की प्रवृत्ति नहीं वर्तती है।

अब, ऐसा निश्चित करते हैं कि सभी प्रवृत्तियाँ शुभोपयोगियों के ही होती हैं -

उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स ।

कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से ॥ २४९ ॥

अर्थात् जो कोई (श्रमण) सदा (छह) काय की विराधना से रहित चार प्रकार के श्रमण संघ का उपकार करता है, वह भी राग की प्रधानतावाला है।

आत्मा ज्ञान-दर्शनस्वरूप है। वह परद्रव्यों की समस्त प्रवृत्तियों से रहित है। प्र = विशेष, वृत्ति = परिणति। प्रवृत्ति = विशेष परिणति।

पर-पदार्थों की प्रवृत्ति अर्थात् विशेष अवस्था का ज्ञानी व अज्ञानी कोई भी कर्ता नहीं है। अज्ञानी मानता है कि मैं कुटुम्ब का पालन-पोषण करता हूँ, देश की प्रवृत्ति करता हूँ, पर की दया पाल सकता हूँ; किन्तु उन-उन पदार्थों की प्रवृत्ति अर्थात् विशेष परिणति उनसे ही होती है। अज्ञानी का आत्मा उन पदार्थों में कुछ नहीं कर सकता; किन्तु मैं इन पर पदार्थों को कर सकता हूँ - ऐसी मिथ्याभ्रान्तिरूप प्रवृत्ति वह स्वयं करता है।

आत्मा की सत्ता परपदार्थों की सत्ता में नहीं हो सकती और पर-पदार्थों की सत्ता आत्मा में नहीं हो सकती। आत्मा चिदानन्द मूर्ति है। शरीर, कर्म आदि जड़-पदार्थ हैं। जड़ पदार्थों को आत्मा करे तो भिन्न-भिन्न पदार्थ एक हो जावें। शरीर और कर्मादि का होना तो द्रव्याधीन है। वकालत अथवा डॉक्टर बनने के भाव करने से पैसा प्राप्त नहीं

होता। स्वयं के ज्ञान-दर्शनस्वरूप को भूलकर यह जीव रुपया-पैसा कमाता है और अभिमान करता है, किन्तु इसके अभिमान से पैसे के आने-जाने का निश्चितपना नहीं है, फिर भी मिथ्यादृष्टि जीव इसी प्रकार की प्रवृत्ति करता है।

(१) चौथे गुणस्थानवर्ती धर्मी जीव की प्रवृत्ति : धर्मी जीव जानता है कि मैं ज्ञान-दर्शनमय हूँ। पर-पदार्थों के परिणाम बदलने की ताकत मुझमें नहीं है। मेरी स्वयं की कमजोरी के कारण मुझमें शुभाशुभभाव हुए हैं, वे होने पर भी मैं उस रूप नहीं हूँ। मैं तो ज्ञाता हूँ, पर की प्रवृत्ति में नहीं कर सकता, अतः पर से मुझे सुख होता है - ऐसी प्रवृत्ति टल जाती है।

उसे अनन्त पदार्थों के कर्तृत्व का अभिमान टल गया है और त्रिकाली स्वभाव का भान हुआ है - ऐसे समय में शुभाशुभभावों का स्वामित्व भी नहीं है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव को भ्रान्ति का अभाव है, किन्तु शुभाशुभ भावों में प्रवृत्ति होती है।

पाँचवें गुणस्थान में भी भ्रान्ति टल गई है और उसके पश्चात् अशुभभावों की प्रवृत्ति घटकर शुभाशुभभावरूप व्रतादि परिणामों में प्रवृत्ति हुई है।

(२) शुद्धोपयोगी मुनि की प्रवृत्ति : आत्मा शुद्ध चैतन्यज्योति है - ऐसे भानपूर्वक उन्हें आत्मा का ध्यान है। शुद्धात्मा की प्रवृत्ति / रमणता बढ़ जाने से शुभाशुभभावों में प्रवृत्ति नहीं है। श्रावक को उपदेश देना अथवा शिष्य को दीक्षा देना - ऐसी प्रवृत्ति उन्हें नहीं होती। तीर्थङ्कर भगवान वन्द्य है और मैं वन्दक - ऐसी प्रवृत्ति नहीं होती। वन्द्य-वन्दक भाव का मुनि को अभाव है। उन्हें मात्र शुद्धात्मा की प्रवृत्ति होती है और शुभाशुभभावों से निवृत्ति होती है।

(३) शुभोपयोगी मुनि की प्रवृत्ति : आत्मा शुद्धस्वभावी है - ऐसा भान होने से आंशिक वीतरागता है, फिर भी सर्वथारूप से स्वभाव में स्थिरता नहीं है, अतः पाँच महाव्रतादि के शुभ परिणाम होते हैं।

शरीर को वस्त्रादि से ढकनेरूप राग उन्हें नहीं वर्तता। नग्न दिगम्बरदशा होती है, फिर भी छह काय की रक्षा और महाव्रतादि के परिणाम का शुभराग होता है। शुभराग की प्रवृत्ति और उसका स्वरूप ही इस गाथा में कहा है।

जो जीव आत्मा के श्रद्धा-ज्ञानस्वरूप में लीनतारूप मुनिपना अङ्गीकार करते हैं, वे मुनिराज संयम की प्रतिज्ञा करते हैं। श्रमण संघ को शुद्धात्म परिणति के रक्षण में निमित्तभूत ऐसी यदि उन्हें उपकार प्रवृत्ति होती है, तो वह शुभोपयोगी श्रमण हैं। यह प्रवृत्ति छह काय की विराधना बिना होती है, क्योंकि उन्होंने संयम की प्रतिज्ञा ली है।

मुनिराज का चैतन्यसूर्य शुभाशुभभावों में अटकता है, अतः उनके पूर्ण विकास दिखाई नहीं देता। चैतन्यस्वभाव में सर्वथा स्थित होवें तो केवलज्ञान प्रगट हो, किन्तु शुभोपयोगी मुनि अभी भी अस्थिरता अर्थात् शुभराग में वर्तते हैं। इस शुभराग की मर्यादा भी है। पृथ्वी कायिकादि पाँच स्थावर और एक त्रस ऐसे छह काय के जीवों की वे विराधना नहीं करते। सम्यग्दृष्टि को कमजोरी वश अभी भी अशुभभावों में प्रवृत्ति होती है। लड़ाई का परिणाम होता है, किन्तु उसे वहाँ भी आत्मा का भान है।

मेरा कोई दुश्मन नहीं है - ऐसा विचार करने पर भी द्वेष का परिणाम होता है। चक्रवर्ती का राज्य-वैभव होता है, जहाँ बड़े प्रमाण में विषयों का भोग होता है - ऐसी अशुभभाव की प्रवृत्ति सम्यग्दृष्टि को आत्मा का भान होने पर भी होती है, किन्तु मुनिराज की सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा अन्तरलीनता और वीतरागता बढ़ी है, अतः अशुभराग घट गया है। किसी जीव की हिंसा हो - ऐसी अशुभभावना मुनि को नहीं होती और वे ऐसा आदेश भी नहीं करते। एकेन्द्रिय जीव को भी मारने का भाव मुनिराज को नहीं होता। एक जीव अन्य को न मार सकता है और न जिला सकता है - ऐसा श्रद्धान ज्ञान उन्हें वर्तता है। साथ ही स्वयं के कारण अन्य किसी जीव को दुःख नहीं हो - इसका भी वे पूर्णतः ख्याल रखते हैं।

हमारे लिए यह आहार बनाओ - ऐसी वृत्ति मुनिराज को नहीं होती। सम्यग्दृष्टि को अनेकों बार अशुभभाव भी होते हैं, किन्तु मुनिपना होने पर अन्तरलीनता अत्यन्त बढ़ गई है। बाह्य परिग्रह अर्थात् वस्त्रादि का राग छूट गया है, अतः नग्न दिगम्बरदशा वर्तती है।

ऐसे साधुपद के बाद केवलज्ञानदशा प्राप्त होती है, उसके बिना केवलज्ञान नहीं होता। अन्तर भानसहित लीनता बढ़ने से राग घट गया है। रोग हो तो मुनिराज औषधी

वगैरह ग्रहण करने का भाव नहीं करते। सम्यग्दृष्टि को औषधी सेवन का भाव होता है; किन्तु मुनिराज अशुभराग की प्रवृत्ति से अत्यन्त दूर हैं और शुभराग में भी मर्यादा वर्तती है। प्रतिज्ञा तो निजस्वभाव में रमणता की है, अतः परिग्रहादि के अशुभभाव टल गए हैं। पाप परिणामों का त्याग है और जो शुभभाव आते हैं – वे भी धर्मात्मा के प्रति आते हैं। ऐसे साधुपद से आगे बढ़कर जीव केवलज्ञान पाता है।

यहाँ कोई कहे कि अभी केवलज्ञान नहीं है, फिर मुनिपने का क्या काम ? तो उससे कहते हैं कि भाई! केवलज्ञान का साधन मुनिपना है। उसकी सम्यक् श्रद्धा तो कर। सम्यक् श्रद्धा के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होगा और सम्यग्दर्शन के बिना मुनिपना अथवा मुक्ति नहीं होगी, अतः जैसा वस्तुस्वरूप है, वैसा श्रद्धान-ज्ञान करना चाहिए।

उन शुभोपयोगी मुनि को शुद्धात्म परिणति के रक्षण में निमित्तभूत चार प्रकार के संघ का उपकार करने की प्रवृत्ति होती है। श्रमण चार प्रकार के हैं –

- (१) ऋद्धिवाले श्रमण ऋषि हैं।
- (२) अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान अथवा केवलज्ञानवाले श्रमण मुनि हैं।
- (३) उपशमक अथवा क्षपक श्रेणी में आरूढ़ श्रमण यति हैं।
- (४) सामान्य साधु अनगार हैं।

इस प्रकार चार प्रकार का श्रमण संघ है। साधु, आर्यिका, श्रावक, श्राविकाओं को भी गौणरूप से संघ कहते हैं। एक जीव अन्य के प्रति उपकार नहीं करता; किन्तु यहाँ चरणानुयोग में निमित्त से कथन किया है। शुभोपयोगी मुनि को उस प्रकार का विकल्प उठता है और विकल्प के काल में उनका लक्ष्य किसके ऊपर होता है, यह बताते हैं।

(१) ऋषि : आत्मा के भानपूर्वक जिन मुनिराज को ऋद्धि प्रगट हुई है, वे ऋषि कहलाते हैं। आत्मा और शरीर की क्रिया को जो भिन्न जानते हैं। ऋद्धि प्रगट होने पर भी उसके परखने का भाव नहीं होता – ऐसे मुनियों की शुभोपयोगी मुनि वैयावृत्ति करते हैं, इस प्रकार ऋषि का उपकार करते हैं।

- (२) अवधिज्ञानी मुनि स्वर्ग, नरक आदि स्थानों में विशेष सीमा पर्यन्त जान

सकते हैं और मनःपर्यय ज्ञानी अन्य के मन में स्थित विचारों का जान लेते हैं, उनकी वैयावृत्ति शुभोपयोगी करते हैं। कोई बीमार हो तो उनकी सेवा का भाव करते हैं, इस प्रकार मुनि का उपकार करते हैं।

तीर्थङ्कर भगवान के प्रति उपकार की प्रवृत्ति - सर्वज्ञ भगवान विराजमान हों, वहाँ बारह सभाएँ होती हैं। दिव्यध्वनि खिरती है। होंठ बन्दर हते हैं। इच्छा के बिना ही आत्मा के सर्वाङ्ग प्रदेशों से अनक्षरी वाणी खिरती है। भगवान जमीन से ऊपर अन्तरिक्ष में विराजते हैं। इस समय शुभोपयोगी मुनि को राग आवे तब वे उनकी वाणी सुनने जाते हैं। वाणी सुनकर जैसे भगवान कहते हैं, वैसे ही अपने स्वरूप में एकाग्र हो जाते हैं, यही तीर्थङ्कर की सेवा और उपकार किया - ऐसा कहने में आता है।

(३) **यति** : उपशमक अथवा क्षपक श्रेणी में आरूढ़ मुनिराज को देखकर शुभोपयोगी मुनि विचार करता है कि अहो ! धन्य आपकी दशा। आत्मस्वभाव में स्थिर होकर जो पुनः नीचे आते हैं, वह उपशम श्रेणी कहलाती है और आत्मस्वभाव में स्थिर होकर जो नीचे न आकर केवलज्ञान दशा को प्राप्त करते हैं, वह क्षपकश्रेणी कहलाती है।

जिस प्रकार नारियल का सफेद गोला बाहर की छाल, काचली और लालिमा से रहित है, उसी प्रकार शरीर बाह्य छाल समान है, कर्म काचली समान है और पुण्य-पाप विकारी भाव लालिमा के समान हैं, इन सबसे रहित आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द सफेद गोले के समान है - ऐसे चैतन्य गोले में लीन होने पर परिपूर्णदशा प्रगट होते ही मात्र चैतन्यगोला (चैतन्यसूर्य) दिखाई देता है - ऐसी दशा को प्राप्त करने के लिए जो यत्न करते हैं, वे यति हैं।

इन यतियों को देखकर शुभोपयोगी मुनि विचार करते हैं - अहा ! धन्य अवतार ! मैं भी श्रेणी माँडकर केवलज्ञान प्राप्त करूँगा यही भावना यति के प्रति उपकार है।

(४) **अनगार** : सामान्य साधु। आगार अर्थात् मकान इत्यादि। यह जिसके नहीं होते हैं, वे अनगार हैं। परिग्रहरहित ऐसे साधु के प्रति वैयावृत्ति का भाव वह उनके प्रति उपकार है।

इस प्रकार की प्रवृत्ति में राग की मुख्यता है। यह प्रवृत्ति शुभोपयोगी मुनि को होती

है। 'राग प्रधानता' ऐसा शब्द यहाँ लिया है। दृष्टि में राग प्रधानता नहीं है, दृष्टि में तो ज्ञान प्रधानता ही है। अखण्ड ज्ञानस्वभाव ही है; किन्तु स्वरूप में स्थिर न होकर जब शुभराग में वर्तन होता है, तो वह राग प्रधानता है।

ऐसा स्वरूप सातवें गुणस्थानवर्ती शुद्धोपयोगी मुनि का नहीं होता। उन्हें मुनि की सेवा अथवा भगवान की भक्ति का भी भाव नहीं वर्तता है।

सर्वज्ञ की सभा में कोई मुनिराज जावें वहाँ शुद्धभाव हों और पुरुषार्थ को जागृत कर स्वरूप में लीनता करे, तब उसका उपयोग भगवान की वाणी समझने की ओर नहीं है, अतः उसने भगवान का अनादर किया – ऐसा नहीं है अथवा स्वरूप लीनता के समय कोई मुनि अस्वस्थ हो तो उनकी वैयावृत्ति का भाव भी शुद्धोपयोगी मुनि को नहीं होता, अतः वे मुनि का अनादर करते हैं – ऐसा भी नहीं है।

यहाँ तो मुनिराज को शुभभाव आवें तो किस प्रकार की प्रवृत्ति होती है, उसकी मर्यादा बतलाई है।

अब, प्रवृत्ति के संयम की विरोधी होने का निषेध करते हैं (अर्थात् शुभोपयोगी श्रमण के संयम के साथ विरोधवाली प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए – ऐसा कहते हैं) –

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो ।

ण हवदि हवदि अगारो धम्मो सो सावयाणं से ॥ २५० ॥

अर्थात् यदि (श्रमण) वैयावृत्ति के लिए उद्यमी वर्तता हुआ छह काय को पीड़ित करता है तो वह श्रमण नहीं है, गृहस्थ है; (क्योंकि) वह (छह काय की विराधनासहित वैयावृत्ति श्रावकों का) धर्म है।

(१) आत्मा आनन्दस्वरूप है, यह भूलकर पर में सुख है, पुण्य से धर्म होता है – ऐसी जिसकी मान्यता है, उस जीव की प्रवृत्ति पर्यायमूढ़ है। वह मिथ्याभ्रान्तिरूप प्रवृत्ति उसके स्वयं के अज्ञान के कारण है। अपनी इस भ्रान्तिरूप प्रवृत्ति के कारण वह पर्याय और पर-पदार्थों में ही फेरफार की बुद्धि करता है, किन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं है।

(२) चतुर्थ गुणस्थानवर्ती धर्मी जीव को आत्मा का भान है। शरीरादि क्रिया मेरी

नहीं है, विकार मेरा नहीं है, विकार मेरा त्रिकाली स्वरूप नहीं है – ऐसा भान होने से उसके उक्त भ्रान्तिरूप प्रवृत्ति मिट गई है; किन्तु शुभाशुभभावों की प्रवृत्ति है।

(३) पाँचवें गुणस्थान में भ्रान्ति की प्रवृत्ति नहीं है। आसक्ति भी कम अंश में है। पाप का भाव कम है और व्रतादि की प्रवृत्ति अधिक है।

(४) छठवें गुणस्थान में भ्रान्ति की प्रवृत्ति नहीं है तथा अशुभभावों में भी अधिक प्रवृत्ति नहीं है, शुभरूप प्रवृत्ति होती है और वह भी मर्यादा में ही होती है।

(५) सातवें गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक राग का अभाव है। शुद्धात्मा में लीनतारूप प्रवृत्ति है। चतुर्थ से बारहवें गुणस्थान तक अपूर्ण भूमिका है। आत्मा का भान हो और शीघ्र ही निर्मलदशा की प्राप्ति हो जावे – ऐसा नहीं है। मलिनता और निर्मलता का स्वरूप भी जानना चाहिए। पर-पदार्थों में प्रवृत्ति तो अज्ञानी या ज्ञानी कोई भी नहीं कर सकता है।

यहाँ छठवें गुणस्थान में झूलनेवाले मुनिराज को शुभराग की उपस्थिति में कितनी निर्मलता है और कितनी मलिनता है उसकी मर्यादा बताई है; किन्तु संयम को विरोध उत्पन्न करनेवाली प्रवृत्ति उनके नहीं होती।

सम्यग्दर्शन की बात करने के पश्चात् अब, मुनिराज को वर्तनेवाले राग की बात करते हैं। किसी मुनिराज को कदाचित् कोई रोग हो, थकावट हुई हो तो अन्य मुनिराज का उनकी वैयावृत्ति की ओर लक्ष्य जाता है; वहाँ वे उनकी वैयावृत्ति भी करते हैं, किन्तु यदि उस वैयावृत्ति में परजीव की हिंसा होती हो तो उनका मुनिपना नहीं रहता।

पृथ्वी, अग्नि, पानी, वायु में असंख्य जीव हैं और अभक्ष्य (आलू, लहसुन) आदि पदार्थों में भी अनन्त जीव हैं; अतः उनकी हिंसा का दोष लगे – ऐसा प्रवर्तन मुनिराज नहीं करते।

भगवान की पूजा आदि के लिए जलादि लानेरूप जो श्रावकों के कर्तव्य हैं, वे मुनिराज नहीं करते हैं। प्रत्येक जीव की अवस्था क्रमबद्ध है। छहकाय के जीवों का जन्मना और मरना भी क्रमबद्ध है, उन्हें हम प्रयत्नपूर्वक बचा नहीं सकते और हिंसा के भाव से उन्हें मार भी नहीं सकते।

यहाँ तो आत्मज्ञान होने पर राग की मर्यादा कितनी और कैसी होती है ? उसका स्वरूप बताया है। सम्यग्दृष्टि श्रावक को आत्मभान होने पर भी वह स्वयं के लिए औषधि आदि लाता है, यह राग की प्रवृत्ति है; किन्तु मुनिराज को श्रावक के समान राग नहीं होता है। यदि मुनिराज को उस प्रकार का राग आवें और वे तदनुसार कार्य करें तो उनके श्रावकपना हो जाएगा। वह जीव भी भ्रान्ति के कारण मिथ्यादृष्टि कहलाएगा।

विष्णुकुमार मुनि का नाम वात्सल्य अङ्ग में प्रसिद्ध हुआ – ऐसा शास्त्रों में आता है। सात सौ मुनियों को बचाकर वे उनके रक्षण में निमित्त हुए; किन्तु स्वयं का मुनिपना छोड़कर वे निचली दशा को प्राप्त हुए थे। यद्यपि निजस्वरूप का भान छूटा नहीं था, किन्तु बाह्य में जो क्रिया हुई वह मुनिपने के योग्य नहीं थी।

जो मुनिराज ‘अन्य मुनि के शुद्ध आत्मा की लीनता का रक्षण होगा’ – ऐसे अभिप्राय से उनकी वैयावृत्ति करते हैं, वे स्वयं के संयम की विराधना के कारण गृहस्थदशा में आ जाते हैं और इस पाँचवें गुणस्थान में आने पर भी वे स्वयं को मुनिपना मानें तो मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं।

यहाँ कहते हैं कि मुनियों को जो शुभराग की प्रवृत्ति होती है, वह सर्वथा संयम में विरोध न आवे, इस प्रकार की होना चाहिए। वात्सल्य, प्रभावना, उपदेश आदि के भाव उत्पन्न होते हैं; किन्तु उनमें मर्यादा होना चाहिए। उन भावों में इतनी तीव्रता नहीं होना चाहिए कि जिससे स्वयं के संयम पालन में विरोध उत्पन्न हो, क्योंकि प्रवृत्ति में संयम ही साध्य है।

द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा एक परम पारिणामिक भाव ही साध्य है। निमित्त और कर्म के बिना, पुण्य-पाप के अंशरहित शुद्ध त्रिकाली द्रव्य ही ध्येय है। पुण्यभाव अथवा प्रगट आंशिक ज्ञान से धर्म नहीं होता। एक चैतन्य के आधार से ही धर्म होता है।

पञ्च महाव्रतादि के पालन से धर्म नहीं होता। धर्म तो त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से होता है, जहाँ एक शुद्धस्वभाव ही ध्येय होता है। शुद्धस्वभाव ही साधने योग्य है, यह भान उन्हें निरन्तर बना रहता है। मुनिराज को मर्यादा में शुभराग आता है, और संयम में बाधा न आवे ऐसा शुभराग उनको वर्तता है, अतः संयम को साध्य कहा है।

चरणानुयोग में पर्याय को ही साध्य कहा है। चरणानुयोग में आत्मा भिन्न और द्रव्यानुयोग में आत्मा भिन्न - ऐसा नहीं है, मात्र कथनपद्धति में अन्तर है। चरणानुयोग शुभभाव और निमित्तप्रधान कथन करता है; किन्तु शुभभाव से धर्म होता है - ऐसा उसका कथन नहीं है।

चरणानुयोग शुभराग की मर्यादा बताता है। मुनिराज को उस शुभराग के समय भी शुद्धता का भान है। इस अपेक्षा से उन्हें शुभराग का नकार ही वर्तता है। जितनी स्थिरता है, उतना निश्चयधर्म है और जो धर्मानुकूल राग है, तदनुसार प्रवृत्ति को उपचार से व्यवहार धर्म कहते हैं।

जो मुनिराज छह काय के जीवों को दुःख देकर वैयावृत्य आदि की प्रवृत्ति करते हैं, वह मुनि नहीं हैं, मिथ्यादृष्टि हैं। छह काय के जीवों को मैं बचा सकता हूँ अथवा मार सकता हूँ - ऐसा माननेवाला तो मिथ्यादृष्टि ही है। यहाँ भावों की प्रधानता से बात की है।

यहाँ बताते हैं कि मुनियों को वैयावृत्य आदि की प्रवृत्ति इस प्रकार होना चाहिए कि जिससे संयम में विराधना नहीं हो। साथ ही वैयावृत्ति का तीव्र राग भी नहीं होना चाहिए, यह विशेष समझना।

जो मुनिराज स्वयं के शरीर के प्रति किसी प्रकार की पाप प्रवृत्ति नहीं करते अथवा शिष्यादि से मोह भी नहीं करते उनके लिए वैयावृत्य, भक्ति आदि भावों में आरम्भादि का पापभाव न करना ही शोभास्पद है।

अन्य लोग पाप प्रवृत्ति करते हैं - ऐसा मानकर जो गृहस्थ संसार में आरम्भ-समारम्भ करता है तथा स्वयं के अवस्था योग्य वैयावृत्य, भक्ति आदि धर्म कार्यों में आरम्भ करने में पाप मानकर धर्म काय नहीं करता है, वह गृहस्थ ही नहीं है।

स्वयं के लड़के की शादी-विवाह हो तो खूब वैभव का प्रदर्शन करता है और भगवान की पूजा, भक्ति प्रसङ्ग की बात आवे तो आरम्भादि प्रवृत्ति से मना करता है। पूजा करने अथवा मन्दिर बनाने में जीवों की हिंसा होती है, अतः हमें छह काय के जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिए - ऐसा कहता है।

उससे ज्ञानी पूछते हैं कि पुत्र की शादी के समय पानी आदि का अपव्यय हुआ

कि नहीं ? रसोई में जीवों की हिंसा हुई कि नहीं ? उस समय हिंसा का बहाना नहीं था और धर्म की बात आते ही हिंसा का बहाना बनाता है, इसका मतलब है, उस जीव को धर्म से प्रेम ही नहीं है ।

शादी-पार्टी में पाँच-पच्चीस हजार रुपये खर्च करता है और धर्म में स्वयं की ओर से पाँच सौ रुपये देता है तो बहुत दे दिया – ऐसा मानता है । स्वयं के लिए आलीशान मकान बनाता है और धर्मात्मा के लिए मकान बनाने की चर्चा होवे तो सामान्य सो मकान बनाने की कहता है । यह निरुत्साह / अरुचि का द्योतक है ।

संसार के प्रत्येक कार्य के लिए समय निकालता है, किन्तु धर्म कार्य के लिए कहे तो इसके पास समय नहीं है – ऐसे जीव को धर्म की रुचि नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है । वह संसार की रुचिवाला दीर्घ संसारी जीव है । धर्मी जीव को धर्म प्रभावना के समय कषाय घटकर शुभराग आए बिना नहीं रहता है ।

जिन गृहस्थों को आत्मा का भान है, जिनकी अरागी दृष्टि है, उन्हें राग के होने पर राग की कितनी प्रवृत्ति होती है, वह बताते हैं । राग से पर में कार्य होता है और राग न हो तो पर में कार्य नहीं होता यह मान्यता झूठी है ।

भाई ! रागी जीव वीतराग नहीं हुआ है । स्वभाव में ठहर नहीं सकता, अतः धर्मरूप राग कई दिशाओं में घूमता है, जिसे हमें जानना चाहिए । राग से धर्म होता है अथवा राग से पर में कुछ होता है – ऐसी बात नहीं है; किन्तु प्रशस्त राग किस प्रकार का होता है और उस समय किस प्रकार की भूमिका होनी चाहिए; यह बात बताते हैं । यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान बिना सामायिक भी नहीं हो सकती । देह को बैठाता हूँ, वाणी को मौन रखता हूँ – यह तो मिथ्याभाव है । जड़ की अवस्था जड़ के कारण होती है । आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न हैं – ऐसा भान होने के पश्चात् राग हो तो किस प्रकार का होगा ? वह भी जानना चाहिए ।

यहाँ कोई कहे कि मुनि वैयावृत्ति आदि के कार्य के लिए तीव्र राग करते हैं, किन्तु यदि वे छह काय की विराधना करें तो उनमें मुनिपना नहीं रहता, अपितु वे गृहस्थ हो जाते हैं और दृष्टि में विपरीतता आवे तो मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं ।

श्रावक हो तो अपने शरीर, कुटुम्ब आदि के लिए प्रवृत्ति करते हैं और रुपया खर्च

करते हैं परन्तु धर्म के प्रसङ्ग में प्रभावना हो वैसा कार्य नहीं करते। छह काय के जीवों की हिंसा होगी – ऐसा बहाना बनाते हैं। स्वयं कषाय का पोषण करते हैं, उन्हें सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता वे संसार की रुचिवाले जीव हैं।

**जहाँ जहाँ जो जो योग्य है, वहाँ समझे वेह।
वहाँ वहाँ वह वह आचरें, आत्मार्थी जन तेह॥**

अतः जहाँ जो हो, जिस प्रकार से हो उसे जानकर राग को घटाकर आचरण करना चाहिए।

सम्यग्दर्शन होने के बाद साधु हुए जीव को राग बाकी है, उसका लक्ष्य कहाँ है ? यहाँ उसका वर्णन है। सम्यग्दर्शन / सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हो तो साधुपना होता है, उसके बिना साधुपना नहीं होता।

श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक जिस साधु को राग वर्तता है, वह दूसरे के लिए होता है – ऐसा नहीं है; किन्तु जिन मुनियों को अपनी मर्यादा के उपरान्त राग आता है, उन्हें छह काय के जीवों को कष्ट देने का भाव आवे तो वे मुनिपने से भ्रष्ट हो जाते हैं। गृहस्थ को अपने स्वभाव की महिमा भूलकर स्वभाव के साधक जीवों के प्रति शुभराग नहीं आवे और लौकिकजनों के प्रति तीव्रराग आवे तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता।

अब, आगामी गाथा में शुभोपयोगी के शुभराग की प्रवृत्ति दो प्रकार से होती है, वह दर्शाते हैं। आत्मा का भान है, मैं शुद्ध हूँ, जगत के समस्त पदार्थों का ज्ञाता हूँ और वे मेरे ज्ञेय हैं। मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ और वे मेरे दृश्य हैं। उनसे मुझे लाभ-नुकसान नहीं है – ऐसा भान होने पर भी जो राग है, उसके दो विभाग है, उन्हें यहाँ बताते हैं। जो शुद्धात्मा आत्मपरिणित में लीन है, वह स्वयं के लिए उपकार करने योग्य है, यह बात मूल गाथा में है और जो पुण्य या निमित्त से लाभ मानते हैं उनके प्रति उपकार नहीं करना चाहिए, इस बात को नास्ति से टीका में बताया है।

अब, प्रवृत्ति के विषय के दो विभाग बतलाते हैं (अर्थात् अब यह बतलाते हैं कि शुभोपयोगियों को किसके प्रति उपकार की प्रवृत्ति करना योग्य है और किसके प्रति नहीं) :-

जोणहाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं ।

अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ॥ २५१ ॥

अर्थात् यद्यपि अल्प लेप होता है तथापि साकार-अनाकार चर्यायुक्त जैनों का अनुकम्पा से निरपेक्षतया (शुभोपयोग से) उपकार करो ।

धर्मी जीव शुभविकल्पों में धर्म नहीं मानता, फिर भी यहाँ शुभराग की मर्यादा का वर्णन किया है । चैतन्यतत्त्व का श्रद्धान-ज्ञान होने पर धर्मी की दृष्टि में सूक्ष्मता आती है । इस सूक्ष्मतापूर्वक उसके अन्तर स्थिरता भी बढ़ी है ।

शुभराग के कारण पुण्यबन्ध होता है, किन्तु वह आत्मा की शान्ति को रोकता है तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय आदि पाप-प्रकृतियों का भी बन्ध कराता है । इस प्रकार शुभभाव से पाप व पुण्य दोनों का बन्ध होता है ।

साकार = ज्ञान, निराकार = दर्शन । जिसने ज्ञान-दर्शन में स्थिरता की है, वह जैन है । ज्ञान-दर्शन में रमणता करे वह जैन है । पुण्य-पाप की रमणता छोड़कर आत्मा की ज्ञाता-दृष्टारूप प्रतीति करें तो सम्यग्दर्शन होता है और उसमें रमणता से सम्यक्चारित्र होता है ।

आत्मा तो जानने-देखनेवाला है । यद्यपि वह पर को जानता नहीं है; तथापि स्वयं को जानते हुए पर को भी जानता है । मैं पुण्य-पाप अथवा अपूर्ण पर्यायरूप नहीं हूँ । मैं तो त्रिकाली ज्ञायक हूँ - ऐसी प्रतीति ही सम्यग्दर्शन है । इसमें रमणता करनेवाला ही सच्चा जैन मुनि है । उपचार से सम्यग्दृष्टि गृहस्थों को भी जैन कहते हैं । शुभोपयोगी को शुभराग का अल्प बन्धन है, तथापि ज्ञान-दर्शन में स्थिर जीव अनुकम्पा आदि अन्य किसी प्रकार की अपेक्षा रखे बिना धर्मात्माओं का उपकार करते हैं । यथार्थ में तो कोई किसी का उपकार नहीं कर सकता, किन्तु रागवश शुभोपयोगी जीव का धर्मात्मा की ओर लक्ष्य जाता है । धर्मात्मा की शुद्ध अवस्था के काल में शुभोपयोगी का शुभभाव निमित्त होता है, अतः उपकार किया - ऐसा कहा जाता है । यहाँ अन्य कोई अपेक्षा नहीं है ।

शुभोपयोगी का लक्ष्य वहाँ धर्मात्मा जीव के हित के लिए जाता है । वह शुभराग

भी ज्ञान-दर्शन में ही निमित्त होता है। धर्मात्मा जीवों के अतिरिक्त अन्य जीवों के प्रति उन्हें राग नहीं होता है।

शुभोपयोगी जीव को आत्मा का भान है। वह जानता है कि - एक जीव अन्य जीव का उपकार नहीं कर सकता, मेरे शुभराग से धर्मात्मा की शुद्धता का रक्षण नहीं होता; किन्तु जब तक स्वयं की स्वभाव में स्थिरता नहीं होती तब तक धर्मात्मा की स्वभाव में स्थिरता के लिए जो राग उत्पन्न होता है, वह निमित्त होने से अनुकम्पापूर्वक परोपकार स्वरूप प्रवृत्ति कहलाती है।

यद्यपि शुभरागरूप प्रवृत्ति बन्ध का कारण है, तथापि जिसे स्वयं के शुद्धस्वभाव का प्रेम है, उसे शुद्ध आत्मा के साधक जीवों के प्रति भी शुभराग होता है। उसका यहाँ निषेध नहीं है।

यहाँ चरणानुयोग का कथन है, अतः शुभराग होने पर वह कितनी मर्यादा का होता है, उसका ज्ञान कराया है।

जैनी अनेकान्तरूपी सुदर्शनचक्र से छह द्रव्यों को साधता है और एकान्तमान्यता का नाश करता है।

अब, शुभराग की प्रवृत्ति किसके प्रति होती है? अनेकान्त के साथ मैत्री होने से जिसका चित्त पवित्र हो गया है - ऐसे शुद्ध जैनी कैसे हैं? वह बताते हैं।

एक वस्तु में वस्तुपने को प्रदर्शित करनेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाश ही अनेकान्त है। अनेकान्त के साथ मैत्री करने से जिसका मन पवित्र हो गया है, वही जैनी है।

जिस प्रकार चक्रवर्ती राजा सुदर्शन चक्र के आधार से छह खण्ड को जीतता है, वहाँ कोई मध्य में आवे तो सुदर्शन-चक्र उसका मस्तक काट देता है, उसी प्रकार धर्मी जीव अनेकान्तरूपी सुदर्शन चक्र से छह द्रव्यों के यथार्थ वस्तुस्वरूप को साधता है। गुण-पर्यायपूर्वक उसका स्वरूप जानता है। जो विरुद्ध कथन करें उसको पराजित करता है, इस प्रकार एकान्त मान्यता का नाश होता है।

एक वस्तु में वस्तुपने को सिद्ध करनेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाश ही अनेकान्त है। विरोधी धर्म वस्तु का नाश नहीं करता; अपितु वस्तु की सिद्धि करता है।

(१) मैं आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ, पर जीव और जड़-पदार्थरूप नहीं हूँ।

(२) परपदार्थ एवं परजीव पर हैं, वे मेरे आत्मा में नहीं हैं।

(३) परवस्तु मेरे साथ संयोगरूप है, वह मुझे लाभदायक या नुकसानदायक नहीं है।

(४) राग-द्वेष आदि अवस्था मेरे स्वयं के कारण है, कर्म अथवा पर पदार्थ के कारण नहीं।

(५) राग-द्वेष आदि पर्याय स्व के दोष से होने पर भी त्रिकाली स्वभाव में नहीं है।

(६) राग-द्वेष आदि विकार विकाररूप है, शुद्ध स्वभावरूप नहीं।

(७) शुद्धस्वभाव शुद्धस्वभाव के कारण है, विकार के कारण नहीं।

(८) ज्ञान की पर्याय ज्ञान के कारण है, राग के कारण नहीं।

(९) एक समय की पर्याय एक समयवर्ती है, त्रिकालवर्ती नहीं।

(१०) एक गुण त्रिकालरूप है, एक समय का नहीं।

(११) एक गुण एक गुणरूप है, सम्पूर्ण द्रव्यरूप नहीं।

(१२) एक गुण एक गुणरूप है, अन्य गुणरूप नहीं।

(१३) द्रव्य-द्रव्यरूप है, एक गुणस्वरूप नहीं।

(१४) द्रव्य-द्रव्यरूप है, एक पर्याय जितना नहीं।

(१५) संसार एक समयवर्ती है, त्रिकाली शुद्धस्वभाव में नहीं।

(१६) अल्पज्ञता अल्पज्ञतारूप है, सर्वज्ञतारूप नहीं।

(१७) सर्वज्ञता सर्वज्ञतारूप है, अल्पज्ञतारूप नहीं।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु स्वयं से है और पर से नहीं है। वस्तु के दोनों ही धर्मों को समझे तो वस्तु पूर्ण होती है।

इस प्रकार अनेकान्तस्वरूप के साथ मैत्री करने से जिसका मन पवित्र हो गया है - ऐसे धर्मात्माओं के प्रति, वीतरागी सन्तों के प्रति शुभोपयोगी को शुभराग आता है।

आत्मा 'स्व' से ज्ञान करता है, इन्द्रियों से ज्ञान नहीं करता - यह अनेकान्त है। इन्द्रियों से ज्ञान नहीं करता - ऐसा कहना भी संयोगी कथन है; क्योंकि इन्द्रियाँ वास्तव में मूलद्रव्य नहीं हैं, इन्द्रियाँ तो पुद्गल स्कन्ध हैं। अनेक परमाणुओं के समूह को स्कन्ध कहते हैं, अतः मूल स्वरूप तो परमाणु है। इन्द्रियाँ वास्तव में कोई मूल वस्तु नहीं है। एक-एक परमाणु स्वतन्त्र है। जब वह एक क्षेत्र अर्थात् स्कन्धरूप में आती है तो इन्द्रिय नाम प्राप्त होता है।

इन्द्रियों का यथार्थ ज्ञान करने के इच्छुक जीव को परमाणुस्वरूप मूलद्रव्य का ज्ञान करना होगा।

इन्द्रियों का विचार करने पर स्कन्ध का विचार होता है, स्कन्ध का विचार करने पर अनेक परमाणुओं से युक्त पर्याय का विचार होता है। उन समस्त पर्यायों में एक पर्याय परमाणु की है। इस परमाणुस्वरूप मूलद्रव्य का विचार करने पर वस्तुस्थिति समझ में आती है।

इस प्रकार जिसे पर्याय का यथार्थ ज्ञान है, उसे पर्यायवान का लक्ष्य करना होगा। वस्तु का कोई भी अंश हो अंशी के ज्ञान बिना अंश का ज्ञान सच्चा नहीं हो सकता। द्रव्य के ज्ञान बिना पर्याय का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। पर वस्तुओं का भी यथार्थ ज्ञान करने के लिए परमाणुओं का मूल स्वभाव जानना होगा। एक-एक परमाणु स्वतन्त्र है। स्कन्धरूप होने पर भी एक परमाणु अन्य परमाणु में अभावस्वरूप है। एक गुण अन्य गुण में अभावरूप है। एक पर्याय अन्य पर्याय के अभाव स्वभावरूप है, इस प्रकार पर पदार्थों का ज्ञान करते हुए भी मूल द्रव्य पर दृष्टि करना चाहिए।

पर-पदार्थरूप मूल द्रव्य यही है - इसका यथार्थ निर्णय कौन करेगा? इन्द्रियाँ स्कन्धरूप हैं, अनन्त परमाणु भिन्न-भिन्न हैं। परमाणु द्रव्य है या पर्याय है अथवा कोई

अंश किस अंशी का है – यह निश्चय कैसे होगा ?

परमाणु का ज्ञान है; किन्तु परमाणु क्या है ? यह ज्ञात नहीं है। इन्द्रिय, स्कन्ध का ज्ञान तो आत्मा करता है। वास्तव में ज्ञान को परमाणु का ही लक्ष्य करना चाहिए, तभी यथार्थता आ सकती है। ज्ञान को स्व की ओर झुकाकर स्व का स्वरूप निर्णित करना होगा।

‘स्व’ स्व के कारण है, इन्द्रियों के कारण नहीं। परलक्ष्य से शुभाशुभभाव होते हैं, वे विकृत और एक समय के हैं। वे मेरा स्वरूप नहीं है – ऐसा यह जीव अनेकान्त द्वारा जानता है। पर्याय में जो जाननपना होता है, वह इन्द्रियाँ, परवस्तु या विकार के कारण नहीं होता; अपितु स्वयं की ज्ञानपर्याय के कारण होता है।

वह ज्ञानपर्याय किसकी है ? कहाँ से आती है ? किसका अंश है ? इसका विचार करने पर निश्चितरूप से द्रव्य की ओर ही दृष्टि जाती है।

आत्म द्रव्य ज्ञान का भण्डार है, वह निम्न प्रकार से जाना जाता है।

(१) जो द्रव्य का यथार्थ ज्ञान करता है, वह जीव अपनी पर्याय का यथार्थ ज्ञान करता है।

(२) स्व के स्व-पर प्रकाशक ज्ञान स्वभाव का निर्णय होने पर स्व को जानते हुए पर को भी जाना जाता है।

(३) जिन्होंने स्व में द्रव्यदृष्टि की है, वे जीव समस्त पदार्थों को द्रव्यदृष्टि से अर्थात् मूलस्वरूप से जानते हैं।

(४) जो इन्द्रियाँ हैं, उसमें मूलवस्तु तो परमाणु है। जैसे परमाणु की अवस्था स्कन्धरूप होकर विशिष्ट प्रकार के संयोगरूप होने पर उसे इन्द्रिय कहते हैं – ऐसा व्यवहार है।

छद्मस्थ जीव भले ही परमाणुओं को प्रत्यक्ष नहीं जानता है, किन्तु परोक्ष रीति से परमाणु (द्रव्य) का निर्णय कर सकता है।

(५) द्रव्यदृष्टि से देखने पर इन्द्रियाँ मूल वस्तु नहीं हैं। अनन्त परमाणु एक दूसरे

में अभावस्वरूप स्कन्धरूप विशिष्टाकार में रहते हैं। जब इन्द्रियाँ कोई मूल वस्तु ही नहीं हैं, तो फिर आत्मा को इन्द्रियों से ज्ञान होता है, यह मानना स्थूल भूल है। जो जीव द्रव्यदृष्टिपूर्वक समस्त पदार्थों को देखकर संयोगादि का ज्ञान करते हैं, उन्हें अन्तर में निश्चय प्रगट होता है, तब उपचार से व्यवहार का आरोप आता है।

अज्ञानी जीव पर-पदार्थों के संयोग की ओर झुकता है। जिस जीव को पर्यायदृष्टि है, वह स्वयं और अन्य को पर्याय से ही जानता है – ऐसे जीव को राग-द्वेष-मोह अवश्य होते हैं। जो स्वभावदृष्टिवाला पर तथा स्व के मूल स्वभाव पर दृष्टि रखता है, उसे पर्यायों में फेरफार होने पर भी राग-द्वेष नहीं होता। मैं ज्ञानमात्र हूँ – इस प्रकार परद्रव्य से लक्ष्य हटकर उसे द्रव्यदृष्टि होती है। सच्चा श्रद्धान-ज्ञान होता है और स्थिरता बढ़ने पर वीतरागता भी होती है।

कोई कहता है 'यह घोड़ा है' और कोई कहता है 'यह घोड़े जैसा दिखता है'? यहाँ घोड़ा मूल वस्तु नहीं है। घोड़े की आत्मा और शरीर दोनों भिन्न-भिन्न हैं। घोड़े के शरीर की बात लेवें तो आँख, कान इत्यादि से मिलकर स्कन्धरूप शरीराकार को घोड़ा कहा है। जो स्कन्ध है, वह भी मूल वस्तुस्वरूप नहीं है। स्कन्ध भी अनेक परमाणुओं को बताता है।

(१) मूलद्रव्य के ज्ञान बिना पर्याय का ज्ञान सच्चा नहीं है।

(२) एक पर्याय के सच्चे ज्ञान बिना पर्याय और स्कन्ध का सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता है।

(३) स्कन्धों के सच्चे ज्ञान बिना 'यह घोड़ा है' ऐसा अज्ञानी कहे तो उसका तत्सम्बन्धी ज्ञान मिथ्या है।

ऐसे ज्ञानपूर्वक अज्ञानी जीव घोड़े को घोड़ा कहे या जाने तो भी उसे घोड़े का यथार्थ ज्ञान नहीं है; क्योंकि मूल वस्तु घोड़ा नहीं है, मूल वस्तु तो परमाणु है; अतः मूलद्रव्य को खोजना चाहिए।

केवल पर्याय को जानने से ज्ञान सच्चा नहीं होता, उसके मूल स्वभावी द्रव्य को

भी जानना पड़ेगा। अज्ञानी तो स्थूल पदार्थ को ही जानता है। स्थूल तो अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध है। उसमें एक परमाणु अन्य परमाणुरूप नहीं है, एक गुण अन्य गुणरूप नहीं है, एक पर्याय अन्य पर्यायरूप नहीं है। इस प्रकार अनेकान्त को जानते हुए मूल द्रव्य का ज्ञान करना चाहिए। सूक्ष्म का ज्ञान किये बिना स्थूल का ज्ञान भी सच्चा नहीं होता।

सूक्ष्म से क्या तात्पर्य है ? आत्मा परमाणु को जाननेवाला है। मेरा आत्मा विकार, निमित्त अथवा अंशस्वरूप नहीं है। मैं त्रिकाली शुद्ध हूँ - ऐसी स्वदृष्टि करने पर स्व-पर प्रकाशक ज्ञान खिला उठता है और पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है।

एक पर्याय का अन्य पर्याय में अभाव है। जो पर्याय द्रव्य में से आती है, वह इन्द्रियों को इन्द्रियरूप न जानकर एक-एक परमाणु को परमाणुरूप जानती है।

प्रत्येक जीव निश्चय से स्व को जानता है। स्व को जानते हुए पर द्रव्यों को भी जानता है और परद्रव्यों को जानते हुए स्कन्ध आदि का ज्ञान व्यवहार से जैसे का तैसा करता है।

स्व की सच्ची दृष्टि होने पर स्व-पर प्रकाशक ज्ञान खिल गया है। मैं और परद्रव्य दोनों भिन्न-भिन्न ही हैं यथा -

(१) अग्नि है इसलिए आत्मा का ज्ञान नहीं होता।

(२) अग्नि के कारण ज्ञान नहीं होता।

(३) अग्नि के अभाव एवं ज्ञान के सद्भाव से ज्ञान नहीं हुआ है।

परवस्तु का परवस्तु में सद्भाव है। स्व में पर का अभाव है, अतः प्रत्येक ज्ञेय के अभाव से और आत्मा के सद्भाव से ज्ञान होता है।

प्रश्न - ऐसा कहेंगे तो पर का अस्तित्व नष्ट हो जाएगा ?

समाधान - 'स्व' का निश्चय करनेवाला जीव ही परपदार्थ को पररूप जानता है।

पर का अस्तित्व आत्मा से सदा के लिए निकल गया है। आज तक बाह्य पदार्थों का अस्तित्व आत्मा में कभी आया ही नहीं था, अतः उसे निकालने का काम ही नहीं है। पर का अस्तित्व पर में है। पर वस्तु का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव स्व के द्रव्य-क्षेत्र-काल-

भाव से अभावरूप ही वर्तता है। पर का अभाव और स्व का सद्भाव ऐसा निश्चित करें तो स्व स्व के कारण है और पर पर के कारण है।

मेरी ज्ञान पर्याय पर के कारण स्थिर नहीं है - ऐसा ज्ञान करने पर ही परद्रव्य का सच्चा ज्ञान होता है। परद्रव्य मेरे कारण नहीं है, मेरा ज्ञान मुझसे है और परद्रव्य पर से है - ऐसा व्यवहार से ज्ञान करना चाहिए।

यहाँ पर के अस्तित्व की सिद्धि करना है। स्व को जाने बिना पर पररूप है, इसका निश्चय कैसे होगा? स्व को निश्चित करनेवाला जीव ही पर का अस्तित्व पर में है - ऐसा यथार्थ स्वीकार करता है।

प्रश्न - यह सब पिष्टपेषण जैसा लगता है ?

समाधान - ज्ञान स्वभाव की दृढ़ता करना पिष्टपेषण नहीं है, अपितु समय-समय की निर्मलता बढ़ाना है। यह तो अनेकान्त के साथ मैत्री है। एक समय की ज्ञान पर्याय अगले समय में विशेष निर्मलता पाती है। सूक्ष्मता विशेष है; अतः बात को यथावत समझ लेना चाहिए, फिर भी अरुचि दिखाई देवे तो समझना कि वह जीव बाधकदशा में पड़ा है। चैतन्य स्वभाव के आश्रय से एक के बाद एक पर्याय में शुद्धता बढ़ती जाती है। जिसने ज्ञान-दर्शन को स्वपने स्वीकार किया है, उसकी निर्मलता बढ़ती है।

पूर्व की पर्याय में आगे की पर्याय नहीं है, आगे की होनेवाली प्रत्येक पर्याय नवीन है, सत्स्वरूप है। वास्तव में स्वयं की पर्याय को पर्यायवान के साथ जोड़े बिना उसका बाधकपना टलता नहीं है; अतः जीव को पिष्टपेषण जैसा लगता है, किन्तु वह पिष्टपेषण नहीं है।

निर्मलता का एक अंश प्रगट हुआ तो प्रति समय निर्मलता बढ़कर द्रव्य के साथ एकाकार होती है। अंश अंशी का ही है यह निश्चित करनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वर्तमान पर्याय के पश्चात् प्रगट निर्मलता और अधिक विशेष होती है, वह जीव को केवलज्ञान के निकट ले जाती है। मोक्षदशा होने पर अंश-अंशी सर्वथा एकरूप होकर पूर्ण व्यक्त दशा प्रगट होती है।

केवलज्ञान प्रगट होने के पश्चात् सादि-अनन्त काल तक शुद्ध आनन्द-ज्ञान व

अनुभव की एक-एक पर्याय होती है। एक समयवर्ती केवलज्ञान की पर्याय अन्य समय की नहीं है। केवलज्ञान की प्रत्येक पर्याय में काल भेद की अपेक्षा अपूर्वता है।

किसी किताब का एक पन्ना पढ़ने के लिए सम्पूर्ण किताब को देखना पड़ता है, उसी प्रकार शरीर, कर्म, इन्द्रिय यह सब एक साथ ही हैं; तथापि कर्म, कर्म के कारण है, अन्य के कारण नहीं। कर्म की प्रत्येक पर्याय स्व-स्वरूप है, अन्यरूप नहीं। मूल अवस्था तो परमाणु द्रव्य की है। इसी प्रकार शरीर इन्द्रिय आदि पर भी घटाना चाहिए।

अंशी के ज्ञान बिना अंश का ज्ञान सच्चा नहीं हो सकता। शरीर, कर्म और परमाणु की अवस्था आत्मा के लिए नहीं है। वह मूल द्रव्य के लिए है। इस प्रकार पर का अंश परद्रव्य के लिए है - यह निश्चित हुआ।

पर पदार्थ की पर्याय पर के लिए है। पर की पर्याय मेरे ज्ञान पर्याय में हो - ऐसा नहीं है। स्वयं को जानने के पश्चात् परपदार्थ भी जानने में आते हैं; अतः वर्तमान व्यक्त ज्ञानपर्याय मेरे स्वयं की है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है। निमित्त, राग अथवा अपूर्ण पर्यायरूप नहीं है। मेरा स्वभाव तो अनन्त ज्ञान का घनपिण्ड है - इस प्रकार द्रव्य को निश्चित करनेवाली पर्याय का यहाँ यथार्थ ज्ञान कराया है - ऐसे ज्ञानपूर्वक परद्रव्य तथा अंश एवं स्कन्ध का यथार्थ ज्ञान व्यवहार से होता है।

जिसने अनेकान्तस्वरूप को जाना है, उसका चित्त पवित्र हुआ है। अनेकान्तस्वरूप आत्मा को जाने और पवित्रता न आवे ऐसा नहीं हो सकता।

(१) मैं स्वयं से हूँ; अनन्त परपदार्थरूप नहीं हूँ। मेरा राग मेरे कारण है; कर्म आदि पर के कारण नहीं है - ऐसा निश्चित करने पर राग पर से होता है - ऐसी निमित्ताधीन बुद्धि का नाश हो जाता है। अनन्त परपदार्थों के प्रति वर्तनेवाली पर्यायदृष्टि का नाश होता है।

(२) वर्तमान राग राग के कारण है, स्वभाव के कारण नहीं - ऐसा निश्चित होने पर राग से धर्म माननेवाली मिथ्याबुद्धि अथवा मैं 'रागरूप हूँ' - ऐसी बुद्धि का नाश होकर अविकारी स्वभाव की प्राप्ति होती है।

(३) वर्तमान ज्ञानपर्याय स्व के कारण है; पर के कारण नहीं – ऐसी मान्यता होने पर ज्ञान की पराधीनता नष्ट होकर स्वभाव की ओर दृष्टि होती है। देव-शास्त्र-गुरु की ओर भी दृष्टि नहीं करनी पड़ती।

(४) वर्तमान ज्ञानांश व्यक्त दिखाई देता है, वह स्वयं के कारण है, पर के कारण नहीं। प्रत्येक पर्याय एक के बाद एक होती है, वह पूर्व पर्याय के कारण नहीं होती, पर्याय में से पर्याय नहीं होती, अतः पर्याय का आधार पर्यायवान् द्रव्य है। इस प्रकार द्रव्य की ओर दृष्टि होने से पर्यायबुद्धि का नाश होता है।

अनेकान्त को निश्चित करनेवाली दृष्टि अनन्त पर-पदार्थों, शुभाशुभभावों तथा व्यक्त ज्ञान की अपूर्ण पर्याय से हटकर अनन्त गुणों के पिण्डस्वरूप द्रव्य पर स्थिर होती है। इससे मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव होता है। आत्मस्थिरता बढ़ती है और मोक्षदशा की प्राप्ति होती है।

जो मिथ्यात्व-राग-द्वेष-मोह को जीते, वह जैन है। जैन कोई सम्प्रदाय नहीं है। यह तो वस्तुदर्शन है। मिथ्यात्व और राग-द्वेष को जीतनेवाला ही जैन है। विकार पर के कारण होता है; किन्तु स्वयं की कमजोरी ही उसमें प्रबल कारण है। यदि आत्मा में विकार हो तो स्वभाव में भी विकार हो जाए, किन्तु विकार त्रिकाली स्वभाव में नहीं है।

जो सच्चा श्रद्धान-ज्ञान करके विकार को जीतता है, उसे अविकारी दशा प्रगट होती है और वह कायमस्वरूपी रहता है।

निर्मलता का उत्पन्न होना अस्तिस्वरूप है और मलिनता का नाश होना यह नास्ति से बात है। इस प्रकार अस्ति-नास्ति का स्वरूप यथार्थ समझकर विकार का नाश करके अविकारी दशा प्रगट करे; वह जैन है।

जैन शब्द में ही जीतने की अपेक्षा निहित है। अज्ञान राग-द्वेष को जीते वह जैन है। जीतने में विकार को टालने की अपेक्षा है; अतः यह सापेक्ष कथन है।

प्रश्न : राग को किस प्रकार जीतना चाहिए ?

उत्तर : पूर्व रागपर्याय का व्यय हो गया, अतः उसे जीतना नहीं है। भविष्य की

रागपर्याय उत्पन्न नहीं हुई है, अतः उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। त्रिकालवर्ती राग को जीतने की दृष्टि भी नहीं करना है, स्वयं के ज्ञान स्वभाव में श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता करने से राग उत्पन्न ही नहीं होगा, तब राग को जीत लिया - ऐसा कहा जाता है।

अनेकान्त के साथ मैत्री रखनेवाले जीव की परद्रव्य, विकार तथा वर्तमानगत हीन पर्यायों से दृष्टि हट गई है। उसने यह निश्चित किया है कि ज्ञान-दर्शन की जो हीन पर्याय दिखाई देती है, वह पर-पदार्थों के आश्रय के कारण है, इसलिए पर-पदार्थों का सर्वथा आश्रय छोड़कर द्रव्य का आश्रय करें तो अपूर्णता नहीं रहेगी और पूर्णदशा प्रगट होगी।

अनेकान्त के साथ मैत्री करनेवाले द्रव्य की प्रतीति करने पर केवलज्ञान की भी स्वतः प्रतीति होती है। यद्यपि उस जीव को समस्त पदार्थों का प्रत्यक्ष अवलोकन नहीं है; किन्तु अव्यक्तरूप से पदार्थों का भावभासन अवश्य होता है।

(१) अनन्त ज्ञेयपदार्थ मुझमें अभावरूप हैं और स्व में सद्भावरूप हैं।

(२) मेरा स्व-पर प्रकाशक स्वभाव मेरे कारण हैं; पर के कारण नहीं।

(३) पर ज्ञेय मुझमें मेरे कारण जानने में आते हैं; पर के कारण नहीं।

(४) पर का मुझमें अभाव है, किन्तु उनमें स्वयं का सद्भाव है।

(५) पर का मुझमें अभाव होने पर भी मुझे पर का ज्ञान मेरे स्वयं के कारण होता है; क्योंकि मेरा ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है।

इस प्रकार जिसने वस्तु का स्वरूप निश्चित किया है, उसे द्रव्य और केवलज्ञान की प्रतीति होती है। पश्चात् विशेष पुरुषार्थपूर्वक यह केवलज्ञान और मोक्षदशा को पाता है।

प्रथमतः अनेकान्त स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होना चाहिए। उसके यथार्थ ज्ञान बिना सच्ची समझ नहीं हो सकती। वाणी को समझनेवाला निर्णय करता है कि वाणी से मुझे सच्चा ज्ञान नहीं होता। वाणी और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं; अतः मेरा ज्ञान मेरे स्वयं के कारण है। वाणी मूलवस्तु नहीं है। अनन्त पुद्गल परमाणु भिन्न-भिन्न हैं। अनेकान्ततत्त्व एक-एक मूलवस्तु की पृथकता सिद्ध करता है। एक पर्याय का अन्य पर्याय में अभाव

है। स्कन्धरूप वाणी आदि सब संयोग है। परमाणु उपादान असंयोगी तत्त्व है, उसे लक्ष्य में लेवें तो परपदार्थ की सूक्ष्मता का ज्ञान स्व की सूक्ष्मता से होता है। पर की सूक्ष्मता का यथार्थ ज्ञान होवे तो पुद्गल परमाणु, सूक्ष्म-स्थूल स्कन्ध, शरीर, कर्म और इन्द्रिय इन सब का भी यथार्थ ज्ञान होता है।

आत्मदर्शन या वस्तुदर्शन एक ही बात है। एक ज्ञान पर्याय कहते ही अनन्त परद्रव्य, उसके गुण तथा पर्यायों का अभाव हो जाता है।

ज्ञान पर्याय कहते ही राग की पर्याय तथा पूर्व एवं भविष्य की ज्ञानपर्याय ग्रहण नहीं होती। विशेष विशेष के कारण है, सामान्य के कारण नहीं और सामान्य, सामान्य के कारण है, विशेष के कारण नहीं। यदि विशेष सामान्य के लिए हो तो विशेष और सामान्य एक हो जाए; किन्तु ऐसा नहीं होता।

इस प्रकार कथञ्चित् अपेक्षा समझकर निश्चित करनेवाली दृष्टि परपदार्थ, गुणभेद, पूर्वपर्याय तथा सामान्य और विशेष के भेद से हट जाती है और स्वभाव की ओर ढल जाती है।

केवलज्ञान की एक पर्याय ग्रहण करते ही अन्य द्रव्य, अन्य गुण, पूर्व पर्याय अथवा भविष्य की पर्याय - इन सभी का अभाव हो जाता है। आत्मा एक ही है। अन्य का आत्मा में अभाव है, किन्तु उसका स्वयं में सद्भाव है - ऐसी सच्ची समझ करनेवाले को द्रव्यदृष्टि होती है। यह द्रव्यदृष्टि ही सम्यग्दर्शन और वीतरागता का कारण है।

अज्ञानी जीवों को वस्तुस्वरूप के ख्याल बिना सच्चा माहात्म्य समझ में नहीं आता; अतः वे समस्त क्रियाएँ विपरीत ही करते हैं। उन्होंने वस्तुस्वरूप को समझा ही नहीं है।

प्रतिक्रमण आदि का भाव तो शुभराग है। इस शुभराग को टालकर शुक्लध्यानपूर्वक केवलज्ञान की प्राप्ति करना है। शुक्लध्यान और वीतरागता के बिना शुभराग लाभ का कारण नहीं है। अज्ञानी को सच्चा प्रतिक्रमण भी नहीं हो सकता।

राग रहे तो लाभ नहीं होगा और राग टले तो लाभ होगा इत्यादि अनेक प्रकार से अनेकान्त का स्वरूप कहा गया है। इस अनेकान्त स्वरूप को स्व में उतारकर अपने में पवित्रता अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य प्रगट करना चाहिए।

इस प्रकार शुद्ध जैनी अर्थात् मुनियों के प्रति शुभोपयोगी जीव को वैयावृत्ति आदि का शुभराग होता है, किन्तु अन्य के लिए नहीं होता।

आत्मा की पूर्णदशा को साधनेवाले साधु हैं, जब मुनिराज स्वयं स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकते, तब उन्हें शुभराग आता है। अन्य धर्मात्माओं के प्रति अनुकम्पापूर्वक वात्सल्यभाव होता है। शुभराग उनके लिए अल्प राग के समान है, फिर भी अनेकान्त के साथ मैत्री से जिनका चित्त परमपवित्र हो गया है – ऐसे शुद्ध जैनियों के प्रति शुभोपयोगी जीवों को शुभराग आता है।

जगत की कोई भी वस्तु हो, वह स्व से है और पर से नहीं है। मैं आत्मा अन्य वस्तुरूप नहीं हूँ – ऐसे वस्तु के स्वरूप को जाननेवाला जीव जैन है। जो वस्तु के स्वरूप को नहीं माने वह जैन ही नहीं है।

‘आत्मा है’ ऐसा कहकर पश्चात् उसे ईश्वर ने बनाया – ऐसा भी कहे तो विरोध आता है। किसी ने बनाया – ऐसा कहे तो अस्तित्व के निषेध होता है; अतः आत्मा का कोई कर्ता नहीं है।

- (१) तीनों काल आत्मा स्व से है, पर से नहीं।
- (२) वर्तमान पर्याय स्व से है, अन्य के कारण नहीं।
- (३) मेरी राग पर्याय मेरी कमजोरी के कारण है; अन्य के कारण नहीं।
- (४) मैं त्रिकाली हूँ; वर्तमान राग जितना नहीं हूँ।
- (५) ज्ञान-चैतन्य के आश्रय से धर्म होता है; वर्तमान पुण्य-पाप के आश्रय से धर्म नहीं होता।
- (६) धर्म स्व से है; राग अथवा पर के कारण नहीं।
- (७) राग, राग के कारण है; शुद्धस्वभाव के कारण नहीं।
- (८) धर्म स्वयं के पुरुषार्थ से है; गुरुकृपा से नहीं।
- (९) निर्मलदशा ही धर्म है, वह स्वभाव के आश्रय से प्रगट होती है।

(१०) पर आत्मा और पर शरीर अपने स्वयं के कारण है; मेरे कारण नहीं ।

(११) शरीर, शरीर के कारण है, मेरे राग अथवा निमित्त के कारण नहीं ।

(१२) शरीर, शरीर के कारण चलता है; मेरे ज्ञान के कारण नहीं ।

इस प्रकार शरीर और आत्मा भिन्न वस्तु है । अच्छी तरह ध्यान रखने से शरीर बना रहता है, यह बात झूठी है । वस्तु के गुण, पर्याय अथवा निर्मल व विकारी स्व में होनेवाली समस्त पर्यायों स्वयं के कारण हैं, पर के कारण नहीं । यही अनेकान्त की सिद्धि है ।

प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व स्व से है; किन्तु उसे पर से माने तो स्वपना नहीं रहता है ।

(१) प्रत्येक द्रव्य स्वयं के कारण है; पर द्रव्य के कारण नहीं ।

(२) प्रत्येक द्रव्य स्वयं के स्वक्षेत्र से है; परक्षेत्र के कारण नहीं ।

(३) प्रत्येक द्रव्य स्वयं के स्वकाल से है; परकाल के कारण नहीं ।

(४) प्रत्येक द्रव्य स्वयं के स्वभाव से है; परभाव के कारण नहीं ।

(५) शान्ति अथवा धर्म स्व के कारण है; संयोग के कारण नहीं ।

(६) धर्म स्वयं के कारण है; देव-गुरु-शास्त्र अथवा राग के कारण नहीं ।

(७) राग-राग के कारण है; धर्म की पर्याय के कारण नहीं ।

(८) वस्तु का एक-एक परमाणु स्वयं के कारण है; अन्य के कारण नहीं ।

स्वपदार्थ, परद्रव्य-गुण-पर्यायों से नहीं है - ऐसा निश्चित करते ही अनन्त परपदार्थों से दृष्टि हट जाती है । जड़ की पर्याय जड़ के कारण और मेरी पर्याय मेरे कारण है - ऐसा निश्चित करते ही पवित्रता प्राप्त हुए बिना नहीं रहती ।

जिस प्रकार स्कन्ध में परमाणु की विभाव अवस्था हुई है, उसमें कोई अन्य परमाणु निमित्त है, इसलिए हुई - ऐसा नहीं है; अपितु स्व की योग्यता से हुई है; उसी प्रकार राग, राग के कारण है; कर्म के कारण नहीं ।

अनेकान्त की धारणा करना मात्र कार्यकारी नहीं है । मैं स्वरूप से हूँ और पररूप

से नहीं हूँ – ऐसा परिणमन होना ही शुद्धता है। मध्यस्वरूप से विचार करने पर वस्तु का कोई कर्ता हो, यह बात नष्ट हो जाती है। तीनों काल प्रत्येक द्रव्य स्व से है और पर से नहीं है। स्व में परिपूर्ण निर्मलता प्रगट होने के पश्चात् अवतार धारण करके संसार में आवे – ऐसा नहीं होता।

एक बार विकारी भाव का सर्वथा नाश होने पर अन्य पदार्थों का क्या होगा ? ऐसा विचार नहीं रहता। यही अनेकान्तस्वरूप है।

अनेकान्त का रहस्य जानकर स्व में परिणमन करना चाहिए। ज्ञान की पर्याय ज्ञान के कारण है, राग के कारण नहीं। श्रद्धा की पर्याय श्रद्धा के कारण है। परपदार्थ के कारण नहीं। वीतरागता की पर्याय वीतरागता के कारण है, राग के कारण नहीं है – ऐसा निश्चित करके अपनी आत्मा को पर तथा विकार से भिन्न करके अन्तर परिणमन करें तो सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इसी समय क्रिया और ज्ञान की मैत्री भी सिद्ध होती है।

स्वयं स्वयं के कारण है, पर के कारण नहीं। मैं स्वयं ज्ञानस्वरूप हूँ, विकारस्वरूप नहीं – ऐसा ज्ञान और अन्तर परिणमन करते ही अनन्त पदार्थों के कर्तृत्वपने का अहङ्कारभाव नष्ट हो जाता है। आंशिक वीतरागता प्रगट होती है। इस प्रकार ज्ञान और क्रिया की मैत्री सिद्ध होती है, यही अनेकान्त है। बाह्यक्रिया को आत्मा नहीं कर सकता। पुण्य-पाप आदि भी आत्मा की क्रिया नहीं है। रागरहित अन्तर परिणमन ही ज्ञानी की क्रिया है। इस प्रकार अनेकान्त का रहस्य जानकर ज्ञान और क्रिया की मैत्री साधनेवाला ही जैन है।

वर्तमान भाव स्वयं के कारण हुआ – ऐसा निश्चित होने पर निमित्त की आवश्यकता ही नहीं रहती। यह जीव वर्तमान में अपने स्वयं के अपराध के कारण राग करता है, परद्रव्य के कारण राग नहीं करता। त्रिकाली द्रव्य, गुण, आकार तथा अर्थपर्याय स्वयं के कारण है; पर के कारण नहीं।

चाकू के संयोग होने पर ऊँगली कट जाती है, किन्तु ऊँगली ऊँगली के कारण से कटी है; चाकू के कारण नहीं और चाकू, चाकू के कारण है, ऊँगली के कारण नहीं। चाकू ने ऊँगली को काटा ही नहीं है। चाकू स्वयं अपना कार्य करता है और ऊँगली ऊँगली के

अर्थस्वरूप अपना कार्य करती है। ऊँगली का कटना उसके अपने सद्भाव से हुआ है; पर के कारण नहीं। इसी प्रकार पर का आग्रह छूटते ही परसम्मुख दृष्टि भी छूट जाती है। मेरा धर्म मेरे स्वयं में है; पर में नहीं है - ऐसी अनेकान्तदृष्टि होती है। प्रत्येक वस्तु की स्वयं स्वतन्त्रता प्रदर्शित होती है।

‘मैं हूँ’, ‘मेरा कोई कर्ता है’ परद्रव्य के कारण मुझे ऐसा भाव हुआ अथवा राग के कारण पैसा आया इत्यादि सब अज्ञानी की मान्यता है। पैसा पैसे के कारण आता है; रागी के राग के कारण नहीं। ज्ञान पर्याय स्व के कारण दृष्टिगत होती है; वाणी के कारण नहीं। वाणी, वाणी के कारण है; जीव के कारण नहीं। एक परिवार में अनेक लोग रहते हैं; किन्तु कोई किसी के लिए नहीं है। एक के कारण दूसरे का कुछ होता हो तो एक को कुछ कहने पर सबको मानना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। प्रत्येक जीव स्व के कारण है, पर के कारण नहीं।

घड़े का आकार मिट्टी के कारण हुआ है, कुम्हार के कारण नहीं। कोई कहे कि पूर्व में यह आकार नहीं था, तब उससे कहते हैं कि पूर्व का आकार भी उसके स्वयं के कारण था; पर के कारण नहीं। अन्य आकार भी स्व के कारण हुआ; पर के कारण नहीं। एक गुण सम्पूर्ण द्रव्यरूप नहीं है और एक वस्तु एक गुण में नहीं आ सकती। सामान्यपना अपने स्वयं के कारण है, विशेष के कारण नहीं - यही वस्तु का स्वरूप है। यह अद्भुत अनेकान्त का स्वरूप वीतरागदर्शन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है।

प्रश्न - घर में कोई बात नहीं माने तो क्या करें ?

उत्तर - तुम्हारे प्रश्न में ही तुम्हारा जवाब सम्मिलित है। पुत्र स्वयं अपने मन की बात मानता है, लेकिन तुम्हारी बात नहीं मानता। तुम अपनी स्वयं की बात मानते हो, पुत्र की बात नहीं मानते। व्यवहार के जो समस्त संयोग हैं, वे ज्ञानमात्र करने के लिए हैं।

मेरा भाव पर में नहीं है, पर के लिए नहीं है। ज्ञान विशेष करें तो वाणी का विस्तार होता है और वाणी का विस्तार होने से जीव समझते हैं - ऐसा तीन काल में नहीं हो सकता। उसी प्रकार ज्ञान का विशेष विस्तार होने से वाणी में अधिक स्पष्टता आती है -

ऐसा भी नहीं है। राग, ज्ञान, वाणी तथा अन्य समस्त जीव सभी स्वतन्त्र हैं। अनेकान्तस्वरूप सुदर्शन चक्र छह द्रव्यों को साधकर स्वयं में स्वानुभव जगाता है।

एक घड़े की पर्याय में कुम्हार की पर्याय का अभाव है। जो वस्तु अभावरूप है, उसे सद्भावरूप कहना अथवा उसमें फेरफार करना मूढ़ता है। प्रत्येक पदार्थ की वर्तमान पर्याय स्व से है, पर से नहीं – यह स्वतन्त्रता जगजाहिर है। वस्तु का परिणमन तो चलता ही रहता है। किसी परमाणु की अवस्था भिन्न होनेरूप हो तो परमाणु की अवस्था पलटती है। यह तो पुद्गल का स्वभाव है। उसका रूपान्तर स्व के कारण होता है, पर के कारण नहीं है। वर्तमान में जीव को जो विकार हुआ है, वह स्व की वर्तमान पर्याय में है, त्रिकाल में नहीं। विकार स्वयं की कमजोरी के कारण है, पर के कारण नहीं है।

पूर्व में पाप किये इसलिए विकार हुआ – ऐसा नहीं है। पूर्व के पाप पूर्व में थे, वर्तमान में नहीं हैं। दोनों का एक-दूसरे में अभाव है – ऐसा ही अनेकान्त वस्तुस्वरूप है। जिसे जीवनभर यह बात समझ में नहीं आयी हो, वह करें तो क्या करें? अतः जो जीव अनेकान्तस्वरूप को समझकर अपने अन्तर में परिणमन करता है, वह परपदार्थों के लक्षण तथा राग से भिन्न होकर सम्यग्दर्शन प्रगट करता है।

ज्ञानी जीव अनेकान्तस्वरूप को स्वयं समझकर, अपने ज्ञानदर्शन स्वभाव में ही जानने-देखने की प्रवृत्ति करते हैं। अन्य धर्मात्माओं को अनेकान्त मैत्री का स्वरूप समझाते हैं। ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में परिणमित हुए हैं। शुभोपयोगी होकर रागरूप वात्सल्य का शुभभाव करते हैं, वे भी धर्मी हैं। जिसके प्रति शुभभाव करते हैं, वह भी धर्मी जीव ही होता है। इस प्रकार शुद्धात्मा के प्रति सेवा आदि का शुभराग हो तो उसका निषेध नहीं है।

शुद्धात्मा की प्राप्ति के सिवा अन्य कोई अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। शुभोपयोगी जीव को शुभराग होने पर भी उसका अभाव करके अपने शुद्धात्मा में ठहरना चाहिए; किन्तु यदि स्थिरता नहीं हो सके तो कुछ काल तक शुभराग भी आता है।

स्वयं की शुद्धता के योग्य शुभराग होना चाहिए अथवा अपनी अवस्था के योग्य अन्य धर्मात्माओं की शुद्धता में निमित्तभूत शुभराग होना चाहिए।

स्वयं की मान-प्रशंसा अथवा आशीर्वाद या प्रतिष्ठा की दृष्टि से शुभराग नहीं होना चाहिए। शुद्धात्मा की उपलब्धि में निमित्त हो - ऐसे शुभराग की प्रवृत्ति का निशेध नहीं है। यह शुभराग अल्प दोष लगाता है, किञ्चित् बन्ध कराता है, किन्तु इससे शुभराग करनेयोग्य है - ऐसा नहीं है।

(१) जो-जो जीव पुण्य से धर्म मानते हैं, निमित्त से कार्य होना मानते हैं, वे विपरीत प्ररूपणा करते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव भले ही बाह्य से मुनि हो तो भी उनके प्रति वात्सल्य, भक्ति के शुभराग का निषेध है, क्योंकि उनके प्रति वर्तनेवाला राग धर्म का निमित्त नहीं है।

(२) यहाँ सभी प्रकार के राग का निषेध है। रागरूप राग नहीं होना चाहिए। अपने स्वभाव की स्थिरता को बढ़ानेवाला किञ्चित् राग हो तो वह चल सकता है।

प्रश्न : फिर शुद्धात्मा का राग करने में कोई कष्ट तो नहीं है ?

उत्तर : भाई! राग तो करने जैसा है ही नहीं। प्रशस्त वा अप्रशस्त किसी भी प्रकार का राग करने जैसा नहीं है। यह तो प्रथम दृष्टि है।

पूर्णरूप से स्वरूप स्थिरता न हो सके और राग हो तो किस प्रकार का हो और किसके प्रति हो - उसकी यहाँ बात चल रही है।

धर्मी जीव मानता है कि मेरे शुभराग से मेरी शुद्धता नहीं ठहरती अथवा मेरे राग के कारण मेरी और अन्य जीव (धर्मात्मा) की शुद्ध परिणति नहीं टिकती। यदि मेरे शुभराग से मेरी और अन्य जीव की शुद्ध परिणति टिके तो शुभभाव शुद्धपरिणति के रक्षण में निमित्त कहलायें और निमित्त के अभाव में शुद्धता करने का निषेध सिद्ध हो।

बहुत से जीव पुण्य से धर्म मानते हैं। वे वस्तुस्थिति नहीं समझते। यहाँ कुदेवादि के प्रति वात्सल्यभाव का निषेध है। स्वयं को थोड़ी पवित्रता प्रगटी है और थोड़ा राग है। आप स्वयं तो परिपूर्ण होने का ही इच्छुक है। राग रहे तो शुद्धात्मा की ओर लक्ष्य नहीं जाये; क्योंकि शुभराग के कारण शुद्धात्मपरिणति का रक्षण नहीं हो सकता।

शुभराग शुद्धात्मपरिणति का रक्षण नहीं करता; किन्तु शुद्धात्मपरिणति स्वयं में और

पर में होने पर, स्वयं और पर के प्रति कैसा शुभराग होता है, वह यहाँ बताया है। स्वयं और पर की शुद्धता में निमित्त हो - ऐसा शुभराग होना चाहिए।

वस्तुस्वरूप को समझे बिना केवल जय बोलना कार्यकारी नहीं है, अतः अनेकान्तस्वरूप को अच्छी तरह समझना चाहिए। शुभोपयोगी को राग की भूमिका के समय भी शुद्धात्मा के प्रति राग होता है और अन्य के प्रति राग नहीं होता - इसमें भी अनेकान्तपना ही है।

अपनी शुद्ध परिणति में निमित्त के सिवा ज्ञानी को अन्य प्रकार का शुभराग नहीं होता। इस रीति से धर्मी के शुभराग की मर्यादा को बताया है।

आत्मा की अवस्था में विकार होत है। विकार से रहित आत्मा का स्वरूप शुद्ध आनन्दमय है - ऐसी प्रतीति, ज्ञान और रमणता ही मोक्षमार्ग है। इस मोक्षमार्ग में चलते हुए मुनि को वीतरागता न होने पर किस प्रकार का शुभराग होता है, उसकी मर्यादा का यहाँ वर्णन किया है।

सच्चे मुनिराज के शरीर में रोग हुआ हो अथवा उन्हें थकान लगी हो तो शुभोपयोगी जीव को उनकी वैयावृत्ति का विकल्प आता है; किन्तु वह विकल्प बन्ध का कारण है, धर्म का कारण नहीं।

यहाँ कोई पूछता है कि व्यवहार धर्म तो सच्चा है न? व्यवहार सच्चा नहीं होता। शुभभाव से पुण्यप्रकृति बँधती है और शुभभाव स्वयं की शान्ति को रोकते हैं। उससे घातिकर्मस्वरूप पाप प्रकृतियाँ भी बँधती हैं। पुण्य-पापरहित ज्ञातास्वरूप का भान करके जो अरागी चारित्र दशा प्रगट करें उसे शुद्ध जैनी कहते हैं।

पुण्य से धर्म माने वह जैन नहीं है - वह तो अज्ञानी है। शुभराग से ज्ञानावरणादि प्रकृतियाँ बँधती हैं - ऐसा मानकर शुभ को जहर माने और स्वरूपस्थिरता नहीं हो सके, तब उसे सच्चे श्रद्धा-ज्ञानवाले जैनियों के प्रति वैयावृत्ति का शुभराग आता है, इस शुभराग में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है। स्व-पर शुद्धात्मा की परिणति में निमित्त हो यही अपेक्षा है। इस प्रकार के शुभराग का यहाँ निषेध नहीं है।

वस्तुस्वरूप के विपरीत मान्यतावाले जीवों के प्रति शुभराग का निषेध है। जो पुण्य

से धर्म माने, शरीर की क्रिया से धर्म माने, वह मिथ्यादृष्टि है। उसे वस्तु के स्वरूप की खबर नहीं है। शुभाशुभ भाव स्व हिंसा है; क्योंकि यह अपने ज्ञाता-दृष्टास्वभाव से विपरीत भाव है। चिदानन्द आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान सहित वीतरागी दशा ही अहिंसा है।

इससे जो विपरीत मानता है, उन जीवों के प्रति शुभोपयोगी को अनुकम्पा का भाव नहीं आता। स्व-पर शुद्धात्मा की परिणति में शुभभाव निमित्त हो, यहाँ यही अपेक्षा है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई अपेक्षा नहीं है। मान-पूजादि की पुष्टि के लिए शुभराग का निषेध है, क्योंकि इस रीति से पर अथवा स्वयं के शुद्धात्मपरिणति की रक्षा नहीं होती।

अब, प्रवृत्ति के काल का विभाग बतलाते हैं (अर्थात् यह बतलाते हैं कि - शुभोपयोगी श्रमण को किस समय प्रवृत्ति करना योग्य है और किस समय नहीं) :-

रोगेण वा छुआए तण्हाए वा समेण वा रूढं ।

दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए ॥ २५२ ॥

अर्थात् रोग से, क्षुधा से, तृषा से अथवा श्रम से आक्रान्त श्रमण को देखकर साधु अपनी शक्ति के अनुसार वैयावृत्यादि करो।

आत्मा शरीरादि परपदार्थों से भिन्न है। पुण्य-पाप उसका स्वरूप नहीं है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है - ऐसे भानपूर्वक ही स्वरूप की लीनता बढ़ती है। यदि मुनिराज अपने स्वरूप से च्युत हो जाए, उन पर कोई उपसर्ग आ जावे अथवा शरीर में रोग, क्षुधा, तृषा अथवा थकान हो रही हो तो अन्य शुभोपयोगी मुनिराज उनको शक्ति अनुसार सेवा करते हैं।

आत्मा को रोग, क्षुधा, तृषा, थकान आदि नहीं होती, ये सब तो शरीर की अवस्थाएँ हैं। मुनिराज स्वयं शुद्धता से च्युत नहीं होते, किन्तु यदि अपनी कमजोरीवश वे शुद्धता से च्युत हो जावे तो क्षुधा आदि उपसर्ग उसमें निमित्त कहलाते हैं।

शुभोपयोगी मुनिराज के शुभभाव से सच्चे मुनिराज की सेवा नहीं होती तथा मुनिराज पर उपसर्ग आया, इसलिए अन्य मुनिराज को शुभोपयोग हुआ — ऐसा भी नहीं है।

उपसर्ग युक्त मुनिराज के उपसर्ग काल में सहज भाव से अन्य मुनिराज को शुभोपयोग होता है। उस समय अन्य मुनिराज को वैयावृत्ती आदि का भाव होता है।

यहाँ पर के कारण शुभभाव हुआ - ऐसा नहीं समझना चाहिए। चरणानुयोग में निमित्त प्रधान कथन होता है। जब मुनिराज अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में स्थिर रहते हैं, उस समय विकल्पवाली दशा में शुभराग होता है और अन्य मुनिराज की सेवा सहजरूप से होती है।

बाह्य क्रिया जो होनी हो वह हो, वह आत्मा के आधीन नहीं है। उसके अतिरिक्त सम्पूर्ण काल शुद्धता की परिपूर्णता के लिए निवृत्ति का काल है।

शरीर, मन, वाणी जड़ हैं। इनसे आत्मा को लाभ-हानि नहीं होती। विकार अशुद्धता है, आत्मा त्रिकाल शुद्ध है। आत्मा के भानपूर्वक जो अन्तर में लीनता करें, वह मुनि है। ज्ञान और आनन्द में ठहरना ही मुनिराज का यथार्थ अनुष्ठान है। पुण्य-पापरहित वीतरागी दशारूप निज आचरण ही मुक्ति का कारण है। इसके बिना मुक्ति नहीं हो सकती। आभ्यन्तर वीतरागी दशा होते ही बाह्य में नग्न दिगम्बर दशा सहज होती है। नग्न दिगम्बर दशा करना या लाना नहीं है।

मुनिराज को वस्त्रादि ग्रहण करने का राग नहीं होता। राग के नष्ट होने पर वस्त्रादि का संयोग भी नहीं दिखाई देता। संयोगावस्था में मुनिपना कदापि नहीं हो सकता। वस्त्र-पात्र रखकर जो मुनिपना मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है; जैन नहीं है।

वस्त्रसहित अवस्था में मुक्ति न मानकर गृहस्थदशा मानें तो सम्यक्त्व हो सकता है, किन्तु वस्त्रसहित मुनिपना मानें तो मिथ्यादृष्टि है। अन्तर में वीतरागदशा बढ़ते हुए बाह्य में नग्न दिगम्बरदशा होती है - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। सनातन वस्तुस्वरूप ऐसा ही है।

कोई जीव बाह्य में नग्न हो जाए और अन्तर में शरीर की क्रिया से धर्म माने, निमित्त अथवा पुण्य से धर्म माने तो वह मिथ्यादृष्टि है; मुनि नहीं है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो पहले होना चाहिए। सम्यक्त्वपूर्वक आभ्यन्तर और बाह्य में जिन्हें निर्ग्रन्थदशा वर्तती है, वे ही सेच मुनिराज हैं।

निर्विकारी आत्मा और शुभभावरूप विकार इन दोनों के एकत्वरूप मिथ्यात्व की गाँठ को तोड़कर अभेद आत्मा की श्रद्धा होना ही सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन पूर्वक आत्मा की पर्याय में अस्थिरतारूप विकार की गाँठ टूटकर आत्मा की रमणता होना ही सम्यक्चारित्र है।

मिथ्यात्व सबसे बड़ी गाँठ है। शुद्ध स्वभाव के श्रद्धा ज्ञान होने पर मिथ्यात्व गाँठ का नाश होता है। अव्रत और व्रतभाव दोनों ही विकार हैं। विकाररूप गाँठ का नाश करके जो अन्तर रमणता करे, वह साधुपद है।

भावलिङ्गी मुनिराज के शरीर में रोग आदि हो जावें और उसे देखकर अन्य भावलिङ्गी मुनिराज शुभोपयोग में होवें तो उस समय उपसर्गयुक्त मुनिराज की वे सेवा करते हैं। मिथ्यादृष्टि मुनिराज की सेवा नहीं करते। तथा अन्य समय अपने शुद्धात्मा की आराधना में ही व्यतीत करते हैं।

इस प्रकार प्रवृत्ति के काल का विभाग दर्शाया है।

अब, लौकिकजनों के साथ बातचीत करने की प्रवृत्ति उसके निमित्त के विभाग सहित बतलाते हैं (अर्थात् शुभोपयोगी श्रमण को लौकिकजनों के साथ बातचीत की प्रवृत्ति किस निमित्त से करनायोग्य है और किस निमित्त से नहीं, वह कहते हैं) -

वेज्जावच्चणित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं।

लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा॥ २५३॥

अर्थात् और रोगी, गुरु (पूज्य, बड़े), बाल तथा वृद्ध श्रमणों की सेवा के निमित्त से, शुभोपयोगयुक्त लौकिकजनों के साथ की बातचीत निन्दित नहीं है।

मुनिराज आत्मज्ञान सहित स्वरूप में झूलनेवाले हैं। जिस प्रकार पानी पर थाप देते ही फव्वारा उछलता है, उसी प्रकार पुण्य-पापरहित आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और एकाग्रता करने पर शुद्धता का फव्वारा निकलता है।

शुद्धात्मपरिणति में लीन मुनिराज को शुभोपयोग होने पर रोगी, गुरु, बाल, वृद्ध मुनिराज की सेवा के निमित्त से लौकिकजनों के साथ बातचीत करने का निषेध नहीं है।

सेवा का भाव आने पर मुनिराज का रोग दूर होगा - ऐसा नहीं है, किन्तु सेवाभाव उत्पन्न होने पर लौकिकजनों के साथ बातचीत करें, वैद्य को रोगादि के बारे में पूछें ? रोग

के नष्ट होने में कितना समय लगेगा ? कौन सा रोग है ? इत्यादि बातों को पूछने का निषेध नहीं है। इससे आगे बढ़कर यदि वे संसारी कार्यों की बातचीत करें तो उसका अवश्य निषेध है। जैसे - हाल-चाल कैसे हैं ? किसका क्या चल रहा है ? लड़की की शादी हुई या नहीं ? आहार-पानी कैसा है ? इत्यादि प्रकार की बातचीत का निषेध है।

यहाँ मुनिराज को रोगादि होने पर सेवा करने का विकल्प आया, इसलिए वे पर का कुछ कर सकते हैं - ऐसा नहीं समझना चाहिए। कोई भी जीव पर का कुछ नहीं कर सकता। यहाँ तो केवल शुभभाव होने पर कैसी बातचीत होती है - यह बताया है।

कोई कहता है कि हमें पर का कार्य करना है, बस आसक्ति नहीं रखेंगे, अनासक्ति भाव से करेंगे; पर भाई! इससे विपरीत 'मैं पर का कार्य करता हूँ' - ऐसा महान् आसक्ति भाव उसके अन्तर में विद्यमान है। ऐसा जीव अज्ञानी है, मूढ़ है। इस प्रकार की मूढ़ता मुनिराज को नहीं होती। प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र परिणामन कर रहा है। इस प्रकार द्रव्यानुयोग का सिद्धान्त रखकर चरणानुयोग की बात की है।

यहाँ कोई कहता है कि मुनिराज के रोग कैसे हो सकता है ? वे कोई चमत्कार करें और रोग को नष्ट करें।

(१) मुनिराज के शरीर में रोग आवे, यह तो पूर्व के असाता कर्म का संयोग है। उसका वर्तमान पुरुषार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है; अतः पवित्रता हो तो पुण्य होना ही चाहिए - ऐसा नियम नहीं है। पवित्रता और पुण्य दोनों भिन्न-भिन्न वस्तु हैं।

सुकौशल मुनिराज को सिंहनी ने खाया, सनत्कुमार मुनिराज को ७०० वर्षों तक कोढ़ रहा; किन्तु रोग अथवा उपसर्ग नुकसान नहीं करते हैं। वादिराज मुनिराज के रोग मिटकर शरीर की सुन्दरता प्राप्त हुई, वह आत्मगुणों के कारण नहीं, अपितु पुण्ययोग के कारण हुई है। मुनि हो तो उन्हें रोग नहीं हो - ऐसा नहीं है।

(२) चमत्कार दिखाकर रोग को मिटा देनेवाली बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि शरीरादि की क्रिया को आत्मा त्रिकाल में कभी भी नहीं कर सकता। मुनिराज को इसका पक्का श्रद्धान वर्तता है। मिथ्यादृष्टि चाहे तो भी शरीर की अवस्था में फेरफार नहीं

कर सकता। मुनिराज को भी फेरफार का विकल्प नहीं उठता, किन्तु स्वयं की कमजोरी के कारण जो राग वर्तता है, वहाँ लक्ष्य जाता है। सनत्कुमार मुनिराज को शक्ति होने पर भी उन्होंने अपने शरीर पर उसका प्रयोग नहीं किया, क्योंकि मुनिराज जानते हैं कि रोग के रहने का जितना काल है, उसमें कोई फेरफार नहीं कर सकता है। उसे कोई मिटा नहीं सकता।

(३) अहिंसा - मुनिराज को अहिंसा प्रगटी हो तो सिंहादि उनके समक्ष अपना वैरभाव भूल जाते हैं, यही अहिंसा का स्वरूप है। अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में अरागी परिणति ही अहिंसा है। कोई हिंसा का भाव न करे तो मुनिराज की अहिंसा टिके - ऐसी दूसरे के आश्रित मुनिराज की अहिंसा नहीं है। अहिंसा का बाह्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। तीर्थङ्कर के समवसरण में शेर-हिरण, बिल्ली-चूहा अपनी वैरवृत्ति को अपनी-अपनी योग्यता से विस्मरण करते हैं; तीर्थङ्कर के कारण नहीं। तीर्थङ्कर पुण्य प्रकृति उसमें निमित्त मात्र है।

वस्तुस्वरूप के यथार्थ भानपूर्वक ही मुनिपना होता है। वस्तुस्वरूप के भान बिना २८ मूलगुणों का पालन किया, नवमें ग्रैवेयक तक गये; किन्तु शुद्धता का अनादर और राग का आदर होने से आज तक भवभ्रमण नहीं मिटा है।

सच्चे मुनिराज को वस्तुस्वरूप का भान है, अन्तरदशा बढ़ी है, बाह्य में नग्न दिगम्बरदशा वर्त रही है। वे मुनिराज दिन में एक बार आहार ग्रहण करते हैं। यदि कोई रोग होंवे तो श्रावक आहार के साथ दवा आदि देवें तो ग्रहण करते हैं, स्वयं अलग से ग्रहण नहीं करते। रोग, क्षुधा-तृषा को ज्ञेयरूप जानते हैं। आत्मा को निरन्तर ध्याते हैं।

स्वयं की देह छूटने का काल निकट आने पर सभी मुनिराज को उसका भावभासन हो जावें - ऐसा नहीं है। जिस काल में, जिस क्षेत्र में, जिन संयोगों में देह छूटना हो, उस समय छूटती है, फिर भी विकल्प आने पर कदाचित् उस सम्बन्ध में पूछना हो तो पूछते हैं।

उक्त समस्त अवस्था अर्थात् विकल्पादि में, भाषा के परिणमन में, आहार के साथ दवा आदि के ग्रहण में मुनिराज ज्ञाता ही रहते हैं।

इस प्रकार भाव भावलिङ्गी मुनियों की सेवा के वक्त शुभोपयोगी मुनिराज को होता है; किन्तु संसार के अर्थ की पोषक बातचीत वे नहीं करते।

अब, इस प्रकार से कहे गये शुभोपयोग का गौण-मुख्य विभाग बतलाते हैं ; (अर्थात् यह बतलाते हैं कि किसके शुभोपयोग गौण होता है और किसके मुख्य होता है)-

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं ।

चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं ॥ २५४ ॥

अर्थात् यह प्रशस्तभूत चर्या श्रमणों के (गौण) होती है और गृहस्थों के तो मुख्य होती है, ऐसा (शास्त्रों में) कहा है; उसी से (परम्परा से) गृहस्थ परम सौख्य को प्राप्त होता है।

शुभोपयोग अर्थात् पुण्य परिणाम। आत्मा में दया-दानादि के परिणाम होते हैं, वे पुण्य परिणाम हैं। ज्ञानानन्द स्वभाव में रमणता की दृष्टि ही धर्म है। स्वभाव में जब तक स्थिर नहीं हों, तब तक गृहस्थ और मुनिराज को शुभभाव होते हैं। ऐसे समय में किसके गौण शुभोपयोग और किसके मुख्य शुभोपयोग होता है। वह बताते हैं -

अन्य मुनिराज की वैयावृत्ति, जिनेन्द्रदेव की भक्ति आदि शुभचर्या का भाव मुनिराज को गौणरूप से वर्तता है। आत्मा के शुद्धस्वभाव के भानपूर्वक उन्हें अन्तरलीनता बढ़ गई है, शरीर के प्रति वर्तनेवाला राग कम हुआ है। सेवा आदि का शुभभाव होता है, किन्तु वह अत्यन्त अल्प है अर्थात् गौण है। मुख्यता तो शुद्धोपयोग की है।

गृहस्थ को भी पुण्य-पाप की रुचि नहीं है। ध्येय तो एक शुद्ध आत्मा के प्रति ही है; परन्तु गृहस्थदशा में बुद्धिपूर्वक राग का अभाव करके शुद्धोपयोग बहुत कम होता है और दया-दान-व्रत-पूजा आदि का शुभोपयोग मुख्यपने होता है - ऐसा तीर्थङ्कर परमात्मा की दिव्यध्वनि में आया है।

गृहस्थ की दृष्टि शुद्ध चैतन्य के ऊपर है। शुभराग होने पर भी उसकी दृष्टि शुभराग पर नहीं होती; अतः शुद्धता के लक्ष्य से राग का अभाव कर परमात्मदशा को प्राप्त किया जाता है।

जिस प्रकार शक्कर में मिठास भरी है; किन्तु पानी में डालने पर वह मिठास दिखाई नहीं देती, उसी प्रकार आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है; किन्तु पुण्य-पाप के भावों को साथ जोड़ने पर उसका ज्ञानानन्दपना दिखाई नहीं देता।

जिसकी प्रतीति करने पर क्रम-क्रम से वीतरागता बढ़े और स्वभाव में परिपूर्ण ठहरने पर पूर्ण आनन्द केवलदशा की प्राप्ति हो - ऐसा पूर्ण आनन्द और ज्ञानस्वरूप अपना स्वभाव है।

इन्द्रियों को जानने या अन्य ज्ञेयों के कारण मेरा ज्ञान नहीं है। मैं तो स्वयं के कारण परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप हूँ। पुण्य-पाप तो आकुलता है; मैं आकुलता स्वरूप नहीं हूँ - ऐसे शुद्धस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान से ही सम्यग्दर्शन होता है। परम अनाकुलदशा की प्रतीति ही सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् पुण्य-पाप और निमित्त का संसर्ग हो तो पूर्ण अनाकुल दशा प्राप्त नहीं होती; किन्तु स्वभाव के संसर्ग से पूर्ण दशा प्राप्त होती है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है। शरीरादि पर हैं। पुण्य-पाप के भाव विकार हैं। आत्मा उससे रहित है - ऐसी शुद्धात्मा के अनुरागसहित शुभोपयोग की यहाँ बात है। जो पुण्य से अथवा शरीर की क्रिया से धर्म मानता हो, उसकी यहाब ता नहीं है।

जिसे आत्मभान हुआ है। स्वरूपलीनता बढ़ने से जो ६-७ वें गुणस्थान में झूल रहे हैं। अधिक राग से निवृत्त हुए हैं। उन्हें चारित्र की कमजोरीवश किञ्चित् राग वर्त रहा होने के कारण गौण शुभोपयोग है; क्योंकि उन्हें शुद्धात्मपरिणति से विरुद्ध राग के साथ सम्बन्धवाला शुभोपयोग है। शुभोपयोग के समय अन्य मुनि की सेवा अथवा वात्सल्य भाव आताहै, उस समय अन्तर में शुद्धात्मा के प्रति भी प्रेम वर्तता है; किन्तु यहाँ शुद्धात्मानुभव गौण है।

गृहस्थ जीवों को संसारदशा में अत्यधिक राग वर्तता है। वे सर्व संग से रहित नहीं हुए हैं, तथापि उन्हें आत्मा का किञ्चित् भान वर्तता है। पुण्य-पाप आत्मा को लाभ नहीं करते।

आत्मस्वभाव शुद्ध है। निजात्मा का श्रद्धान-ज्ञान उन्हें वर्तता है; किन्तु स्वरूप

स्थिरता के द्योतक चारित्र्यदशा में स्थिर करनेवाले उग्र शुद्धात्मप्रकाश का सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के अभाव है। दर्शन अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि को शुद्धात्मा का प्रकाश वर्त रहा है, किन्तु वह मुख्य शुद्धोपयोग नहीं है।

गृहस्थ तथा मुनिराज - दोनों को ही शुद्धात्मा की रुचि तो समान ही है; किन्तु अन्तर यह है कि मुनिराज के राग घट गया है तथा श्रावक को अभी भी दया-दान प्रभावना आदि का राग वर्तता है। आत्मा का भान होने पर भी मुनिराज के समान स्वरूप लीनता का अभाव है; अतः शुभभाव मुख्य है। मुनिराज को केवलज्ञान प्रगट करनेवाली तात्कालिक दशा वर्तती है, और गृहस्थ को केवलज्ञान प्रगट करनेवाली तात्कालिक दशा नहीं है।

जिस प्रकार स्फटिक में सूर्य का तेज पड़ते ही वह अधिक प्रज्वलित होता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को शुभराग के निमित्त से आत्मा में लीनता होती है और उसका शुभोपयोग क्रमशः मोक्षदशा का कारण होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव को भान है कि मेरे आत्मा में केवलज्ञान दशा को प्राप्त करने की ताकत है। शुभराग मेरा स्वरूप नहीं है। उसे राग का निषेध है, राग की रुचि नहीं है, केवल शुद्धस्वभाव की ही रुचि है। चैतन्य स्वभाव में एकाग्र केवलज्ञान प्राप्त करने की भावना है। पुरुषार्थपूर्वक अशुभराग टला है और शुभराग टालकर वह अन्तर में स्थिरता करना चाहता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रियापूर्वक वीतरागदशा को क्रमशः प्राप्त करता है, अतः शुभराग को परम्परा से मोक्ष का कारण कहा है।

सूर्य का निमित्त होने पर भी जंगल में उपस्थित सभी लकड़ियाँ नहीं जलती; किन्तु किसी लकड़ी में योग्यता हो तो वह जल उठती है, उसी प्रकार जिस मिथ्यादृष्टि को शुद्धात्मा का प्रेम नहीं है तथा जो पुण्य में धर्म मानता है, उसका शुभराग मोक्ष का कारण नहीं होता।

इससे विपरीत शुद्धात्मा के प्रति प्रेम रखनेवाले, चैतन्य स्वभाव को जाननेवाले सम्यग्दृष्टि के शुभराग का अभाव है। वह जीव पुरुषार्थ पूर्वक केवलज्ञान को अवश्य प्राप्त करेगा, तथापि उसके राग को निमित्त कहा है।

राग करते-करते मोक्ष की प्राप्ति होगी - ऐसा नहीं है, अपितु राग का अभाव करने

पर मोक्ष की प्राप्ति होगी। यहाँ तो राग पर उपचारमात्र किया है। शुद्धात्मा उपादान कारण है। अशुभराग को टालकर शुभराग में वर्तन होता है, अतः शुभराग को निमित्त अथवा संयोग कहा जाता है। राग का संयोग = राग का निमित्त। चरणानुयोग में निमित्त की अपेक्षा कथन है; क्योंकि गृहस्थ को राग होने पर भी उसकी दृष्टि राग पर नहीं है।

गृहस्थ की दृष्टि केवल अखण्ड ज्ञायकस्वभाव पर है। उसमें क्रम-क्रम से पुरुषार्थ लाकर वे मुनिदशा प्रगट करते हैं। जिसने मुनिदशा प्रगट की है, उसे शुभभाव गौण तथा शुद्धोपयोग मुख्य होकर विशेष स्थिरता होती है।

वीतरागतापूर्वक प्रगट होनेवाले केवलज्ञान में राग का सर्वथा अभाव होता है, वहाँ मुख्य-गौणता नहीं होती। राग का सर्वथा नाश होने पर ही मोक्षदशा की प्राप्ति होती है। इस प्रकार शुभोपयोग पर उपचार करके उसे मोक्ष का परम्परा कारण कहा है।

प्रश्न - क्या यह राग को स्पष्ट करनेवाली गाथा है ?

उत्तर - अरे भाई! यह तो राग का ज्ञान कराकर राग के अभावपूर्वक केवलज्ञान प्राप्त करानेवाली गाथा है। राग का होना तो आत्मा का दोष है, किन्तु स्वभाव के प्रति प्रेम होने से शुभभाव घटकर अरागी भाव प्रगट होते हैं, अतः राग को निमित्त कारण कहकर उसका वर्णन किया है। शुद्ध पर्याय आंशिक रूप से प्रगट हुई है, वह बढ़कर निश्चितरूप से केवलज्ञान प्राप्त करेगी, अतः राग को निमित्त कारण कहा है।

जो जीव पुण्य से धर्म मानते हैं, वे मिट्टी के ढेले समान हैं, उन्हें शुद्धात्मा की प्रतीति नहीं है। जिसे पुण्य की रुचि है, उसे जड़ की रुचि है; आत्मा की रुचि नहीं है - ऐसे जीवों को कदापि मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। उनके उपादान में अभी परिपक्वता नहीं आयी है; अतः शुभरागरूप निमित्त का आरोप भी किया जाता है।

प्रश्न - सम्यक्त्वी शुभराग को गौण करें तो ?

समाधान - धर्मी जीव को श्रद्धा में अखण्ड शुद्धस्वभाव ही मुख्य है तथा चारित्र में मुख्य-गौणता वर्तती है। उसका स्पष्टीकरण -

(१) शरीर, मन, वाणी आदि पदार्थ पर हैं। जीव में होनेवाले शुभाशुभभाव भी

आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं है। आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वरूप है - ऐसा श्रद्धान-ज्ञान सम्यक्त्वी मुनि को होता है। श्रद्धा तो अखण्ड स्वभाव को ही ग्रहण करती है, अतः दोनों को श्रद्धा अपेक्षा केवलज्ञान स्वभाव ही मुख्य वर्तता है, उन्हें प्रत्येक समय शुद्ध स्वभाव की रुचि ही अधिक होती है।

(२) यहाँ, मुख्य-गौण के जो प्रकार कहने में आते हैं, वे चारित्र की अपेक्षा हैं। मुनिराज को श्रद्धा-ज्ञान होने के उपरान्त अधिक लीनता बढ़ी है। अखण्ड आत्मा ही मुख्य हो रहा है और पाँच महाव्रतों के परिणामों की गौणता है, उन्हें शुद्धता मुख्य और शुभभाव गौण है।

श्रावक को आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान है, किन्तु अरागी परिणति नहीं है। शुभ मुख्य है और शुद्धता गौण है। इस प्रकार चारित्र पर्याय की अपेक्षा से मुख्य-गौणता कही है।

(३) गृहस्थ को स्वभाव का भान नहीं है। वह क्रम-क्रम से पुरुषार्थ पूर्वक मुनिपना प्रगट करता है। ऐसे समय वह शुभ को गौण और शुद्ध को मुख्य करता है। पश्चात् वह विशेष पुरुषार्थपूर्वक शुभ को गौणरूप से भी टालकर परिपूर्ण वीतरागदशा प्राप्त करके केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करता है। वहाँ राग का अभाव है, अतः गौणता-मुख्यता नहीं है। इस प्रकार मुख्य-गौण की स्पष्टता की है।

जो धर्मी गृहस्थ अखण्ड-अभेद द्रव्य की मुख्यता को छोड़कर पुण्य-पाप की अधिकता में श्रद्धा करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। धर्मी को शुभभाव की मुख्यता नहीं है। उसे आत्मा का अनुभव अनेक बार होता है और त्रिकाल चैतन्य सत्ता शुद्ध वर्तती है। चैतन्य सत्ता का अन्तर परिणमन उसे कभी दूर नहीं हुआ है। ऐसे जीव विशेष पुरुषार्थ को जगाकर मुनिपना अङ्गीकार कर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

यहाँ राग में मोक्ष के कारण का उपचार किया है, किन्तु अरे भाई! जब मोक्षमार्ग से मुक्ति नहीं है तो राग के कारण कैसे मुक्ति हो ? क्योंकि मोक्षमार्ग भी पर्याय है। मुक्ति तो अखण्ड द्रव्य के आश्रय से प्राप्त होती है। चरणानुयोग में निमित्ताधीन कथन होता है।

मूल गाथा में **एसा प्रशस्तभूता** शब्द है। यह प्रशस्तभूत चर्या किसके होती है ? दया-दान व्रतादि से धर्म माननेवाले जीवों के शुभराग की बात यहाँ नहीं है। मैं रागरहित

निर्मल ज्ञानस्वरूप अखण्ड तत्त्व हूँ - ऐसी दृष्टिपूर्वक जो राग वर्तता है, उसे प्रशस्त शुभराग कहते हैं। यहाँ धर्मदृष्टि की बात है। धर्म के कारण की बात है।

(१) धर्म का कारण शुभभाव नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म आत्मा की अविकारी अवस्था है और शुभभाव विकार है। विकार कारण और अविकारी कार्य - ऐसा नहीं हो सकता; अतः शुभभाव धर्म का कारण नहीं है।

(२) पर्याय में से धर्मपर्याय प्रगट नहीं होती; क्योंकि पर्याय में से पर्याय प्रगट नहीं हो सकती है, अतः शुभभाव धर्म का कारण नहीं है।

(३) द्रव्य अखण्ड है, उसमें ज्ञान-दर्शन-सुख भरा हुआ है, उसके आधार से धर्म प्रगट होता है। जिस प्रकार कुण्डल की अवस्था सुवर्णकार या हथोड़े से नहीं होती तथा कुण्डलरूप पर्याय पूर्व की अवस्था में से नहीं आती है, अपितु प्रत्येक पर्याय में सुवर्ण स्वयं ध्रुवरूप रहता है और उसमें से नवीन-नवीन पर्याय उत्पन्न होती है। धर्म पर्याय निमित्त, परद्रव्य, विकल्प अथवा पूर्वज्ञान के उघाड़ के आश्रय से प्रगट नहीं होती है, न टिकती और न वृद्धि को प्राप्त होती है। एक आत्मा के आधार से ही धर्मपर्याय टिकती है - ऐसे शुद्धात्मा के अनुरागपूर्वक शुभचर्या की यहाँ बात है। 'प्रशस्तभूता' शब्द का यही अर्थ है।

प्रत्येक द्रव्य के उत्पाद, व्यय, ध्रुव यह तीन अंश हैं। किसी भी पदार्थ की पूर्वपर्याय नाश होती है और नवीन पर्याय उत्पन्न होती है तथा वस्तु सदैव ध्रुवरूप रहती है।

आत्मा में सम्यग्दर्शन का उत्पाद, मिथ्यादर्शन का व्यय और श्रद्धा गुण ध्रुवरूप में रहता है। अनन्त आत्मा, अनन्तानन्त परमाणु और अन्य चार अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छह द्रव्यों को तीर्थङ्कर देव ने प्रत्यक्ष देखा है।

साथ ही प्रत्येक द्रव्य में एक ही समय में तीनों अंशों को भी प्रत्यक्ष देखा है। जो वस्तु है उसका कोई कर्ता नहीं हो सकता और कर्ता हो तो वस्तु नित्य नहीं रहती। जो है उसे कौन करेगा? अतः वस्तु नित्य है।

यदि कोई अवस्थागत परिवर्तन को स्वीकार ना करें तो विकार टलकर अविकारी

अवस्था कैसे प्रगट हो ? अतः वस्तु नित्य रहते हुए परिणमन करती है अथवा एक समय में उत्पाद, व्यय, ध्रुव इन तीनों अंशों से युक्त होती है। इस प्रकार आत्मा के उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वरूप को स्पष्ट किया है।

धर्म उत्पाद तो ध्रुव आत्मा के आधार से ही है। द्रव्य अर्थात् वस्तु चैतन्य आनन्दकन्द है। उसके आधार से सम्यग्दर्शन होता है। द्रव्यदृष्टि सो सम्यग्दृष्टि। श्रद्धा अपेक्षा से तो मुनिराज तथा सम्यग्दृष्टि को शुद्धात्मा का ही आश्रय है, क्योंकि उसके आश्रय से ही धर्म होता है, टिकता है और वृद्धि को प्राप्त होता है।

जिस प्रकार लेंडीपीपर में व्याप्त ६४ पुटी तीखापन पत्थर पर घिसने या अन्य निमित्त से प्रगट नहीं हुआ है। अपूर्ण तीखेपन के आधार से भी प्रगट नहीं हुआ है, भले ही अपूर्ण तीखेपन का नाश होकर ६४ पुटी तीखापन प्रगट होता है। वास्तव में ६४ पुटी तीखापन लेंडीपीपर में स्वतः व्याप्त है। वह तीखापन उसके स्वयं के अन्तर से प्रगट होता है, उसी प्रकार आत्मा शुद्ध चिदानन्द मूर्ति है, उसमें केवलज्ञान और सिद्ध पद भरा हुआ है, उसमें से ही धर्म प्रगट होता है। निमित्त, शुभराग या पूर्व के मिथ्यात्व पर्याय में से सम्यग्दर्शन नहीं होता।

जिस प्रकार सुवर्ण और पत्थर की खान एक-दूसरे के पास हो, किन्तु सुवर्ण की खान खोदने पर सुवर्ण मिलता है, पत्थर की खान खोदने पर सुवर्ण नहीं मिलता। उसी प्रकार चैतन्य धातुरूप आत्मा सुख की खान है। उसके श्रद्धा, ज्ञान और एकाग्रता से ही धर्म प्रगट होता है। इस अपेक्षा मुनि और सम्यग्दृष्टि को धर्म शुद्धात्मा के आश्रय से होता है।

यहाँ जो श्रावक और मुनिराज कहा है वह आत्मज्ञानसहित श्रावक और मुनिराज की बात है। मुनिराज को चारित्र की अपेक्षा अपनी भूमिका के योग्य स्वरूपलीनता है।

सिद्धसमान सदा पद मेरो अर्थात् वे अपना पद सिद्धसमान समझते हैं। अन्तर एकाग्रता से ही आत्मा की शान्ति का फव्वारा निकलता है - ऐसी वीतरागीस्वरूप रमणता उनके होती है।

मुनिराज को वैयावृत्ति आदि का शुभभाव भी अनेक बार आता है, किन्तु उन्हें

शुभोपयोग गौण वर्तता है। गृहस्थ को आत्मा का भान है। आत्मा चिदानन्दमय है। आत्मा में से ही धर्म और सुख प्रगट होता है; किन्तु उसे मुनिराज जितनी अन्तरस्वरूप रमणता विशेष प्रगट नहीं है। वह शुद्धता में नहीं पहुँचा है, इस अपेक्षा उसे अशुभ से बचने के लिए शुभोपयोग मुख्य है।

मुनिराज अथवा गृहस्थ को अशुभभाव नहीं आते - ऐसा नहीं है, किन्तु शुभभाव से रचित होने के कारण उनके अशुभभाव व्यक्त नहीं होते।

जिस प्रकार पर्वत पर चढ़नेवाला व्यक्ति थोड़ा विश्राम लेता है, किन्तु ध्येय / लक्ष्य तो पर्व पर चढ़ने का ही होता है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को शुद्धता का ध्येय है, किन्तु मुनिराज जितना उग्र पुरुषार्थ नहीं है, अतः वे अशुभ से बचकर शुभोपयोग में वर्तन करते हैं। वहाँ उन्हें शुभोपयोग मुख्य होता है। दया-दान-व्रत पूजा आदि का भाव मुख्य नहीं है।

सम्यग्दृष्टि को अशुभ से बचने के लिए शुभोपयोग का पुरुषार्थ तो है, किन्तु शुद्धता का मन्द पुरुषार्थ है। शुद्धात्मा के मन्द आलम्बन से अशुभ परिणति पलटकर शुभ हो जाती है और शुद्धात्मा के उग्र आलम्बन से शुभ का परिणमन शुद्ध पर्याय में होता है। वस्तुस्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है। धर्मी जीव को श्रद्धा अपेक्षा से तो शुद्ध आत्मा का ही पूर्ण अवलम्बन है, किन्तु चारित्र पर्याय की अपेक्षा से भेद है।

(१) समस्त धर्मी जीवों को श्रद्धा अपेक्षा से चैतन्य के शुद्धस्वभाव का परिपूर्ण अवलम्बन है।

(२) चारित्र की अपेक्षा से शुद्ध आत्मा का उग्र अवलम्बन हो तो पर्याय में शुद्धस्वभाव प्रगट होता है।

(३) चारित्र की अपेक्षा से शुद्ध आत्मा का मन्द अवलम्बन हो तो पर्याय में शुभभाव होता है।

(४) चारित्र की अपेक्षा से शुद्ध आत्मा का मन्दतम अवलम्बन हो तो पर्याय में अशुभभाव होता है।

सम्यग्दृष्टि को अशुभराग के घटने के काल में शुद्ध आत्मा का अवलम्बन होता है। शुभराग के समय भी चारित्र की अपेक्षा से वह शुद्धात्मा का अवलम्बन करता है। वहाँ सम्यग्दृष्टि अशुभ से छूटकर शुभ में जुड़ता है, किन्तु उसे शुद्धता का मन्द पुरुषार्थ है।

बाह्य में अशुभभाव पलटकर शुभ हुए हैं, किन्तु वह अशुद्धता ही है। चैतन्य की शुद्धता का काल अशुभ काल की अपेक्षा विशेष है, अतः वह शुद्धता का पुरुषार्थ है। जो मुनिराज शुद्धात्मा का तीव्र अवलम्बन नहीं लेते, वे भी अशुभ में ही हैं, यदि तीव्र अवलम्बन लेवें तो शुद्धात्मा में लीन रहते हैं। इस प्रकार शुद्धात्मा के अवलम्बन का आधार है। श्रद्धा अपेक्षा तो अवलम्बन पूर्ण है, किन्तु चारित्र अपेक्षा भेद कहा है।

प्रश्न : चतुर्थ गुणस्थान में कोई जीव शुभोपयोग में हो और पञ्चम गुणस्थान में कोई जीव अशुभोपयोग में हो तो चैतन्य का अवलम्बन किसके विशेष हैं ?

उत्तर : पञ्चम गुणस्थानवर्ती अशुभोपयोगी जीव को चतुर्थ गुणस्थानवर्ती शुभोपयोगी जीव की अपेक्षा चारित्र एवं स्वभाव का विशेष अवलम्बन है; क्योंकि पञ्चम गुणस्थानवर्ती को अशुभभाव होने पर भी अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव है और चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को मात्र अनन्तानुबन्धी का अभाव है; अतः पञ्चम गुणस्थानवर्ती जीव को स्वभाव का विशेष अवलम्बन है।

सम्यग्दर्शन और मोक्षदशा दोनों का कारण शुद्धात्मा ही है।

सम्यग्दर्शन और मोक्षदशा इन दोनों में प्रमुख कारण एक निज द्रव्य ही है। चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धात्मा का विशेष अवलम्बन लेवें तो अशुभभाव नहीं होते। पाँचवें गुणस्थान में शुद्धात्मा का मन्द अवलम्बन लेवें तो शुभभाव होते हैं। छठवें गुणस्थान में शुद्धात्मा का तीव्र अवलम्बन लेवें तो शुद्धभाव होते हैं और छठवें गुणस्थान में शुद्धात्मा का मन्द अवलम्बन लेवें तो शुभभाव होते हैं।

द्रव्यदृष्टि अर्थात् शुद्ध स्वभाव का अवलम्बन। सम्यग्दृष्टि को शुद्ध-चैतन्य का आश्रय है और वह जितना पुरुषार्थ करता है, उतना कार्य उसे होता है।

शास्त्र में वर्णन आता है कि धर्मी जीव अशुभ से बचने के लिए शुभ में आता है।

यहाँ शुभ के अवलम्बन से अशुभ का टलना, यह व्यवहार है। वास्तव में शुभभाव भी चैतन्य के अवलम्बन से ही टलते हैं। सम्यग्दर्शन, चारित्र शुक्लध्यान, केवलज्ञान यह सभी दशाएँ एक शुद्धात्मा के अवलम्बन से ही प्रगट होती है।

चैतन्यस्वभाव में केवलज्ञान भरा है, उसमें एकाग्रता करने से केवलज्ञान प्रगट होता है।

ज्ञानी जीव को गृहस्थदशा में अपने स्वरूप का भान है। श्रद्धा अपेक्षा से तो चैतन्य का पूर्ण अवलम्बन है। शक्ति अपेक्षा स्वयं को भगवान मानता है, किन्तु पर्याय में पामरता है। उस पामर पर्याय का नाश करके केवलज्ञान प्रगट करने की भावना है।

पर्याय में कमजोरी है, किन्तु आश्रय तो चैतन्य स्वभाव का ही है। पर्याय में अशुद्धता है, किन्तु स्वभाव में अशुद्धता हो तो नाश कैसे होगा? माचिस में अग्नि शक्तिरूप नहीं हो तो प्रगट कैसी होगी? माचिस की लकड़ी को घिसने से आग नहीं निकलती, अपितु उसकी टोपी अर्थात् गूगल को घिसने से आग निकलती है; उसी प्रकार शरीर या पुण्य-पाप के करने से केवलज्ञान प्रगट नहीं होता, किन्तु चैतन्यस्वभाव में एकाग्र होने से केवलज्ञान प्रगट होता है। मन्द पुरुषार्थ के कारण यह जीव शुभभाववश पूजा आदि करता है।

अज्ञानी जीव ज्ञानी के शुभभाव की नकल करता है, किन्तु शुद्धभाव की अकल न होने के कारण संसार में भ्रमता है।

जङ्गल में कोई व्यक्ति माचिस आदि के आधार से घास आदि जलाकर अग्नि से तपते हों, वहीं जङ्गल में स्थित कोई बन्दरों का समूह घस में जलती अग्नि को देखकर स्वयं अग्नि जलाना चाहे, किन्तु उन्हें माचिस और अग्नि दोनों को ही ज्ञान नहीं है, उसी प्रकार ज्ञानी के शुभरागस्वरूप पूजा-भक्ति आदि को देखकर अज्ञानी बन्दर की भाँति नकल करते हुए उपवास-व्रत-पूजादि करता है। दया-दान करता है, किन्तु यह वास्तविकता नहीं है।

वास्तव में मूल वस्तु चैतन्यस्वभाव, जिसमें केवलज्ञान के प्रगट होने की ताकत है तथा जिसका ज्ञानियों ने अवलम्बन लिया है, उसे मुख्य रखकर ही ज्ञानी शुभभाव की क्रिया में प्रवर्तन करते हैं तथा अज्ञानी जीव मुख्य वस्तु का ख्याल न करके नकल करता

है, किन्तु नकल में भी अकल की जरूरत होती है, जो उसे नहीं है। ज्ञानियों के शुभभाव के पीछे चैतन्य का विशेष जोर है। अज्ञानी इस ओर दृष्टि न करके खूब मेहनत करता है, किन्तु उसकी सारी मेहनत व्यर्थ है। संसार परिभ्रमण ही चल रहा है।

यहाँ धर्मी जीव की बात है। धर्मी जीव को श्रद्धा तो शुद्धात्मा की ही है, किन्तु चारित्र अपेक्षा से मन्द अवलम्बन होने से शुभभाव होते हैं तथा उग्र पुरुषार्थ होने पर शुद्ध परिणति होती है।

अब, ऐसा सिद्ध करते हैं कि शुभोपयोग को कारण की विपरीतता से फल की विपरीतता होती है -

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।

गाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालमिह ॥ २५५ ॥

अर्थात् जैसे इस जगत में अनेक प्रकार की भूमियों में पड़े हुए बीज धान्य काल में विपरीतरूप से फलते हैं, उसी प्रकार प्रशस्तभूत राग वस्तुभेद से (पात्रभेद से) विपरीतरूप से फलता है।

जिसे आत्मा का भान है; किन्तु स्वभाव स्थिरता नहीं है। उसे दया-दान-व्रत पूजा आदि का शुभभाव और शुद्धात्मा का अनुराग वर्तता है तथा उसकी दृष्टि स्वभाव पर है। श्रद्धा में राग का निषेध है; फिर भी वीतरागता क्रम-क्रम से ही प्रगट होती है।

धर्मी जीव के शुभराग को उपचार से मोक्ष का कारण कहा है। अज्ञानी जीव की श्रद्धा कुदेव-कुगुरु और कुशास्त्र पर है, उसका शुभभाव अज्ञानी जीवों के प्रति है। कषाय की मन्दता होने पर भी कारण और कार्य दोनों में विपरीतता ही है; अतः ये संसार का ही निमित्त है।

अज्ञानी को शुभभाव में विपरीतता होने से कार्य (फल) में भी विपरीतता है।

जिस प्रकार अनाज के बीज एक ही प्रकार के होने पर भी भूमि की विपरीतता से बीज की उत्पत्ति में भी विपरीतता होती है अर्थात् अच्छी भूमि में उस बीज का अच्छा फल उत्पन्न होता है और खराब भूमि में खराब फल उत्पन्न होता है अथवा उत्पन्न नहीं होता।

मिट्टी के बर्तन में पकाई रसोई और तपेली में पकाई रसोई का स्वाद भिन्न-भिन्न होता है। कुएँ का पानी और नदी का पानी इन दोनों का भी स्वाद भिन्न-भिन्न होता है।

बीज अथवा पदार्थ की तत्समयानुरूप जो योग्यता जैसी होनी होती है, वैसी हुई है। निमित्त के कारण परिवर्तन होता है - ऐसा नहीं है। यहाँ निमित्त की प्रधानता से कथन किया है, अतः जिस प्रकार के दया-दान-व्रतादि का शुभभाव ज्ञानी को होता है, वैसा अज्ञानी को नहीं होता; किन्तु अज्ञानी को भी शुभभाव अवश्य होते हैं।

यहाँ शुभ के कारण में विपरीतता है, अतः कार्य में भी विपरीतता है। ज्ञानी के शुभभाव परम्परा से मोक्ष का कारण है और अज्ञानी के शुभभाव संसार का कारण है।

गाथा २५४ में धर्मी के शुभराग की दिशा बताई थी और इस गाथा में अज्ञानी के शुभभाव की दिशा विपरीत होने से फल में भी विपरीतता होना बताया है।

ज्ञानी को अन्तर में विद्यमान सर्वज्ञशक्ति का ज्ञान है, उसमें एकाग्र होने से धर्म होता है। एकाग्र स्वरूप को जिन्होंने प्राप्त किया है - ऐसे सर्वज्ञदेव, निर्ग्रन्थ गुरु के प्रति धर्मी को प्रेम होता है। इनके प्रति विद्यमान राग में उसे विवेक वर्तता है; अतः वह राग मोक्ष का निमित्त भी है।

अज्ञानी को सर्वज्ञ के स्वरूप से विपरीत दिशा की ओर राग वर्तता है। वह व्यवहार धर्म को मानता है। नौ बार णमोकार मन्त्र बोलने से अथवा दया-दान-यात्रा से धर्म मानता है, कुगुरु-कुदेव-कुधर्म से धर्म मानता है किन्तु यह सब संसार का ही कारण है। कुदेवादि के प्रति रुचि-पुण्य अथवा व्यवहार की रुचि है, अतः मिथ्यादृष्टि जीव पापानुबन्धी पुण्य बाँधकर संसार में ही भटकता है।

तत्त्व के आराधक सिद्धगति में और विराधक निगोदगति में जाते हैं।

जिस प्रकार घूमता हुआ लट्टू (भौरा) घूमते हुए भी स्थिर दिखाई देता है, उसी प्रकार तत्त्व ज्ञान के तीव्र विरोधी, पुण्य से धर्म माननेवाले हैं। आत्मा का मनचाहा स्वरूप माननेवाले, बाह्य क्रिया में धर्म माननेवाले, यथार्थ ज्ञान का तीव्र विरोध करनेवाले जीव वर्तमान में कदाचित् शुभभाव के फल में देवगति पा जावें; किन्तु परम्परा से निगोद में ही जानेवाले हैं।

ऐसे जीव को स्थिर, किन्तु परिभ्रमण करनेवाले लट्टू की भाँति निगोदिया शरीर में ही असंख्य सागरोपम काल तक आयु व्यतीत करनी पड़ती है।

तत्त्व के तीव्र आराधक जीव सिद्धगति और तत्त्व के विराधक जीव निगोद गति प्राप्त करते हैं। आराधकतापूर्वक शुभभाव हो तो जीव देवगति में जाए, किन्तु संसार परिभ्रमण चलता रहता है तथा विराधकतापूर्वक अशुभभाव हो तो नरकगति में जाता है। पात्रता की विपरीतता से फल में भी विपरीतता आती है।

निमित्त-उपादान की प्रसिद्धि

ज्ञानी को निश्चयपूर्वक व्यवहार है, स्वसन्मुख अभिप्राय है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को परलक्षी माननेवालों की, यहाँ बात नहीं है। उसने तो सच्च देव-शास्त्र-गुरु का यथार्थ स्वरूप समझा ही नहीं है। सर्वज्ञदेव, निर्ग्रन्थ गुरु, अनेकान्तस्वरूपी शास्त्र क्या कहते हैं ? इन्हें यथार्थ जाननेवाले का मिथ्यात्व अवश्य टलता है।

जैसा सर्वज्ञ का आत्मा है, वैसा मेरा आत्मा है। मैं भी सर्वज्ञ हो सकता हूँ, इत्यादि प्रकार से ज्ञानी जीव श्रद्धा करता है और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहचान करता है। आत्मज्ञान बिना सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की पहचान नहीं हो सकती।

निमित्त किसे कहते हैं ?

उपादान में कार्य हो, तब निमित्त का आरोप आता है। निमित्त, उपादान की प्रसिद्धि करता है। सर्वज्ञ को यथार्थ माननेवाला जीव ज्ञानी है। जिसने अपने स्वरूप में आंशिक वीतरागता प्रगट की है, वह सर्वज्ञ को माननेवाला यथार्थ जीव है। इससे विपरीत जो दया-दानादि व्यवहार और शरीर की क्रिया से धर्म मानते हैं, जिन्हें सर्वज्ञ शक्तिस्वरूप आत्मा की खबर नहीं है तथा विपरीत स्वरूप दर्शानेवाले कुदेव-कुगुरु-कुधर्म के प्रति प्रेम है, उनका निश्चयस्वरूप भी संसार का कारण है। निमित्त के प्रति रुचिवाला जीव संसार की रुचिवाला है, पुण्य की रुचिवाला है।

जिस प्रकार साहूकार के पास साठ पैसा प्रतिशत ब्याज से कोई खुद की पूँजी जमा करावे तावे वह सुरक्षित रहती है। ब्याज सहित वापिस भी मिलती है। साधारण व्यक्ति के पास देवें तो पूँजी की गारण्टी नहीं होती है और पूँजी तथा ब्याज दोनों ही जाने का भय

रहता है, उसी प्रकार धर्मी जीव अपनी पूँजी को सर्वज्ञ के पास रखता है, जिससे पूँजी और ब्याज दोनों ही सुरक्षित वापिस मिलते हैं अर्थात् उसे सच्चे आत्मा की प्रतीति होकर केवलज्ञान की प्राप्ति होती है ।

इससे विपरीत कुदेवादि के पास अपनी पूँजी रखे तो वह जीव निज आत्मा से दूर हो जाता है, उसका कोई पार नहीं है । ब्याजरूप संसार परिभ्रमण चलता ही रहता है । इस प्रकार निमित्त और पात्रता का फेर है । पात्रता में विपरीतता हो तो फल भी विपरीत ही होगा ।

अब, कारण की विपरीतता और फल की विपरीतता बतलाते हैं -

छद्मस्थविहिदवस्थुसुवदणियमज्झयणझाणदाणरदो ।

ण लहदि अपुणब्भावं सादप्पगं लहदि ॥ २५६ ॥

अर्थात् जो जीव छद्मस्थविहित वस्तुओं में (छद्मस्थ अज्ञानी के द्वारा कथित देव-गुरु-धर्मादि में) व्रत-नियम-अध्ययन-ध्यान-दान में रत होता है वह जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं होता किन्तु सातात्मक भाव को प्राप्त होता है ।

वस्तुस्वरूप से विपरीत कथन करनेवाला जीव अज्ञानी है ।

सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कारण नहीं है । निमित्त उपादान का कार्य नहीं कर सकता । आत्मा त्रिकाली शुद्ध है, विकार क्षणिक है । शुद्ध आत्मा के लक्ष्य से विकार टलकर अविकारी दशा प्राप्त होती है । पुण्य से धर्म नहीं होता । पुण्य और संवर दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं । नव तत्त्व पृथक-पृथक हैं - ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने यथार्थ वस्तुस्वरूप बताया है ।

तीन लोक और तीन काल का सम्पूर्ण ज्ञान उन्हें वर्तता है । भूतकाल के समान भविष्य काल की पर्यायें भी अनन्त हैं । दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य समस्त गुणों की पर्यायें भूत एवं भविष्य काल की अपेक्षा अनन्त-अनन्त गुणी हैं ।

जिस द्रव्य की जैसी पर्याय है वैसा ही स्वरूप सर्वज्ञ भगवान ने बताया है, इसलिए जो वस्तुस्वरूप को नहीं मानता, वह सर्वज्ञ को ही नहीं मानता । अज्ञानी मिथ्यादृष्टि व्रत, पुण्य या निमित्त से धर्म हुआ अथवा उनसे उपादान में कार्य हुआ - मानता है । यह व्रत, उपवास आदि शुभ में धर्म मानता है ।

सत्शास्त्र निमित्त होने पर भी उसके मर्म को नहीं समझनेवाला जीव अज्ञानी है।

जिसे व्यवहार से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का अवलम्बन मिला, सत्शास्त्र जैसे निमित्त मिलें; तथापि जो वस्तु के यथार्थ भाव को ग्रहण नहीं करता और पुण्य अथवा निमित्त से धर्म मानता है, वह जीव अज्ञानी है।

शुभोपयोग परम्परा से मोक्ष का कारण है, किन्तु कर्मोदयवश जीव परिभ्रमण करता है। अज्ञानी जीव शुभभाव को ही मोक्ष का वास्तविक कारण मानकर व्रत-तपादि में लीन रहते हैं और फल की प्राप्ति नहीं होवे तो कर्म से नुकसान हुआ मानते हैं।

शास्त्र के मर्म को समझे बिना व्यवहार रत्नत्रय भाव को धारण किया; किन्तु चैतन्यलक्ष्मी की प्राप्ति नहीं हुई। ज्ञानी कहते हैं कि हे भाई! यह निमित्त का कथन है, वास्तव में ज्ञानस्वरूप में एकाग्र होकर श्रद्धा व ज्ञान करें तो ही शान्ति की प्राप्ति होती है।

स्वयं के पास सर्वज्ञशक्ति है, उसमें धर्म व शान्ति न मानकर अज्ञानी जीव ध्यान, व्यवहाररत्नत्रय आदि में शान्ति मानता है। उत्तम कुल में जन्म लेने से सर्वज्ञदेव-शास्त्र-गुरु का सान्निध्य मिला; पर इनकी महिमा को नहीं समझता है, अतः यह समस्त वस्तुएँ मिलने पर भी न मिलने के समान ही है। वीतरागता के पोषकशास्त्र मिलने पर भी उसका मर्म नहीं समझे तो अज्ञानी ही है।

स्वभावेश्वर, विभावेश्वर और जड़ेश्वर की स्पष्टता

अनेक जीव समाधि-साधना में धर्म मानते हैं, किन्तु यह सब मूढ़ता है। जगत में अनन्त आत्मा, अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु, धर्म, अधर्म, आकाश एक-एक और असंख्य कालाणु द्रव्य हैं। प्रत्येक पदार्थ कायमस्वरूपी रहकर परिवर्तन कर रहा है। इन सबमें आत्मा चेतन है और बाकी सब अचेतन द्रव्य हैं।

यहाँ तीन प्रकार के ईश्वर की बात करते हैं।

स्वभावेश्वर - प्रत्येक आत्मा ज्ञान-दर्शन-सुख, वीर्य आदि शक्तियों का भण्डार है, परिपूर्ण प्रभु है। उसका स्वभाव ज्ञानानन्द शुद्ध है। प्रत्येक काल व क्षेत्र में वह अपने ऐश्वर्य से विराजमान है, उसे कोई लूट नहीं सकता है।

विभावेश्वर - अज्ञानी आत्मा अपने चैतन्य स्वभाव को भूलकर राग-द्वेष आदि विकारीभाव करता है। आत्मा का ऐश्वर्य स्थिर होने पर भी यह विभाव परिणाम करता है। विभावभाव को टालने में साक्षात् तीर्थङ्कर भी समर्थ नहीं हैं। विकार में भी आत्मा स्वतन्त्र है और विकार टालकर अभाव में रत होने में भी वह स्वतः स्वतन्त्र है।

जड़ेश्वर - प्रत्येक परमाणु और अन्य जड़ द्रव्य ऐश्वर्यवान हैं। उनकी पर्याय को पलटने में कोई समर्थ नहीं है - ऐसी शक्ति जड़ पदार्थ में परिपूर्ण व्याप्त है; अतः वह जड़ेश्वर हैं।

उक्त तीन प्रकार के ईश्वरों की यथावत् प्रतीति करो - ऐसा सर्वज्ञ की वाणी में आया है, किन्तु अज्ञानी जीव इन तीनों ईश्वरों को नहीं मानता। स्वभाव का भान न रखकर शरीर की क्रिया का भान रखता है, पुण्य से धर्म मानता है।

अज्ञानी के कहे हुए व्रत-तपादि में जो जीव लीन हैं, उन्हें धर्म नहीं होता।

अज्ञानी जीव शास्त्र के विरुद्ध अर्थ करता है। अज्ञानियों द्वारा कहे हुए व्रत-तपादि में ही लीन रहता है। अत्यधिक शुभराग करने से मोक्ष की प्राप्ति मानता है; किन्तु इससे केवल पुण्य प्रकृतियाँ बँधती हैं, संसार परिभ्रमण नहीं छूटता।

धर्मी को शुभ के पीछे शुद्धस्वभाव का भान है, सर्वज्ञ में श्रद्धा है। अज्ञानी को केवल कुदेवादि की श्रद्धा होने से वह विभावभाव में लीन है। कुदेवादि की श्रद्धा से युक्त तथा व्रतादि से धर्म माननेवाला जीव शुभ भाव के कारण संसार में ही भटकता है।

गाथा २५५ में कहा कि जमीन (भूमि) की विपरीतता से बीज भी विपरीत फल देता है, उसी प्रकार अज्ञानी का शुभराग भी संसार को फलाता है। अज्ञानी के कहे हुए व्रत-तप, दया-दान में जो जीव रत हैं, वे जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं करते; अपितु पुण्यबन्ध होने से संसार में ही भ्रमण करते हैं।

स्वयं में सर्वज्ञ होने की ताकत है - ऐसी प्रतीति से युक्त जीव ही सर्वज्ञ को मानता है।

सर्वज्ञ स्थापित वस्तुओं में युक्त शुभोपयोग का फल पुण्य संचयपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है - इस पंक्ति में बहुत रहस्य भरा है। प्रथम शब्द सर्वज्ञ स्थापित है, अतः सर्वज्ञ किसे कहना यह प्रथम जानना चाहिए।

सब मिलकर एक आत्मा नहीं है, किन्तु स्वतन्त्र अनन्त आत्माएँ हैं। प्रत्येक आत्मा अपने स्वयं के कारण सुख-दुःख प्राप्त करता है। उसमें कितने ही जीवों ने आत्मज्ञान करके सर्वज्ञदशा को प्राप्त किया है। वे किस रीति से सर्वज्ञता को प्राप्त हुए उसका यहाँ वर्णन किया है ?

आत्मा का 'ज्ञ' अर्थात् जानने-देखने का स्वभाव है। शरीर, मन, वाणी आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं। आत्मा की पर्याय में राग-द्वेषादि विकार तथा ज्ञान की हीन पर्याय दिखाई देती है, यह आत्मा का यथार्थ स्वभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव तो परिपूर्ण जानने का है। सर्वज्ञ और सर्वदर्शी शक्ति प्रत्येक आत्मा में है। उस शक्ति का भरोसा करके बहुत जीवों ने सर्वज्ञदशा प्राप्त की है।

मैं भी अपने सर्वज्ञस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके सर्वज्ञ पद को पा सकता हूँ। पुण्य-पाप अथवा अल्पज्ञता मेरा स्वरूप नहीं है। पुण्य-पाप के आधार से मेरा सर्वज्ञपद नहीं प्रगटता, अपितु मेरे सर्वज्ञस्वभाव के आधार से सर्वज्ञपना प्रगटता है।

प्रत्येक जीव सर्वज्ञदशा को पा सकता है। अनादि काल से अब तक अनन्त सर्वज्ञ हो चुके हैं तथा सर्वज्ञदशा की प्रतीतिवाले, सर्वज्ञदशा को ही साधनेवाले असंख्यात साधक जीव वर्तमान में भी विद्यमान हैं।

पुण्य-पाप और निमित्त की अपेक्षा से रहित होकर आत्मा को साधनेवाले और अपने को शरीर-मन-वाणी, अल्पज्ञरूप नहीं माननेवाले ज्ञानी हैं। विकार में अटकने पर अशुद्धता और अपूर्णता प्राप्त होती है और यदि ज्ञान में सर्वथा स्थिर हो गये तो सर्वज्ञदशा की ही प्राप्ति होती है। इस प्रतीति से युक्त जीव पुण्य-पाप अथवा जड़ की क्रिया में अपना कर्तव्य नहीं मानता।

पूर्व में ऋषभदेव-महावीर आदि सर्वज्ञ हुए हैं तथा वर्तमान में सीमन्धर परमात्मा सर्वज्ञरूप से विराजमान हैं। भविष्य में अनन्त सर्वज्ञ होंगे। प्रथमतः इनकी व्यवहार श्रद्धा करे, तब सर्वज्ञ को माना कहा जाये। ज्ञान की रुचि होते ही विकार की रुचि नष्ट होती है। ऐसे रुचिवाले जीव को केवलज्ञान प्रगट होता है।

जिस प्रकार लौकिक में किसी जीव को धन की रुचि हो, वह धनवान के

गीत गाता है, उसी प्रकार जिसे सर्वज्ञपद की रुचि है, वह सर्वज्ञ के गीत गाता है। जो जीव आत्मा की रुचि करता है, वह विकार तथा अन्य पदार्थों की रुचि नहीं रख सकता।

सर्वज्ञ की वाणी में आया हुआ वस्तु स्वरूप

सर्वज्ञ तीर्थङ्करदेव की वाणी जीवों के कल्याण में निमित्तरूप न हो - ऐसा नहीं होता। वाणी के बिना सर्वज्ञ और वस्तु स्वरूप दोनों को ही समझ पाना मुश्किल है। सर्वज्ञ हुए बिना देह छूटकर मोक्षदशा प्रगट नहीं होती। पूर्व अल्पज्ञावस्था में 'मैं परिपूर्ण स्वभाव को प्राप्त करूँ और दूसरों को भी परिपूर्णतारूप स्वभाव की बात समझाऊँ' - ऐसा शुभराग किया था। इस शुभराग के फल में ही तीर्थङ्कर नामकर्म की प्रकृति बँधी और वह उदय में आने पर वाणी का खिरना स्वयमेव हुआ।

सर्वज्ञ की वाणी में आया हुआ वस्तुस्वरूप जैसा स्वतन्त्र है, वैसा जानना चाहिए। आत्मा जानने-देखनेवाला है। ज्ञान में दुःख नहीं है। विकार में अटकना ज्ञान का स्वरूप नहीं है। ज्ञान में एकाग्र होवे तो परिपूर्णता प्रगट होती है। प्रत्येक वस्तु गुण-पर्यायों से भरी हुई है। कोई भी वस्तु पराधीन नहीं है, अतः छह द्रव्य और नव तत्त्वों का पृथक्-पृथक् स्वरूप जानना चाहिए।

इस प्रकार धर्मी जीव सर्वज्ञ, सर्वज्ञ की वाणी और सर्वज्ञ की वाणी में आये हुए वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय करता है। वस्तुस्वरूप के विरुद्ध कहनेवाले कुदेवादि को वन्दन नहीं करता और सर्वज्ञ के प्रति शङ्का नहीं करता।

अज्ञानी जगत मानता है कि भगवान मदद करेंगे; किन्तु ऐसा मानने से पुण्य का नाश होता है और सर्वज्ञ का अनादर होता है, अतः जिसे पुण्य-पाप का आदर है, वह धर्म को नहीं जानता तथा धर्मी जीव पुण्य-पाप के आधार से धर्म नहीं मानता।

जिस प्रकार माचिस के गूगल को घिसने से अग्नि प्रगट होती है, लकड़ी को घिसने से अग्नि नहीं प्रगटती, उसी प्रकार पुण्य-पाप के आधार से केवलज्ञान नहीं होता, अपितु चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता से केवलज्ञान होता है। अनेक जीवों ने इसी प्रकार राग का सर्वथा नाश करके सर्वज्ञदशा प्राप्त की है।

यह जीव स्वयं ही स्वयं का परमेश्वर है। अन्य कोई परमेश्वर इस जगत का कर्ता नहीं है। जो वस्तु में कोई कुछ नहीं कर सकता।

त्रिकाली के समान वर्तमान का भी कोई कर्ता नहीं है। आत्मा स्वयं अनादि से है और वर्तमान पर्याय में विकारी अथवा अविकारी दशा का कर्ता स्वयं है। वह स्वयं स्वभाव के लक्ष्य से विकार का सर्वथा नाश करके सम्पूर्ण निर्दोष अवस्था प्राप्त करता है, यही वीतरागदशा है।

यथार्थ वस्तुस्वरूप से युक्त शुभोपयोग का फल पुण्यसंचय पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है।

सर्वज्ञ स्वभाव का भान होने पर भी जब तक पूर्णदशा की प्राप्ति नहीं हुई है, तब तक उसे शुभराग विद्यमान है; किन्तु वह शुभराग को अपना स्वरूप नहीं मानता तथा उस पर दृष्टि भी नहीं करता है।

जिस प्रकार खेत में गेहूँ की फलस हो तो श्रमिक का ध्यान गेहूँ पर होता है, चारे पर नहीं। चारा तो सहज ही मिल जाता है, उसी प्रकार धर्मी की दृष्टि चिदानन्द भगवान् आत्मा पर है। अपूर्णदशा में जितना राग रह गया है, उसके फल में देवगति, तीर्थङ्कर पुण्य प्रकृति, बलदेव आदि का भव मिलता है, किन्तु इस पुण्यफल पर उसकी दृष्टि नहीं होती; क्योंकि शुभभाव और शुभभावों के फल में आत्मा की शान्ति नहीं है।

पुण्य-पाप से रहित शुद्ध चैतन्य में एकाग्रता ही शान्ति है। धर्मी जीव सर्वज्ञ, सर्वज्ञ की वाणी और सर्वज्ञ द्वारा कथित वस्तुओं में श्रद्धा करता है; किन्तु जब स्वभाव में स्थिर नहीं हो सकता, तब शुभोपयोग में उपयोग लगाता है। स्वभाव में जितनी स्थिरता है, उतनी शुद्धता है और अल्प राग के कारण पुण्यबन्ध भी होता है, किन्तु ज्ञानी को पुण्य की रुचि नहीं है। रुचि तो स्वभाव के प्रति है। वह क्रम-क्रम से शुभभाव का अभाव करके मोक्ष की प्राप्ति करता है।

अज्ञानी वस्तुस्वरूप से विपरीत कथन करता है; अतः उसके कथन में कारण विपरीतता है।

कारण की विपरीतता होने पर फल भी विपरीत ही होता है। छद्मस्थ अज्ञानी द्वारा कहा हुआ वस्तुस्वरूप कारण विपरीतता ही है।

आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान एकाग्रता को सर्वज्ञदेव धर्म कहते हैं और अज्ञानी पुण्यक्रिया में धर्म मानता है। इस जीव को आत्मा तथा देव-गुरु-शास्त्र का भान नहीं है; इसलिए बाह्य साधनों में धर्म मानता है। अन्तर में अनन्त शान्ति भरी है, उसमें शान्ति न मानकर बाह्य में शान्ति मानता है। निमित्त से उपादान में कार्य मानता है। देव-गुरु का स्वरूप विपरीत कहता है। वास्तव में अज्ञानी को सच्ची क्रिया की खबर ही नहीं है।

(१) अपने शुद्ध स्वभाव के लक्ष्य से क्रिया न मानकर शरीर और पुण्य से धर्मक्रिया मानता है, उसे यथार्थ धर्मक्रिया का भान नहीं है।

(२) विकार की क्रिया स्वयं के दोष के कारण पर्याय में होती है, उसे न मानकर कर्म और पर से विकार मानता है, उसे विकारीक्रिया का भी भान नहीं है।

(३) शरीरादि जड़ पदार्थों की क्रिया जड़ से न मानकर आत्मा से शरीर की क्रिया मानता है, इस प्रकार जड़ की क्रिया को स्वतन्त्र नहीं मानता।

अज्ञानी समस्त क्रियाओं को विपरीत तथा ज्ञानी यथावत् जानते हैं। अज्ञानी द्वारा कहा हुआ वस्तुस्वरूप सर्वज्ञ से विपरीत है। अज्ञानी के द्वारा स्थापित बात में स्वतः ही कारण विपरीतता है।

वस्तुस्वरूप की विपरीत मान्यता से युक्त शुभोपयोग का फल संसार है।

अज्ञानी जीव पुण्य और निमित्त से धर्म मानकर अनेक प्रकार से तपादि करें, व्रतोद्यापन करें, नियम से शास्त्र-स्वाध्याय करे, ध्यान करे, हजारों रुपयों का दान करें, शुभोपयोग करें तो भी इन सबका फल अधम पुण्य ही है। यद्यपि शुभभाव के फल में देवगति मिलती है, किन्तु वह भी संसार ही है। यह फल ही विपरीतता है।

कोई द्रव्यलिङ्गी मुनि के समान परिणाम रखे, २८ मूलगुणों का पालन करें, सुदेवादि को मानने से मन्दकषायरूप भाव रखे तो कदाचित् नवमें ग्रैवेयक तक गमन हो सकता है। सामान्य परिणाम करें तो सामान्य स्थितिवाला मनुष्य होता है, किन्तु चारगतिरूप संसार दोनों ही अवस्था में है। जन्म-मरण का अभाव नहीं हुआ है।

जो जिसमें लाभ मानता है, उसमें एकाग्र होता है।

अरहन्त भगवान की वाणी में आया है कि जो जिसमें लाभ मानता है, वह उसमें एकाग्रता करता है।

(१) मैं सर्वज्ञ शक्तिवाला हूँ। वर्तमान में अपनी कमजोरी के कारण ही भटक रहा हूँ, कर्म के कारण नहीं। अपने स्वभाव में विशेष स्थिरता करूँ तो सर्वज्ञता प्रगट हो सकती है – ऐसा मानकर ज्ञानी जीव शुद्धस्वभाव के साथ एकता-प्रतीति करता है, पश्चात् चारित्र में एकाग्रता करता है।

(२) अज्ञानी जीव मानता है कि कर्मों के हलके पड़ने अथवा शुभभाव करने से धर्म होता है; किन्तु ऐसे जीव शुभभाव के साथ एकता करने से संसार में भटकते हैं।

(३) कोई अज्ञानी मानता है कि आत्मा स्वभाव से शुद्ध है। स्वभाव में अन्य की आवश्यकता नहीं है, किन्तु पर्याय में धर्म अथवा केवलज्ञान प्रगट करने के लिए सर्वज्ञरूप निमित्त को खोजना चाहिए। वास्तव में ऐसा माननेवाला जीव भी निमित्तों के साथ एकता करके संसार में परिभ्रमण ही करता है।

खोजना किसे है ? परवस्तु को मिलाना तो तेरे हाथ की बात नहीं है; अतः अपने स्वभाव को खोज ! स्वयं की तैयारी में अनुकूल निमित्त संयोगरूप ही होंगे। आत्मा स्वयं सर्वज्ञ है, गुरु है, साक्षी है। अज्ञानी इसे स्वीकार न करके निमित्तों को खोजता है। धर्म के लिए परद्रव्यों में एकाग्र होता है, यही मूढ़ता है।

चैतन्यस्वभाव में एकाग्रता करते ही केवलज्ञानरूप ज्योति प्रकाशमान होती है, किन्तु अज्ञानी को इसकी खबर नहीं है। अज्ञानी सदैव वाणी-व्यापार में ही ध्यान रखता है; धर्म की बात में होशियार नहीं रहता। परीक्षा किये बिना ही प्ररूपणा चलाता है।

जो अज्ञानी निमित्त और पुण्य-पाप में एकाग्र होता है, उसे शुभभाव के कारण-देव-मनुष्यगति मिलती है, किन्तु मोक्ष नहीं मिलता। वह चतुर्गति में ही भ्रमण करता है। इस प्रकार कारण विपरीतता का फल बताया है।

यह आत्मा स्ववस्तु है, उसे परिपूर्ण ही स्वीकारना चाहिए।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, उसे परपदार्थों की अपेक्षा नहीं है। परपदार्थ और पुण्य-पाप से रहित आत्मा शुद्धस्वभावी है - ऐसा श्रद्धा-ज्ञान ओने पर भी जो जीव स्वभाव में स्थिर नहीं हो सकते उन्हें शुभभाव आते हैं और एक बार स्वभाव की दृष्टि हो तो वे शुभभाव भी नष्ट होकर मोक्ष का कारण बनते हैं।

अज्ञानी स्व-स्वभाव से मुक्ति न मानकर पुण्य और निमित्त से धर्म मानता है। शुभभाव का लक्ष्य होने पर पुण्य ही बँधता है, मोक्ष नहीं होता।

आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है। 'वस्तु है' - ऐसा कहने पर भी यदि उसे पर की अपेक्षा लेना पड़े तो वस्तु का अस्तित्व नहीं रहता। 'है' कहते ही परिपूर्णता सिद्ध होती है।

जिस प्रकार १६ तावयुक्त सोने में एक अंश भी तांबे का हो तो वह सोना अशुद्ध कहलाता है, किन्तु तांबे की अपेक्षा ग्रहण न करें तो वह सोना १६ ताववाला ही है, उसी प्रकार आत्मा की पर्याय में दया-दानादि विकार होते हैं, किन्तु दया-दानादि की अपेक्षा ग्रहण न करें तो आत्मा स्वभाव से शुद्ध, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी आदि शक्तियों से भरा हुआ है।

विकार के कारण अपूर्णता नहीं है, विकार भी पर्याय में स्वतन्त्र ही है। स्वभाव भी स्वतन्त्र है। इस प्रकार श्रद्धा-ज्ञान करे तो विकार और अपूर्णता का नाश होकर मोक्षदशा प्रगट होती है।

चैतन्य वस्तु में सुख मिलता है, परवस्तु में सुख नहीं मिलता।

परनिमित्त के कारण धर्म होता है - ऐसा माने तो सर्वज्ञ स्वभाव का निर्णय नहीं होता। निमित्त, राग और अपूर्णता से रहित स्वयं का परिपूर्ण स्वभाव है। इसे आज तक अज्ञानी जीव ने स्वीकार ही नहीं किया है।

लौकिक में निवास करने के लिए घर का होना अत्यन्त आवश्यक है, उसी प्रकार चैतन्यस्वभाव में अनन्त शक्तियाँ भरी हैं, उसके ज्ञान बिना सुख से रहना सम्भव नहीं है। विकार का परिहार करके ही सच्चा ज्ञान होता है। इस सच्ची मान्यतापूर्वक ही धर्मदशा / सुखदशा प्रगट होती है।

प्रश्न : सर्वज्ञ स्थापित वस्तु की श्रद्धा कब होती है ?

उत्तर : स्वयं आत्मा केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि अनन्त चतुष्टय से भरा हुआ है। वह बाह्य निमित्त और पुण्य के अवलम्बन बिना सहज ही प्रगट होता है, तभी वस्तु की श्रद्धा हुई, कही जाती है।

अज्ञानी स्वभाव को न देखकर संयोगों की ओर झुकता है।

अज्ञानी जीव की दृष्टि संयोगाधीन है। स्वभाव के प्रति उसकी दृष्टि नहीं है। ६४ पुटी तीखेपन से युक्त लेंडीपीपर को घिसते ही उसकी अन्तरशक्ति व्यक्त हो उठती है, किन्तु अज्ञानी जीव पत्थर के संयोग को ही देखता है; लेंडीपीपर के समान स्वयं में व्याप्त अन्तरङ्ग शुद्धता को नहीं देखता।

अरे भाई! लेंडीपीपर की प्रगट वर्तमान पर्याय में उसी की अन्य पर्याय का अभाव है, फिर पत्थर तो भिन्न ही है। स्वभाव की बात होने पर संयोग का कोई काम नहीं रहता।

सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए वस्तुस्वभाव का भान अज्ञानी को नहीं है। वह मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता तथा शुभभाव का फल अधम पुण्य को बाँधता है। इससे विपरीत ज्ञानी क्रम-क्रम से मोक्ष पाते हैं।

यदि निमित्त के कारण पर्याय प्रगटती हो तो निमित्त के न होने पर वह कैसे प्रगट होगी और कैसे टिकेगी ?

यहाँ कहते हैं कि द्रव्य की पर्याय प्रगट करने के लिए अन्य निमित्त की आवश्यकता नहीं है जो जीव अन्य निमित्तों की अनिवार्यता मानते हैं, उनसे पूछते हैं -

(१) केवलज्ञान प्रगट होने पर सादि-अनन्त काल तक उसमें समय-समय परिणमन होता है। केवलज्ञान प्रगट होने में ज्ञानावरणादि कर्म का विनाश अथवा अन्य कारण की उपस्थिति बतायें तो वर्तमान में केवलज्ञान की उपस्थिति में वे कारण नहीं हैं, फिर ज्ञान अनन्त काल तक किस आधार से रहेगा ?

(२) लेंडीपीपर में ६४ पुटी तीखापन पत्थर पर घिसने से आता हो तो ६४ पुटी तीखापन व्यक्त होने पर वह यथावत् किस प्रकार बना रहता है ?

(३) मकान कारीगर बनाता है, किन्तु कारीगर के बनाने के पश्चात् ५०-१०० वर्षों तक वह किसके आधार से टिका रहता है ?

(४) हार-कुण्डल आदि सुवर्णकार और हथौड़ी से बने हैं - ऐसा कहें तो हार-कुण्डल बनने के बाद सुवर्णकार और हथौड़ी के बिना भी वे बहुत समय तक यथावत् रहते हैं - वह कैसे ?

यदि संयोग के आधार से पर्याय होती हो तो संयोग के नष्ट होने पर पर्याय भी नष्ट हो जावे।

(१) केवलज्ञान होने के पश्चात् बारम्बार कर्म का क्षय नहीं है तथा संहनन आदि भी विशेष नहीं हैं, यदि इनके आधार से केवलज्ञान होवे तो केवलज्ञान नहीं रहना चाहिए।

(२) पत्थर के आधार से पीपर में तीखापन प्रगट होवे तो पत्थर के हटते ही तीखापन नष्ट हो जाना चाहिए।

(३) सीमेन्ट अथवा कारीगर के आधार से मकान बनता हो तो कारीगर की अनुपस्थिति में मकान भी नहीं रहना चाहिए।

(४) सुवर्णकार और हथौड़ी के आधार से हार बनता हो तो सुवर्णकार और हथौड़ी के हटते ही हार नष्ट हो जाना चाहिए।

यहाँ अज्ञानी तर्क करता है कि पर्याय के होने में तदनुकूल निमित्त कार्यकारी हैं तथा कार्य हो जाने पर उन संयोगों की आवश्यकता नहीं रहती।

एक समयवर्ती पर्याय को निमित्त बिना स्वीकार कर सकते हैं तो त्रिकालवर्ती पर्याय निमित्त बिना क्यों नहीं हो सकती ?

किसी निश्चित पर्याय की उत्पत्ति के पश्चात् वह पर्याय परपदार्थ और संयोगों के बिना टिकी हुई मानना है तो प्रथमतः ही पर्याय की उत्पत्ति संयोगों के बिना होती है - ऐसा मानना चाहिए।

जिस प्रकार एक मकान बनने में एक वर्ष लगा, तत्पश्चात् वह ५०-१०० वर्षों तक टिका रहा। जिस प्रकार ५०-१०० वर्षों तक वह मकान कारीगर के बिना टिका रहा,

उसी प्रकार मकान के बनने में जो एक वर्ष का समय लगा है, उसमें भी मकान कारीगर के बिना ही बना है। इस प्रकार सिद्धान्त को भी समझ लेना चाहिए।

स्थूल स्कन्धों में निश्चित समय तक निमित्तों का संयोग दिखाई देता है। सूक्ष्म स्कन्ध भी स्थूल की अपेक्षा अनन्तानन्त हैं, वे प्रति समय परिवर्तन कर रहे हैं। क्या वे संयोग या निमित्त के आधार से परिवर्तन कर रहे हैं? अरे भाई! वे सूक्ष्म स्कन्ध बिना निमित्त के ही परिवर्तन कर रहे हैं।

स्कन्ध की समग्र पर्याय को ख्याल में लेकर विचार करें कि अहो! कोई भी पर्याय निमित्त और संयोग के आधार बिना ही टिकती है और परिवर्तन करती है। एक समय भी निमित्त के बिना बदलना या टिकना उसका स्वयं का स्वभाव है। तब त्रिकालवर्ती पर्याय का भी ऐसा ही स्वभाव है, क्योंकि एक समय हो अथवा सौ समय, नियम तो नियम ही होता है।

इस प्रकार ज्ञानी सच्ची समझपूर्वक अपनी पर्याय को पर से भिन्न करके स्वयं में अभेद करता है। उसे पुण्यसंचयपूर्वक मोक्ष मिलता है। अज्ञानी थोड़े से निमित्त को मानकर पर्याय पर के कारण हुई - ऐसा मानता है। द्रव्य तथा पर्याय को भिन्न-भिन्न मानता है, अभेद नहीं मानता, अतः उसे मोक्ष नहीं होता, अपितु शुभभाव के फल में अधम पुण्य उपार्जन होने से वह संसार में ही भटकता है।

अब (इस गाथा में भी) कारणविपरीतता और फल विपरीतता ही बतलाते हैं -

अविदिंदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु पुरिसेसु।

जुट्टं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुवेसु ॥२५७॥

अर्थात् जिन्होंने परमार्थ को नहीं जाना है, और जो विषय-कषाय में अधिक हैं, ऐसे पुरुषों के प्रति सेवा, उपकार या दान कुदेवरूप में और कुमनुष्यरूप में फलता है।

गाथा २५६ में यह कहा था कि अज्ञानी जीव शुद्धात्मा के लक्ष्य से धर्म न मानकर व्रत-तपादि शुभभावों में लीन रहता है। इससे उसे पुण्यबन्ध होता है और देव अथवा मनुष्यगति मिलती है। इससे विपरीत यदि वह अज्ञानी गुरुओं की सेवा-पूजा करता हो

तो उसे अधम पुण्यबन्ध होता है। २५६ वीं गाथा में पुण्य के फल में सुदेव-मनुष्यगति की प्राप्ति कही थी।

अब, इस गाथा में कुदेव-कुमनुष्यपने की बात कहते हैं।

अज्ञानी परिपूर्ण शुद्ध स्वभाव से धर्म न मानकर पुण्य से धर्म मानता है। ज्ञान-दर्शन स्वभाव के आधार से धर्म और वीतरागता प्रगट होती है; उसे नहीं मानता। ऐसे पुरुषों के प्रति जो जीव उपकार करते हैं, उसके फल में कुदेवपना व कुमनुष्यपना मिलता है।

जो जीव शुद्धात्मा के ज्ञान से रहित हैं; वे परमार्थ से अज्ञानी ही हैं।

प्रत्येक आत्मा शक्तिरूप परिपूर्ण है और पर्याय में परिपूर्ण होने की शक्ति है; तथापि जो शुद्ध आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान से धर्म नहीं मानते और धर्म पर्याय के लिए पर या पुण्य की आवश्यकता मानते हैं, वे अज्ञानी हैं।

अज्ञानी जिस वस्तु का प्रतिपादन करता है, वह कारण विपरीतता है। आत्मा ज्ञान-दर्शन से भरा हुआ, निर्विकारी शुद्ध है, शान्तस्वरूप है। निमित्त का आत्मा में अभाव है। विकार आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं है। आत्मा अनन्त शक्तिवान परमेश्वर है; किन्तु अपने स्वरूप व ऐश्वर्य को भूलकर वह निमित्त एवं पुण्य से ऐश्वर्य मानता है और अपने आत्मज्ञान से शून्य है, अतः परमार्थ से अज्ञानी ही है।

अज्ञानी वीतरागता को प्राप्त नहीं करता, अतः विषय कषाय में अधिकता करता है।

जो जीव पुण्य से धर्म मानते या मनाते हैं। पूजा-व्रतादि से धर्म होना मानते हैं - वे अज्ञानी हैं। जो जीव शुभभाव अथवा दया-दानादि से पाप होगा - ऐसा मानते हैं, वे तो तीव्र मिथ्यादृष्टि हैं, उनकी यहाँ बात नहीं है।

दया-दानादि के भाव पुण्य हैं; किन्तु जो पुण्य को धर्म का कारण मानता है वह आत्मा को नहीं मानता, भगवान को भी नहीं मानता, उसे कदापि धर्म नहीं हो सकता, वह जीव वीतरागी दशा प्राप्त नहीं कर सकता।

अज्ञानी जीव विकार से धर्म मानता है; स्वभाव से धर्म नहीं मानता अर्थात् विषय-कषायों में ही लीन रहता है।

अज्ञानी जीव कुदेव-कुगुरु की सेवा के फल में अधमपुण्य प्राप्त करके संसार में ही परिभ्रमण करता है।

जो जीव अज्ञानी जीवों के प्रति शुभभाव करते हैं, उनकी सेवा करते हैं, पूजा, दया-दान करते हैं, उन्हें पुण्यबन्ध तो होता है; किन्तु कारण में विपरीतता होने से फल में भी विपरीतता ही होती है। इस कारण वे जीव व्यन्तर, भवनवासी जाति के निम्न देव अथवा रोगी, निर्धन मनुष्य होते हैं।

पुण्य के तीन प्रकार कहे हैं -

(१) चैतन्यस्वभाव के आदर से युक्त धर्मी जीव को शुभराग के फल में श्रेष्ठ पुण्यबन्ध होता है, उसे क्रम से नष्ट करके वह शीघ्र ही मोक्षदशा की प्राप्ति करता है।

(२) शुद्धस्वभाव के भान बिना व्रत-तपादि करें, उसे शुभभाव के फलस्वरूप मध्यम पुण्य बंधता है, और मनुष्यपना मिलता है; मोक्ष नहीं मिलता अर्थात् चारगतिरूप परिभ्रमण नहीं छूटता।

(३) स्वरूप को विपरीत माननेवाले एवं कुदेव-कुगुरु की सेवा-पूजा-दान करनेवाले को शुभ के फल में निम्न जाति का पुण्य बंधता है, जिससे कुदेव व कुमनुष्यपना मिलता है; किन्तु मोक्ष नहीं मिलता। इस प्रकार विपरीतता के कारण संसार परिभ्रमण चलता ही रहता है।

इस प्रकार चरणानुयोग में मिथ्यादृष्टि के पुण्य को यथावत् बताकर उसका फल स्पष्ट किया है।

अब, ऐसी श्रद्धा करवाते हैं कि कारण की विपरीतता से अविपरीत फल सिद्ध नहीं होता -

जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु।

कि ते तप्पडिबद्धाः पुरिसा णित्थारगा होंति ॥ २५८ ॥

अर्थात् जबकि वे विषय-कषाय पाप हैं इस प्रकार शास्त्रों में प्ररूपित किया गया है, तो उनमें प्रतिबद्ध (विषय-कषायों में लीन) वे पुरुष निस्तारक (पार लगानेवाले) कैसे हो सकते हैं ?

पाँच इन्द्रियों के विषयों में अनुरक्त जीव पाप में ही अनुरक्त हैं।

आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभावी है - ऐसे भानपूर्वक होनेवाला शुभराग क्रम-क्रम से मोक्ष का कारण बनता है। जिसे शुद्ध स्वभाव की दृष्टि नहीं है; किन्तु व्रतादि के शुभभाव हैं, उसे मोक्ष नहीं हो सकता, किन्तु सुदेव-सुमनुष्यपना मिलता है।

जिसे शुद्धस्वभाव का भान नहीं है और जो कुदेवादि के प्रति ही समर्पण करता हो, उसे तत्फलस्वरूप कुदेव-कुमनुष्यपना मिलता है। इतनी बात पिछली गाथा में कही।

अब, इस गाथा जो आत्मा का भान नहीं होने से जो शुभभाव नहीं करते हैं तथा अशुभभावरूप विषय-कषाय में ही लीन रहते हैं, वे पाप कार्य करते हैं - यह बताते हैं।

ज्ञाता-दृष्टास्वभावी आत्मा के आश्रय से कल्याण की भावना न करके व्रतादि, मान, ख्याति, चाह में ही जो अपना जीवन लगाते हैं, वह पापी है। उसे भेजनेवाले भी पापी ही हैं।

शुद्ध चैतन्यतत्त्व का आश्रय छोड़कर पाँच इन्द्रिय विषयों को भोगनेवाले अधर्मी हैं। जिसे राग की मन्दता भी नहीं है, वह जीव पापी ही हैं; क्योंकि क्रोध-मान-माया-लोभ के समस्त परिणाम पापरूप ही हैं।

अज्ञानी जीव के पास जब पुण्य का कारण ही नहीं है तो धर्म का कारण कैसे होगा ?

अज्ञानी जीवों के प्रति जो अनुराग करता है अर्थात् जो कुदेवादि को मानता है, रागी-द्वेषी-देवताओं से धर्म या पुण्य मानता है, उसका पुण्य भी पाप में परिवर्तन हो जाता है।

जिन गुरुओं को विषय-कषाय की आस हैं, ब्रह्मचर्य नहीं है, लक्ष्मी और व्यापार में लाभ दिखता है, वे सब कुगुरु हैं। पैसा आदि कमाने का भाव करना अथवा उसका उपाय बताना तो पाप ही है और पाप की अनुमोदना करनेवाला भी पापी ही है।

पैसे में पुण्य मानने से पुण्य नहीं होता। यथार्थ पुण्य भी राग को घटाने से होता है; अतः मान, कीर्ति आदि भी विषय-कषाय के पोषक होने से पाप ही हैं।

वस्तुस्वरूप की जिसे खबर नहीं है, उसे देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप का यथार्थ भान नहीं है।

(१) जिसे रागरहित अपने शुद्धस्वभाव का भान है, उसे सर्वज्ञदेव का भान है। सर्वज्ञदेव को वीतरागदशा वर्तती है। वे एक समय में तीन काल और तीन लोक को जानते हैं, उन्हें आहारादि नहीं होते, वे अठारह दोषों से रहित होते हैं।

(२) जिसे वस्तुस्वरूप का भान है, उसे गुरु की भी यथार्थ प्रतीति है। चैतन्य स्वभाव के उग्र अवलम्बन से मुनियों का तीव्र राग घट गया है और वे केवलज्ञान लेने की तैयारी में हैं। उनका राग घटने से बहुत से संयोग छूट गये हैं। उन्हें वस्त्र-पात्रादि का राग नहीं होता - ऐसा सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

अज्ञानी को सर्वज्ञ कथित वस्तु का भान नहीं है। वह केवली को आहार होना कहता है, मुनियों को वस्त्रसहित बताता है - ये सब स्वरूप से विपरीत मान्यता है। केवलज्ञान दशा में आहार लेने का मोह नहीं हो सकता तथा मुनि अवस्था में वस्त्रादि का राग नहीं होता। वस्त्रादि का राग होवे तो मुनिपना ही नहीं है। राग अथवा वस्त्रादि से मुनिपना कहना या मानना तो अज्ञानी द्वारा स्थापित वस्तुस्वरूप है, सर्वज्ञ द्वारा स्थापित नहीं।

वस्त्रादि परिग्रह, आहार-विहार, धर्माधर्म में जो जीव ठहरता है, वह पापी है। उसकी अनुमोदना या अनुराग करनेवाले जीव भी पापी ही हैं। वे संसार से पार उतरने में कदापि निमित्त नहीं हो सकते; अतः कुदेव-कुगुरु जैसे विपरीत कारण होने पर उनसे विपरीतता ही उत्पन्न होती है। मोक्षरूप फल नहीं मिलता।

अब, अविपरीत फल का कारण ऐसा जो 'अविपरीत कारण' वह बतलाते हैं-

उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु।

गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ॥ २५९ ॥

अर्थात् जिसके पाप रूक गया है, जो सभी धार्मिकों के प्रति समभाववान् है और जो गुणसमुदाय का सेवन करनेवाला है, वह पुरुष सुमार्ग का भागी होता है (अर्थात् समार्गवान् है)।

इस गाथा में सच्चे मुनिराज का स्वरूप बताते हैं। मुनिराज स्व-पर मोक्ष तथा पुण्य में निमित्त हैं। वास्तव में योग्य फल का कारण योग्य निमित्त ही होता है।

कैसे हैं महामुनिराज ?

(१) मुनिराज को मिथ्यात्वादि पाप रुक गये हैं।

शरीर की क्रिया तथा पुण्य से धर्म माननेरूप सबसे बड़ा पाप जिनके विराम हो चुका है, उन मुनिराज को अपने चैतन्यस्वभाव के आश्रय से धर्म होता है। वे शरीरादि को परपदार्थ, पुण्य-पाप को विकार तथा निर्विकारी स्वभाव को अपना मानते हैं। उनके मिथ्यात्वरूप पाप टाल गया है और संसार के अन्य भी बहुत से पापभाव विराम हो चुके हैं।

(२) नवदीक्षित मुनिराज आगे बढ़ने लगे तो उनके प्रति अन्य (पुराने) मुनिराज उल्लास रखते हैं।

मुनिराज सभी के बीच मध्यस्थ हैं। स्वयं दीक्षा लेकर अधिक काल बीत चुका हो और कोई अन्य मुनिराज अभी-अभी दीक्षा लेकर पुरुषार्थ के बल से स्थिरतापूर्वक विशेष रीति से आगे बढ़ने लगे हों तो पुराने मुनिराजों को नवीन मुनियों के प्रति ईर्ष्या नहीं वर्तती। इस मुनि को मैंने दीक्षा दी और यह मुझसे आगे बढ़ रहा है - ऐसा भाव उनको नहीं होता।

कोई मुनिराज एक करोड़ वर्ष पूर्व दीक्षा लिये हों और कोई मुनिराज अभी-अभी दीक्षा लिये हों - ऐसे नवदीक्षित मुनिराज हों अथवा पुराने मुनिराज हों, किसी मुनि के ज्ञान का उघाड़ कम या अधिक हो, कोई छठवें गुणस्थानवर्ती हों अथवा श्रेणी माँड रहे हों, किसी के दो ज्ञान हों या तीन ज्ञान, कोई चार ज्ञानधारी हों या किसी ने केवलज्ञान प्रगट किया हो - सर्वत्र मुनिराज समभाव ही रखते हैं।

नवीन मुनिराजों को आगे बढ़ता हुआ देखकर पुराने मुनिराजों को भी अन्तर से स्वयं उल्लास आता है कि अहो! आत्मा में अनन्त ज्ञानादि शक्तियाँ भरी पड़ी हैं। मैं भी पुरुषार्थपूर्वक इन नवीन मुनियों की भाँति आगे बढ़ूँ - ऐसा प्रमोदभाव उन्हें उत्पन्न होता

है। कल का दीक्षित यह मुनि आज मुझसे बड़ा हो गया है - ऐसा ईर्ष्याभाव नहीं होता। आत्मा स्वयं सर्वज्ञशक्तवान् है और पर्याय में मैं स्वयं सर्वज्ञता प्राप्त करूँगा - ऐसा पुरुषार्थ धर्मी जीवों को होता है। इस रीति से समस्त धार्मिक जीवों के प्रति उन्हें समभाव वर्तता है।

(३) ये मुनिराज सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकाग्रता स्वरूप हैं।

गुणसमूह अर्थात् ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र, वीर्य आदि गुणों को सेवते हैं। स्वभाव में रमणता करते हैं। पुण्य-पाप तथा विकार को नहीं सेवते।

परपदार्थ आत्मा से भिन्न हैं। विकार आत्मा का स्वरूप नहीं हैं। आत्मा तो ज्ञान-दर्शन शुद्धस्वरूप है - ऐसी प्रतीतिपूर्वक सम्यग्दर्शन, स्वसंवेदन ज्ञान और आत्मा की अन्तर वीतरागी स्थिरता ही एकाग्रतास्वरूप सन्मार्ग है।

जिस प्रकार सिद्ध भगवान्तों ने सिद्धपद पाया है, उसी प्रकार मुनिराज अपने एकाग्रस्वरूप मोक्षमार्ग को दर्शाते हैं। मुनिराज को सुमार्ग प्रगटा है। अन्तरस्वरूप लीनता बढ़ गई है। बाह्य-आभ्यन्तर वीतरागी नग्नदशा वर्तती है। उपकरणरूप में मात्र मयूरपीछी और कमण्डल होता है। आहार लेने का, व्याख्यान या शास्त्र रचने का अल्पराग वर्तता है। शेष अन्तर्दशा में अत्यधिक निर्मलता है।

बाह्य आभ्यन्तर निर्ग्रन्थ मुनिराज स्व-पर को मोक्ष एवं पुण्य का स्थान है।

मुनिराज स्व एवं पर को मोक्ष एवं पुण्य का स्थान दर्शाते हैं। आप शुद्धस्वभाव में अत्यधिक उग्र पुरुषार्थ करते हैं। कदाचित् अल्प राग शेष रहे तो उसके फल में पुण्य बँधता है। अन्य मुनिराज और श्रावक ऐसे ज्ञानी मुनियों के पास तत्त्व समझकर सम्यग्दर्शनपूर्वक मोक्ष प्राप्त करते हैं। यदि वे जीव मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते तो शुभभाव के फल में पुण्य बँध अवश्य करते हैं; अतः मुनिराज अन्य के लिए मोक्ष तथा पुण्य के कारण हैं।

कोई कहता है कि पञ्चम काल में मोक्ष नहीं है, किन्तु भाई! सच्ची प्रतीति तो कर! पुरुषार्थ कम होगा तो एक-दो भव का समय लगेगा; किन्तु श्रद्धान यथार्थ होना चाहिए।

मोक्ष और पुण्यरूपी फल का कारण निर्ग्रन्थ मुनि है - ऐसी प्रतीति करो।

वर्तमान में अनेक जीव वस्त्रसहित ही मुनिपना मानते हैं। वस्त्रादि अत्यधिक परिग्रह रखें तो मुनिदशा नहीं होती। मुनिराज को मोक्ष तो हथेली में दिखाई देता है। अन्तरलीनतापूर्वक उन्हें बाह्य में नग्नदशा वर्तती है।

मुनिदशा का अत्यधिकपना होने से उनका राग घट गया है, वस्त्रादि का निमित्त नहीं है; किन्तु जो शरीर से नग्न होते हुए भी बाह्यक्रिया से धर्म मानते हैं, वे मुनि नहीं हैं।

शरीर और पुण्य-पापादि से रहित आत्मा का स्वरूप है। ऐसे स्वरूप में मुनिराज एक समय में ही लीन हो जाते हैं और एक समय पश्चात् ही उन्हें शास्त्रादि रचने का महान विकल्प भी उत्पन्न हो जाता है - ऐसी मुनिदशा है। ऐसे मुनिराज स्व-पर को मोक्ष और पुण्य का स्थान दर्शाते हैं।

इससे विपरीत मुनिराज का स्वरूप माने तो फल भी विपरीत ही होता है। कुदेव-कुगुरु आदि काँटे के फल समान हैं। कुदेवादिक को माननेवाला पुण्य-पाप की ही रुचि करता है। इसका फल संसार ही है। शरीर या राग से धर्म नहीं होता। शरीर की अवस्था से धर्म होता हो तो शरीर एवं इन्द्रियों के शिथिल हो जाने पर धर्म नहीं होना चाहिए। उसी प्रकार राग के आधार से धर्म होता हो तो राग के अभाव होने पर धर्म के भी अभाव का प्रसङ्ग आवे; अतः ये समस्त बातें मिथ्या हैं।

धर्म तो पुण्य-पाप रहित चैतन्य के आश्रय से प्रगट होता है - ऐसा माननेवाला ही सच्चा मुनि है। जो सच्चे मुनिराज की श्रद्धा करता है, वह आत्मद्रव्य की सच्ची श्रद्धा करता है। वह जीव भविष्य में विशेषस्थिरता पूर्वक मोक्ष प्राप्त करता है और किञ्चित् राग रहे तो पुण्यबन्ध करता है।

इस प्रकार सच्चे फल का कारण अविपरीतता है अर्थात् सच्ची प्रतीति करने की आचार्य भगवान आज्ञा देते हैं। मोक्ष अथवा पुण्य स्वयं के परिणामों से निश्चित होता है।

यहाँ चरणानुयोग का अधिकार है, अतः मोक्षदशा में निमित्त का उपचार से कथन किया गया है।

अब, अविपरीत फल का कारण ऐसा जो 'अविपरीत कारण' है, उसे विशेष समझाते हैं -

असुभोवयोगरहिदा सुद्धवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा ।

णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥ २६० ॥

अर्थात् जो अशुभोपयोगरहित वर्तते हुए शुद्धोपयुक्त अथवा शुभोपयुक्त होते हैं, वे (श्रमण) लोगों को तार देते हैं; (और) उनके प्रति भक्तवान जीव प्रशस्त (पुण्य) को प्राप्त करता है ।

यहाँ चरणानुयोग का अधिकार है, अतः मुनिराजों की मुख्यता से बात की है । मुनि की बात में सम्यक्त्वी गृहस्थ को भी गौणरूप से स्वीकार किया है ।

मुनिराज को अशुभ परिणाम नहीं होते । उन्हें बाह्य-आभ्यन्तर निर्ग्रन्थदशा वर्तती है । निर्ग्रन्थदशा के बिना मुनिपना नहीं होता । मुनिराज कभी ध्यान में स्थिर होकर वीतरागी दशा में ठहरते हैं तो कभी पाँच महाव्रतादि के शुभ परिणामों में जुड़ते हैं । मुनिराज जगत के जीवों को तारने में निमित्त हैं । उनके प्रति भक्ति रखनेवाला जीव पुण्य को प्राप्त करता है ।

मुनि के समान सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा भी अन्य को तारने में निमित्त है ।

मुनिराज जीवों को संसार से तारने में निमित्त है - ऐसा कहा । यहाँ सम्यक्त्वी का निषेध नहीं किया गया है । यहाँ मुनिराज के प्रति विशेष बहुमान है, अतः उनकी मुख्यता से चर्चा की है । इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सम्यक्त्वी के प्रति अनादर है । सम्यक्त्वी जीव भी संसार से तारने में निमित्त है । सम्यग्दृष्टि भी एक-दो भव में मोक्ष पानेवाला है । जो पात्र जीव होते हैं, उसे संसार से तारने में सम्यक्त्वी निमित्त होते हैं ।

कोई साधु भगवान के समीप जाकर प्रश्न करे कि मेरे और इस गृहस्थ के कितने भव शेष है ?

इसके उत्तरस्वरूप भगवान की दिव्यध्वनि में आया कि इस गृहस्थ के आठ भव बाकी हैं और तुम्हारे वृक्ष स्थित पत्तों जितने भव बाकी हैं । अरे भाई ! मुनिपना स्वीकार

करने पर भी साधु को पूछना पड़े कि कितने भव बाकी हैं, तो वह मुनि ही नहीं है।

रण में उतरा राजपूत चुप नहीं बैठता उसी प्रकार स्वरूपलीनता युक्त साधु केवलज्ञान लेने की तैयारी से चूकते नहीं हैं। अन्तर में सहजदशा बढ़ गई हो तो मुनिराज को अन्तर्बाह्य निर्ग्रन्थदशा वर्तती है, फिर वस्त्र-पात्रादि का राग रहे - ऐसा नहीं होता। वस्त्रादि से युक्त अथवा आत्मज्ञान के बिना मुनिपना हो ही नहीं सकता। ऐसा जीव सर्वज्ञ का भक्त नहीं है, वह तो गृहीत मिथ्यादृष्टि है।

भावलिङ्गी मुनिराज मोक्ष में निमित्त हैं, उसमें गौणरूप से सम्यक्त्वी गृहस्थ भी आ जाते हैं। जिसे अपना हित करना है, उसे वैराग्यपूर्वक अधिकाधिक नम्रता-पात्रता लाकर बहुमानपूर्वक सर्वज्ञस्वरूप का श्रवण करना चाहिए।

शास्त्र में कहा है कि मिथ्यात्व के समान अन्य कोई पाप नहीं है। अतः हे भाई! अपने को अन्य पापों में मत बाँधो। स्वच्छन्द होकर तीव्र पाप मत करो। पात्र जीव स्वच्छन्दी नहीं होता। पाप से रहित सरल जीव ही श्रवण का पात्र होता है।

निर्ग्रन्थ मुनिराज कभी स्वरूपरमणता करते हैं तथा कभी शुभभाव में रहते हैं।

आत्मज्ञान सहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकाग्रता से युक्त परिणति जिसे प्रगटी है, वह मुनि है। छठवें-सातवें गुणस्थान में वे झूलते हैं। सिद्धसमान आंशिक आनन्द उन्हें प्रगट है। अनन्त केवली परमात्मा, अनन्त गुण-पर्याय, कर्म आदि का यथार्थ स्वरूप जानकर अपने स्वरूप में ठहरे हैं, मुनिदशा भी ऐसी ही है। मुनियों को मिथ्यात्वरूपी मोह टल गया है। आसक्तिस्वरूप राग भी टला है। वे पुण्य-पाप के भावों को बुद्धिपूर्वक टालकर शुद्धोपयोग से जुड़े हैं। उन्हें कभी उपदेश देने का, महाव्रतादि के पालन का शुभोपयोग होता है तो कभी स्वरूप के अन्तर-निर्मलता की लगन होती है। मैं साधक मुनि हूँ - ऐसे विकल्प से भी जो शान्त है, वे अपूर्वदशा को प्राप्त करते हैं।

जिन्हें अन्तर में सातवाँ गुणस्थान हो वे ही मुनिराज जब छठवें गुणस्थान में आते हैं, तब उन्हें पूर्व की अनुभूत अपूर्वता का ख्याल आता है। छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज को ऐसी दशा वर्तती है।

इस बात की प्रतीति सम्यक्त्वी को ही होती है। दया-दान अथवा यात्रा आदि से

धर्म माननेवाले मिथ्यादृष्टि जीव को इस बात का ख्याल नहीं होता। जब परपदार्थ से पुण्य हो ही नहीं सकता तो फिर धर्म कहाँ से होगा ?

शत्रुञ्जय पर्वत पर डोलीवाले चढ़ते और उतरते हैं, फिर उन्हें भी धर्म होना चाहिए; किन्तु उन्हें धर्म नहीं होता। अरे भाई! आत्मा की समझ बिना धर्म अथवा मोक्ष नहीं होता। स्व की यात्रा में ही धर्म है। यह चैतन्य ज्ञान का पर्वत है। उसका स्वरूप जानकर उसमें लीन हुए बिना संसार का नाश नहीं होगा। राग मन्द हो तो पुण्य होता है; पर वास्तव में शुभाशुभभाव अधर्म है और शुभाशुभभाव रहित आत्मा में स्थिरता धर्म है। **निर्ग्रन्थ भावलिंगी मुनिराज अन्य जीवों को मोक्ष और पुण्य में निमित्त होते हैं।**

वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाले ही सच्चे मुनिराज हैं। शुभ से धर्म माने अथवा वस्त्रसहित मुनिपना माने तो मिथ्यादृष्टि है।

भावलिङ्गी महासमर्थ मुनिराज को अन्तरदशा में अधिकता भी वर्तती है और विकल्प उठने पर उनके द्वारा शास्त्र की रचना भी हो जाती है। ऐसे मुनिराज धर्म का स्थान हैं, वे लोक को तारते हैं।

लोक को तारते हैं अर्थात् जिसकी जैसी योग्यता है, वह अपने पुरुषार्थ से वैसा फल प्राप्त करता है। यद्यपि मुनिराज उन्हें तारते हैं – ऐसा कहने में आता है, किन्तु यह उपचार का कथन है।

जो मुनिराज की भक्ति, वन्दना, वैयावृत्ति आदि करते हैं, उन्हें लोकोत्तर पुण्य बँधता है।

प्रथम गाथा में मोक्ष की चर्चा की थी, उसका निमित्त पाकर जो स्वरूप में ठहरते हैं, वे मोक्षदशा को प्राप्त करते हैं तथा साथ में रागावस्था में जो पुण्य बँधता है, वह उच्च अवस्थारूप पुण्य होता है।

तीनों काल बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रन्थ मुनिपने का एक ही स्वरूप होता है।

भावलिङ्गी मुनिराज ही यथार्थ मुनि कहलाते हैं। वर्तमान में अत्यधिक फेरफार हो रही है। लोग वस्त्रसहित तथा आत्मज्ञान बिना ही मुनिपना मानने लगे हैं, वे सब मिथ्यादृष्टि

हैं। कुन्दकुन्दाचार्यदेव स्पष्टरूप से कहते हैं कि वस्त्रसहित मुनिपना माने वह परम्परा से निगोद में जाता है। श्रीमद् राजचन्द्रजी भी कहते हैं – एक होय त्रयकाल मा परमारथनो पंथ।

एक निर्ग्रन्थपना ही सनातन मोक्षमार्ग है। श्रीमद् रायचन्द्रजी कुन्दकुन्दाचार्य को भक्तिभाव से नमस्कार करते हैं। वे कहते हैं कि हे कुन्दकुन्दादि आचार्यों! आपके वचन मात्र भी इस पामरजीव को स्वरूप में ठहरने के लिए अनुष्ठान है, उपकारभूत हैं। मैं आपको अतिशय भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

यहाँ निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनियों को नमस्कार किया है। श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव भी चरणानुयोग चूलिका के प्रारम्भ में लिखते हैं कि 'हे भाई! यथानुभूत मार्ग की प्रतीति में हम खड़े हैं, हमने यह दशा स्वानुभव से प्राप्त की है और जिसे मोक्षमार्ग चाहिए हो वह हमारे पास चले आवें। हम यहाँ खड़े हैं।' अरे भाई! देखो! कितनी दृढ़ता है।

जब मुनिराज स्वभाव में झूलते हैं, तब 'मैं मुनि हूँ, मैं आनन्द का अनुभव करता हूँ' – ऐसा विकल्प भी उन्हें नहीं आता। समकिति को भी मुनिदशा की प्रतीति है। मुनिराज का जैसा स्वरूप केवली ने कहा है, उसका सन्त आदर करते हैं, इन्द्र बहुमान करते हैं। तीनों काल यही मुनिपना है, यही मोक्षमार्ग है।

गुणस्थान शुभभाव के आधार से नहीं टिकता; अपितु शुद्ध चैतन्य के आश्रय से टिकता है।

जो समर्थ मुनिराज हैं, वे अन्य को तारने में निमित्त हैं। वे मुनिराज एक घड़ी में स्वरूपलीन होते हैं और एक घड़ी में शुभोपयोग होने पर शास्त्रादि की रचना करते हैं।

महाव्रतादि के शुभोपयोग के कारण छठवाँ गुणस्थान टिकता है – ऐसा नहीं है। छठवें में भी जितना चैतन्य का आश्रय वर्तता है, उसके कारण मुनिपना टिका है। राग के कारण गुणस्थान नहीं टिकता। राग के कारण गुणस्थान टिकता हो तो राग के नाश होते ही स्वभाव का भी नाश होना चाहिए, बल्कि राग का अभाव होने पर निश्चय से प्रगट निर्मल दशा में और अधिक निर्मलता प्रगट होती है; अतः व्यवहार से निश्चय टिका हो – ऐसा नहीं है।

मुनिराज अन्य को तारने में निमित्त हैं। उनकी भक्ति करनेवाला जीव पुण्यशाली है और स्वभाव में विशेष स्थिरता करके मोक्ष प्राप्त करता है।

यथार्थ फल का कारण भी यथार्थ ही होता है। भावलिङ्गी मुनिराजों की प्रवृत्ति सामान्य और विशेषरूप होती है – ऐसा कहें तो मुनिस्वरूप में दोरूपता प्रदर्शित होती है।

कोई किसी की सेवा नहीं कर सकता; फिर भी मुनियों की सेवा का भाव धर्मी को आता है। सेवा से उन्हें लाभ हो ही ऐसा नियम नहीं है, लाभ तो स्वयं में योग्यता हो तभी होता है। चरणानुयोग का समस्त कथन निमित्त की अपेक्षा से ही समझना चाहिए।

अब, अविपरीत फल का कारण ऐसा जो 'अविपरीत कारण' उसकी उपासनारूप प्रवृत्ति सामान्य और विशेषरूप से करने योग्य हैं ऐसा दो सूत्रों द्वारा बतलाते हैं –

दिट्ठा पगदं वत्थु अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं ।

वट्टदु तदो गुणादो विसेसिदव्वो त्ति उवदेसो ॥ २६१ ॥

अर्थात् प्रकृत वस्तु को देखकर (प्रथम तो) अभ्युत्थान आदि क्रियाओं से (श्रमण) वर्ती; फिर गुणानुसार भेद करना, ऐसा उपदेश है।

भावार्थ – यदि कोई श्रमण अन्य श्रमण को देखे तो प्रथम ही, मानो व अन्य श्रमण गुणातिशयवान् हों इस प्रकार उनके प्रति (अभ्युत्थानादि) व्यवहार करने चाहिए। फिर उनका परिचय होने के बाद उनके गुणानुसार बर्ताव करना चाहिए।

भावलिङ्गी मुनियों के रोम-रोम से वैराग्य झलकता है।

आभ्यन्तर शुद्ध आत्मा की भावना को भानेवाले बाह्य निर्ग्रन्थ निर्विकारस्वरूपी श्रमण की यहाँ चर्चा है। जिन्हें भावलिङ्ग प्रगटा है, अन्तरदशा विशेष बढ़ी है, जो वैराग्यमूर्ति है, उन मुनिराजों के रोम-रोम से वैराग्य झलकता है। अन्तर वीतरागी दशा होने पर नग्न शरीर की अवस्था भी भिन्न प्रतीत होती है।

मिथ्यात्वदशायुक्त और वीतरागदशायुक्त शरीर में फरक हो – ऐसा नहीं है। वीतरागता में निमित्त शरीररूप प्रत्येक परमाणु के पर्याय की योग्यता भी भिन्न जाति की होती है।

बहिरङ्ग लिङ्ग से अन्तर शुद्धात्मा जाना जाता है। बाह्य में नग्न दिगम्बर दशा वैराग्य सहित वर्तती है, वह वैराग्य उनके रोम-रोम से दिखाई देता है। मुनिराज को वस्त्र नहीं होते, सहज नग्नदशा होती है। उपकरणरूप में मात्र मयूरपींछी और कमण्डल के अतिरिक्त अन्य कोई परिग्रह नहीं होता - ऐसी बाह्य निर्विकारीदशा अन्तर के भावलिंग को स्पष्ट करती है। यहाँ चरणानुयोग है, अतः मुनियों के शरीर का भी वर्णन किया है।

मुनिराज को देखते ही विनयपूर्वक खड़ा होना चाहिए, उनके समझ जाकर विनयादि करना चाहिए। पश्चात् परीक्षापूर्वक मुनिराज में विशेष निर्मलता है या नहीं आदि बातों की लक्षणों से पहचान करना चाहिए। अन्यत्र कथन आता है कि मुनिराज की परीक्षा तीन दिन तक करना चाहिए, किन्तु प्रथम विनय-सत्कारादि अवश्य करो। उसके पश्चात् गुण-प्रमाण पूर्वक भेद करो - ऐसा जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है।

स्व विषय को भूलकर पर विषयों में सुख मानना अधर्मदृष्टि है।

आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है। आत्मा के श्रद्धा, ज्ञानपूर्वक रमणतारूप चारित्र से युक्त मुनिराज होते हैं। आत्मा की पहचान बिना चारित्र कैसे हो? आत्मा एक समय में तीन लोक और तीन काल को जाननेवाला पूर्ण ज्ञानस्वभावी है - ऐसी प्रथमतः प्रतीति करना चाहिए। जीव सुखी होना चाहता है किन्तु सुख किसमें है? यह बात पहले निश्चित करना चाहिए। वास्तव में पर में सुख नहीं है, अपने में ही परिपूर्ण सुख है।

अज्ञानी जीव मानता है कि पाँच इन्द्रिय विषयों को भोगने से सुख हुआ है; पर भाई! सुख स्वयं को हुआ या शरीर को? शरीर तो जड़ है, उसे सुख-दुःख नहीं हो सकता। आत्मा भ्रान्ति से उसमें सुख की कल्पना करता है। परपदार्थों से सुख हो तो अधिक पदार्थों की उपस्थिति से अधिक सुख की प्राप्ति हो और कम पदार्थों की उपस्थिति में सुख न हो; किन्तु ऐसा नहीं होता।

पर पदार्थ में सुख हो तो अन्य पदार्थों के आधार से सुख होना चाहिए; किन्तु यह जीव केवल मिथ्याभ्रान्ति करता है कि परपदार्थ मुझे सुखकर हैं। कषाय घटाकर शुभभाव करें और शुभ को कल्याण का कारण माने - ऐसा नहीं हो सकता।

अज्ञानी जीव आत्मज्ञान बिना मात्र प्रभु दर्शन से कल्याण और सुख मानकर आँखों

से प्रभु के दर्शन करता है। अरे भाई! यह तो आँख का शुभ विषय है। भगवान समवसरण में विराजते हैं, उनकी भक्ति और वाणी से हमें लाभ अवश्य होता है किन्तु स्वयं का भगवान आत्मा स्वयं में ही विराजता है।

आत्मा स्वयं शक्तिस्वरूपी तत्त्व है, किन्तु यह जीव केवल शुभभाव और पाँच इन्द्रिय विषयों में ही सुख मानता है। यही इसकी अधर्मदृष्टि है।

काम-क्रोध-मान-माया-लोभादि के परिणाम प्रत्यक्ष आकुलतावाले हैं, उनसे सुख नहीं हो सकता; अतः परपदार्थ, अशुभभाव, शुभभाव में सुख नहीं है। सुख तो स्वयं के ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में भरा है। स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान से ही सुख होता है - ऐसा न मानकर अज्ञानी जीव पर विषयों में सुख की मान्यता करता है; अतः वह मिथ्यादृष्टि, अधर्मदृष्टि है।

सुख शोधनेवाले को अपनी आत्मा की ओर दृष्टि करना चाहिए।

सुख किसमें हैं और किससे होता है? इसका यथार्थ निश्चय होना चाहिए। लक्ष्मी, परिवार, देव-शास्त्र-गुरु आदि समस्त पदार्थ साक्षात् पर हैं, उनमें सुख नहीं है। शुभभावरूप विकार में भी सुख नहीं है। यह भगवान आत्मा अनन्त शक्तिवान तत्त्व है। उसमें सुख, आनन्द, ज्ञान आदि अनन्त शक्तियाँ विराजमान हैं, जिनसे सुख की प्राप्ति हाती है। अतः आत्मा की ओर लक्ष्य करके आत्मविशुद्धि करना चाहिए।

शुद्धात्मा की ओर दृष्टि करने से सुख की उत्पत्ति होती है।

आत्मा को कैसा मानने से सुख की प्राप्ति होगी?

सभी पदार्थ (आत्मा) मिलकर आपस में सुख-दुःख भोगने लगे - ऐसा नहीं होता। आत्मा का कोई कर्ता है - ऐसा मानने से आत्मा पूर्ण सिद्ध नहीं होता। मेरी शक्ति मुझमें व्याप्त है, उसका कोई कर्ता नहीं है। पर्याय को पर का अवलम्बन नहीं है। पर्याय स्वद्रव्य का अवलम्बन लेवें तो धर्म प्रगट होता है। मेरा सिद्धपद मुझसे प्रगट होता है। परपदार्थ के अवलम्बन बिना परिपूर्ण सुख अपने स्वयं से प्राप्त होता है - ऐसी प्रतीति करना चाहिए। इस प्रतीतिपूर्वक ही चारित्र होता है। चारित्र ही धर्म है। चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन है।

आत्मा ज्ञान-दर्शन स्वभाव से पूर्ण है। अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द की पर्याय प्रगट हो - ऐसा निधीस्वरूप सुख की खान है। आत्मा की दृष्टि करने से सुख की प्राप्ति होती है, यही धर्मदृष्टि है।

उक्त प्रतीति के बिना नग्नदशा धारण करे तो चारित्र नहीं होता। आत्मा स्वयं शान्तिरूप वस्तु है, उसमें एकाग्रता होने पर शान्ति स्वतः प्राप्त होती है। स्वयं की शान्ति को स्वीकार न करके पुण्य-पाप में एकाग्र होकर शान्ति माने उसे सच्ची प्रतीति नहीं हो सकती, धर्म अथवा सुख भी नहीं होता। पुण्य-पाप के अवलम्बन से धर्मदशा या पूर्णदशा प्रगट नहीं होती। अपूर्णदशा हो वहाँ विकार और कर्मबन्धन ही होता है; अतः संसारचक्र यथावत् रहता है।

यहाँ कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि अन्य जीवों से मेरा कल्याण होगा। वास्तव में समवसरण में विराजमान भगवान की प्रार्थना करने से कल्याण होगा कि स्व आत्मा में एकाग्रता करने से कल्याण होगा ? इसका यथार्थ निर्णय जीव को है ही नहीं।

यहाँ कोई समझता है कि भगवान स्वयं आकर संसार से तिरायेंगे, अतः जब तक भगवान नहीं आते, तब तक संसार में रहो, हम संसार से नहीं तिरेंगे तो उसका दोष भगवान पर आयेगा, किन्तु ऐसा नहीं होता। जीव अपने स्वयं के कारण संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

अरे भाई ! अपने स्व भगवान आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान चारित्र से संसार से पार होता है, अन्य कोई इस संसार से तारने में समर्थ नहीं है।

आत्मा स्वयं चैतन्य वस्तु है। अपने सुख-शान्ति के लिए वह इन्द्रिय एवं शुभाशुभ भावों की ओर झुकता है; किन्तु यह अपराध है। इनसे मेरा कल्याण होगा - ऐसी मान्यता ही अधर्म है।

धर्म तो अन्तरदृष्टि के आधार से है, उसके बिना ना सम्यक्त्व होता है और ना चारित्र होता है। आत्मा के भान बिना ब्रत-तपादि सब मिथ्या हैं। अज्ञानी जीव निरर्थक ही पर की ओर लक्ष्य करके सुख और धर्म मान रहा है, अतः जिसे हित करना हो उसे निवृत्ति लेकर आत्मवस्तु का यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।

जिसने अपने आत्मा को सर्वज्ञ शक्तिवान सुखस्वरूप माना है, उसकी विपरीत मान्यता का नाश होकर परिपूर्ण सुख दशा प्रगट होती है।

मैं सर्वज्ञ शक्तिवाला हूँ - ऐसा माननेवाले जीव को -

(१) मैं पर पदार्थों को करता हूँ - ऐसी मान्यता नहीं रहती।

(२) पर पदार्थों के परिवर्तन में मैं निमित्त हूँ - ऐसी दृष्टि नहीं रहती।

(३) सब आत्मा मिलकर एक सर्वव्यापक आत्मा है - ऐसी मान्यता का नाश होता है।

(४) अपने सुख के लिए जीव परपदार्थों के आश्रित नहीं रहता।

(५) उसकी दृष्टि में विकार तथा अल्पज्ञता का निषेध वर्तता है। इस प्रकार क्रम से विभावभावों का नाश होकर वीतरागी सर्वज्ञ पद की प्राप्ति होती है।

एक मुनिराज को अन्य मुनिराज का यथायोग्य विनय करना चाहिए।

आत्मा के श्रद्धा-ज्ञानलीनतापूर्वक, जिन्हें विशेष वीतरागी दशा प्रगट हाती है, उन्हें श्रमण कहते हैं। यहाँ चरणानुयोग का अधिकार है, अतः निमित्त से कथन किया है।

एक मुनिराज अन्य मुनि की विनय नहीं कर सकते हैं, किन्तु मुनिराज स्वयं स्वभाव के प्रति इच्छुक हों तो उन्हें अन्य श्रमणों को देखकर विनय आदि का भाव आता है। वास्तव में उन्हें स्व-स्वभाव का विनय है। नग्नदशा को धारण करने से उन पर ऐसा आरोप किया गया है।

सर्व प्रथम मुनिराज को देखते ही खड़े होकर, सामने जाकर उनका आदर करना चाहिए। यह चरणानुयोग की विधि है। श्रमणों के रोम-रोम से वैराग्य झलकता है; अतः उनके प्रति बहुमान आता है।

स्वभाव की श्रद्धा हो, किन्तु स्वभाव में लीनता न हो सके तो विनयादि करना उनकी सरलता है। दोषदृष्टि की ओर उनका झुकाव नहीं है, वे तो गुणदृष्टि का ही सदैव ध्यान रखते हैं।

अन्य श्रमण के योग्य क्रियानुरूप विनयादि करते हैं, किन्तु गृहस्थ के समान

आहार-पानी की व्यवस्था नहीं करते; क्योंकि आहार-पानी की क्रिया श्रावक के योग्य है; मुनि के योग्य नहीं।

शुद्धता को बतानेवाले बाह्य वीतरागी लिङ्गस्वरूप मुनिराजों का आदर करना चाहिए, किन्तु वस्त्रसहित जीवों अथवा अज्ञानियों का आदर नहीं करना चाहिए।

एक मुनिराज अन्य मुनिराज को देखें तो सर्व प्रथम 'वे गुणवन्त हैं' - ऐसा मानकर मुनि के योग्य आदर सत्कार करना चाहिए, पश्चात् उनका परिचय होने पर गुणयोग्य आचरण करना चाहिए।

अज्ञानी जीव व्यापार आदि की परीक्षा करता है, किन्तु आत्मा या मुनि सम्बन्धी परीक्षा नहीं करता।

जिस प्रकार व्यापारी पुरुष रुपया खोटा है कि सच्चा है, यह निश्चित करने के लिए विशेषज्ञ रखता है। व्यापार अथवा व्यवहार में कोई मुझे ठग न लेवें, इसका ख्याल रखता है। साहूकार के वेष में आकर कोई ठगना चाहे तो व्यापारी चेत जाता है कि यह साहूकार नहीं है; उसी प्रकार मुनिराज कैसे हैं? यह प्रथमतः जानना चाहिए। यह जाने बिना अनादि काल से जीव ठगाता आ रहा है।

पुण्य-पापरहित शुद्ध आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान से अन्तर में वीतरागी दर्शा वर्तती है। जिसकी बाह्य नग्न दिग्म्बर दशा शुद्धता तथा वैराग्य को दर्शाती है, वे यथायोग्य मुनिराज हैं। उनके सिवाय अन्य कोई मुनिराज नहीं हैं, अतः मुनिराज की योग्य परीक्षा करना चाहिए।

परखे माणिक मोति और परखे स्वर्ण कपूर।

एक परखा नहीं आत्मा, अतः रहा दिग्मूढ़॥

माणिक, मोती, स्वर्ण आदि को सब परखते हैं, किन्तु इससे कोई लाभ नहीं है। आज तक इसने शुद्ध आत्मा को नहीं परखा है। शुद्ध आत्मा के साधक मुनिराज कैसे होते हैं? उनकी परीक्षा नहीं की है; अतः यथायोग्य मुनिस्वरूप को जानकर मुनिराज के प्रति व्यवहार करना चाहिए। गुणों की परीक्षा करना चाहिए। यदि गुण दृष्टिगत न होवें तो द्वेष मत करो; किन्तु अज्ञानियों का आदर भी मत करो।

(इस प्रकार पहला सूत्र कहकर अब इसी विषय का दूसरा सूत्र कहते हैं -)

अब्भुट्टाणं गहणं उवासणं पोसणं च सत्कारं ।

अंजलिकरणं पणमं भणिदमिह गुणाधिगाणं ॥ २६२ ॥

अर्थात् गुणों में अधिक (श्रमणों) के प्रति अभ्युत्थान, ग्रहण (आदर से स्वीकार), उपासना (सेवा), पोषण (उनके अशन, शयनादि अञ्जलि करना (विनयपूर्वक हाथ जोड़ना) और प्रणाम करना यहाँ कहा है।

प्रथमतः बाह्य में नग्नदशा आदि यथायोग्य लिङ्ग देखकर सत्कारपूर्वक गुणों की परीक्षा करना चाहिए। अपने से गुण या दीक्षा में बड़े हों तो उनको देखकर खड़े होकर 'अत्रो-अत्रो' कहना चाहिए। मुनिराज को थकान हो तो उनके पैर दबाना चाहिए। उनके आहार एवं शयन का विचार करना चाहिए। यह जगह मुनियों के लिए अनुकूल होगी या नहीं इसका भी विचार करना चाहिए। उनके गुणों की प्रशंसा करते हुए उन्हें विनयादि से हाथ जोड़कर प्रणाम करना चाहिए।

एक मुनिराज अपने से अधिक गुणयुक्त मुनिराज के प्रति आदर-सत्कारादि करते हैं।

अनादिकालीन इस सनातन मार्ग में मुनिराज बाह्य नग्न ही होते हैं, उन्हें वस्त्रादि नहीं होते। उपकरण में मयूर पींछी और कमण्डल होते हैं। वे स्वभाव के आनन्द में ही झूलते हैं। पूर्व में समस्त मुनिराज ऐसे ही थे। वर्तमान में भी महाविदेह क्षेत्र में ऐसे मुनिराज विचरण कर रहे हैं, भविष्य में भी इस प्रकार के अनन्त मुनिराज होंगे।

वास्तव में एक मुनिराज अपने से अधिक गुणयुक्त मुनि को देखकर विनय से खड़े होते हैं। उनका आदर करते हैं। गृहस्थ उनकी सेवा करते हैं। उनके आहार, पानी, शयन इत्यादि का विचार करते हैं। उनके गुणों की प्रशंसा करके विनयभाव से हाथ जोड़ते हैं। प्रणामादि विधि आचरते हैं।

यदि मुनिराज निजस्वरूप में लीन हो तो कोई विधि नहीं करना चाहिए, किन्तु शुभोपयोग में हों तो सर्वज्ञ के कहे अनुसार मुनिस्वरूप को पहचानकर उनका आदर-सत्कार करना चाहिए।

अब, श्रमणाभांसी के प्रति समस्त प्रवृत्तियों का निषेध करते हैं -

अब्भुट्टेया समणा सुत्तथ्विसारदा उवासेया ।

संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥ २६३ ॥

अर्थात् श्रमणों के द्वारा सूत्रार्थविशारद (सूत्रों के और सूत्रकथित पदार्थों के ज्ञान में निपुण) तथा संयम-तपज्ञानाढ्य, (संयम, तप और आत्मज्ञान में समृद्ध) श्रमण अभ्युत्थान, उपासना और प्रणाम करने योग्य हैं ।

(१) आगम और पदार्थों के ज्ञान में निपुण हैं ।

यहाँ सत्कार करनेयोग्य मुनिराज का स्वरूप कहते हैं ।

प्रथमतः मुनिराज को सूत्र और सूत्रकथित ज्ञान में निपुण होना चाहिए । आत्मा का ज्ञान-ध्यान करके परिपूर्णदशा प्राप्त देवाधिदेव भगवान तीर्थङ्कर की वाणी जीवों के कल्याण में निमित्तभूत है । उनकी वाणी के बिना अन्य जीवों को वस्तुस्वरूप का भान नहीं हो सकता ।

मुनियों को दिव्यध्वनि में आये हुए सूत्रों में विशारद होना चाहिए । नव तत्त्वों को जानना चाहिए । त्रिकाल शुद्ध चैतन्यमय तत्त्व ही जीवतत्त्व है, शेष समस्त तत्त्व उससे भिन्न हैं । दया-दानादि के परिणाम पुण्य तथा हिंसा-झूठ-चोरी आदि पाप हैं । ये सभी आस्रव और बन्ध के कारण हैं; अतः जो जीव पुण्य-पाप से पार आत्मतत्त्व का श्रद्धान करते हैं, उन्हें संवर-निर्जरा प्रगट होती है । इसके पश्चात् होनेवाली परिपूर्ण शुद्धदशा ही मोक्ष है ।

परिपूर्ण दशा को अनन्त जीवों ने प्राप्त किया है । यह दशा प्राप्त होने पर सिद्ध जीव पुनः संसार में नहीं आते तथा मोक्ष में जाकर एक-दूसरे को बाधा भी उत्पन्न नहीं करते - ऐसे अनन्त सिद्ध जीव हैं और भविष्य में होंगे - ऐसा मोक्षतत्त्व का स्वरूप है ।

जिस प्रकार चेतन और जड़ भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं, उसी प्रकार एक जीव अन्य जीव से भिन्न है । मोक्ष में जाकर यदि कोई जीव अन्य जीव में मिल जायें तो उसकी स्वयं की सत्ता का नाश हो जाता है, किन्तु ऐसा होता नहीं है ।

मुनिराज नवतत्त्व, छहद्रव्य को यथावत् स्वतन्त्र जानते हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता, निमित्त उपादान में कुछ नहीं कर सकता आदि बातों को यथार्थ जानते हुए वे सूत्रज्ञान में निपुण हैं। आगम में आये हुए शब्दों का बराबर अर्थ करते हैं।

(२) मुनिराज संयम, तप और आत्मज्ञान से समृद्ध हैं।

मुनिराज ने पाँच इन्द्रिय के विषयों पर जय प्राप्त की है। छहकाय की हिंसा से निवृत्त हुए हैं। वे स्वस्वरूप की सम्यक् रूप से आराधना करते हैं। शुभाशुभभावों का निरोध करके तप में आरूढ़ हुए हैं। आत्मज्ञान में समृद्ध हैं। नवतत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा करने के उपरान्त, पर तथा विकल्प से हटकर अपने शान्त स्वरूप ज्ञान में आरूढ़ हुए हैं।

हे भाई! जिन्हें नवतत्त्वों की व्यवहाररूप से भी श्रद्धा नहीं है, उनकी यहाँ बात नहीं है। प्रत्येक वस्तु अपने वर्तमानस्वरूप से स्वतः सिद्ध है। यदि वह स्वयं पदार्थरूप से नहीं हो तो उनका पदार्थपना कायम नहीं रहता। जीव परपदार्थ की क्रिया का कर्ता-भोक्ता नहीं है; अपितु मात्र ज्ञाता-दृष्टा है।

मुनिराज आत्मतत्त्व की सम्यक्प्रतीति करके निजवृत्ति के उत्थान के लिए स्वरूप में झूलते हैं। वे संयम, तप और ज्ञान में आरूढ़ हैं। नवतत्त्व की व्यवहार श्रद्धा में जो जीवतत्त्व की बात की है, वह रागसहित जीव तत्त्व की बात है। 'मैं सर्वज्ञ होनेयोग्य जीव हूँ' - ऐसी रागसहित जीवतत्त्व की श्रद्धा प्रथम होती है, किन्तु यह सम्यग्दर्शन में कारण नहीं है।

अपने शुद्धस्वभाव के जोर से किसी भी प्रकार का विकल्प न उठाते हुए स्वरूप में लीनता करनेवाला शुद्ध जीव है। वह जीव नव तत्त्वों के विकल्प से भिन्न है। इस प्रकार मुनिराज संयम, तप और ज्ञान में समृद्ध हैं। नव तत्त्वों की व्यवहार श्रद्धा तो इस जीव ने बहुत बार की है। इस श्रद्धापूर्वक वह नवमें ग्रैवेयक तक भी अननत बार गया है, किन्तु आज तक रागरहित शुद्ध जीव तत्त्व की श्रद्धा नहीं की है। अतः भाई! अब तो रागरहित शुद्ध जीव तत्त्व की श्रद्धा करो और अन्तर में लीन हो।

(३) शुद्ध आत्मा का यथार्थ ज्ञान करना ही धार्मिक क्रिया है।

हे भाई! आत्मज्ञान में ही धार्मिक क्रिया का समावेश है। जड़ पदार्थों की क्रिया

जड़ से होती है। यदि पुण्य-पाप आत्मा का स्वरूप हों तो वे आत्मा से कभी पृथक् ही नहीं होने चाहिए, किन्तु उनका अभाव होकर ही शुद्ध आत्मा प्रगट होता है। पुण्य-पाप क्षणिक उपाधि हैं; आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं।

शुद्ध आत्मा के स्वरूप में लीनता करना ही शुद्ध, धार्मिक क्रिया है। अज्ञानी पर के कार्य को अपना कार्य मानता है, किन्तु भाई! परपदार्थ स्वतन्त्र है। उसमें कोई जीव कुछ नहीं कर सकता।

मिथ्यादृष्टि को धर्म समझाने की ताकत तीर्थङ्करदेव में भी नहीं है। परपदार्थ और परक्रिया पर के लिए है। पुण्य-पाप विकृत उपाधिरूप है - ऐसा जानकर शुद्ध चिदानन्द स्वभाव के आश्रय से स्वरूप में लीनता करना ही शुद्ध क्रिया है।

धार्मिक क्रिया से युक्त श्रमण तपादि में आरूढ़ हैं - ऐसे परम मुनिराजों को देखकर अन्य मुनिराज भी खड़े होकर आदर सत्कार करते हैं। उन्हें प्रणाम करते हैं।

(४) आत्मज्ञान सहित चारित्रवाले मुनियों का योग्य आदर सत्कार करो।

मुनिराज सूत्र और पदार्थों के ज्ञान में निपुण है। प्रत्येक आत्मा भिन्न-भिन्न है। वस्तु का नवीन उत्पाद नहीं होता, इसलिए प्रत्येक पदार्थ एक दूसरे से भिन्न हैं - ऐसी व्यवहार श्रद्धा करो।

हे भाई! नवतत्त्वों का यथार्थ ज्ञान करो। रुपया-पैसा पुण्य-पाप तो धर्म का कारण नहीं होता। दया-दानादि भाव पुण्य हैं। कुछ लोग इसे पाप कहते हैं तथा कुछ जीव धर्म का कारण मानते हैं, किन्तु ये दोनों ही बातें यथार्थ नहीं हैं। पुण्य को पाप मानें अथवा पुण्य से संवर माने तो नव तत्त्वों के अभाव का प्रसङ्ग आयेगा, अतः नव तत्त्वों को यथावत् जानना चाहिए।

प्रथम विकल्परहित शुद्ध जीव का श्रद्धान-ज्ञान होना चाहिए। इसके पश्चात् विशेषलीनतापूर्वक तपादि में आरूढ़ जीवों के प्रति विशेष श्रद्धा करना चाहिए। तपादि में आरूढ़ होने पर भी यदि आत्मज्ञान नहीं हो तो वह व्यर्थ है ?

जो मुनिराज आत्मज्ञानपूर्वक तप एवं संयमादि में प्रवर्तन करते हैं, उन मुनिराजों

का आदर-सत्कार करना चाहिए। आदर करनेयोग्य वे मुनिराज भावलिङ्गी होते हैं।

जब तक, स्वस्वरूप में स्थिरता नहीं होती, तब तक अन्य मुनिराजों के प्रति आदर का विकल्प उठता है। यद्यपि मुनिराज जानते हैं कि यह शुभविकल्प है, मेरी शान्ति को नष्ट करनेवाले विष के कुम्भ है। इससे मुझे धर्म नहीं हो सकता, तथापि जब तक विकल्पयोग्य भूमिका होती है; तब तक अन्य मुनिराजों के प्रति बहुमान आये बिना नहीं रहता।

(५) आत्मज्ञानशून्य मुनिराजों का आदर-सत्कार नहीं करना चाहिए।

जिन मुनिराजों को बाह्य में नग्नदशा वर्तती है। अनेक प्रकार के तप और संयम वर्तता है, किन्तु अन्तरलीनतापूर्वक आत्मा की श्रद्धा नहीं वर्तती वे मुनि श्रमणाभास हैं। वे आदरयोग्य नहीं हैं।

जिन जीवों को नवतत्त्वों का ज्ञान नहीं है, वे मुनि भूमिका से भी अत्यन्त दूर हैं। सब पदार्थ मिलकर एक हो जाते हैं अथवा ज्योति में ज्योति मिल जाती है - ऐसी बात यहाँ नहीं है।

लोक में प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व है, यदि उसे किसी ने किया - ऐसा कहें तो पदार्थ की स्वतन्त्रता खण्डित होती है। पदार्थ को पर से स्थित कहें तो उसका अस्तित्व खण्डित होगा। प्रत्येक पदार्थ नित्य है, अतः उसका कोई कर्ता नहीं है।

पर मुझसे है और मैं पर से हूँ - ऐसा कहें तो वर्तमान में ही पराधीनता आवे और यदि एक समयमात्र को भी पराधीन माने तो त्रिकाल में पराधीनता आती है। अनादि-अनन्त काल तक समस्त पदार्थ त्रिकालरूप से स्वतन्त्र है।

‘मैं हूँ और परपदार्थ भी हैं’, ‘मैं ज्ञाता हूँ और अन्य ज्ञेय हैं’, ‘कोई पदार्थ एक-दूसरे के लिए नहीं है’ - इस प्रकार नव तत्त्व और छह द्रव्यों को जानना चाहिए।

निज आत्मा स्वयं स्वतन्त्र ध्रुव पदार्थ है - ऐसी श्रद्धा न करके जीव का लक्ष्य शुभभावों की ओर जाए तो वह श्रमणाभास है। उनका सत्कार-विनय करने का निषेध है।

अज्ञानी जीव समस्त पदार्थों को एक मानता है। ज्योति में ज्योति मिल जाती है

अर्थात् निर्वाण को समर्पण, पुण्य-पाप को धर्म का कारण मानता है, जीव-अजीव को परस्पर एक मानता है, वस्त्रसहित मुनिपना मानता है - ऐसे जीवों का समावेश तो श्रमणाभासों में भी नहीं है। इनके आदर-सत्कार की तो यहाँ बात ही नहीं है।

हमें किसी व्यक्ति से विरोध या द्वेष नहीं है। स्वयं के गुणों का बहुमान आते ही उन गुणों से युक्त जीवों के प्रति भी बहुमान आता है, किन्तु अन्य के प्रति बहुमान नहीं आता। विचार-विरोध जगत में होते हैं, पदार्थ में नहीं। अतः उस ओर लक्ष्य नहीं करना चाहिए।

वस्तुस्वरूप को यथावत् जानना चाहिए। आत्मज्ञान बिना मुनिपना हो तो वह सत्कारयोग्य मुनिपना नहीं है। वीतरागमार्ग में मुनिस्वरूप कैसा है? और कौन आदर करनेयोग्य है? उसका विवेक होना चाहिए। मूल तत्त्व को जानने में किसी के प्रति द्वेष नहीं है, किन्तु वस्तुस्वरूप का ज्ञान तो यथार्थ ही होना चाहिए। ●

(प्रवचनसार परमागम की गाथा २४६ से २६३ तक)

(सद्गुरु प्रवचनप्रसाद (हस्तलिखित दैनिक))



मोक्ष के साधनरूप शुद्धोपयोग का अभिनन्दन

सर्वज्ञ भगवान की वाणीरूप जो प्रवचन, उसका सार इस 'प्रवचनसार' में है और उसमें भी पाँच रत्नों समान अन्तिम पाँच गाथाएँ तो शास्त्र की कलगी के चूड़ामणि समान हैं; वे अरहन्तदेव के शासन का समस्त सार संक्षेप में प्रकाशित करती हैं। पहले संसारतत्त्व बतलाया, फिर मोक्षतत्त्व और मोक्ष का साधनतत्त्व बतलाया। अब, चौथे रत्न द्वारा आचार्यदेव के साधनरूप जो शुद्धोपयोग उसका सर्व मनोरथ के स्थानरूप से अभिनन्दन करते हैं -

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।
सुद्धस्सय णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमोतस्स ॥

अहो! मोक्षार्थी के सर्व मनोरथ सिद्ध होते हैं। मोक्षार्थी को अपने चैतन्य की पूर्ण शुद्धता - केवलज्ञान और सिद्धपद, इनके अतिरिक्त अन्य क्या मनोरथ होंगे? संसार सम्बन्धी कोई मनोरथ, मोक्षार्थी-धर्मात्मा को नहीं होते। अहा! आत्मस्वभाव के शान्तरस को प्राप्त करानेवाली यह बात है!

जिसमें रत्नत्रय की एकता है - ऐसा एकाग्रतारूप जो साक्षात् मोक्षमार्गभूत श्रमणपना, वह शुद्धोपयोगी को ही होता है; फिर श्रेणी चढ़ने पर उस शुद्धोपयोगी को ही केवलज्ञान तथा केवलदर्शन होता है। देखो, मोक्षार्थी जीव के मनोरथ ऐसे होते हैं! प्रथम तो शुद्ध आत्मस्वरूप को समस्त परद्रव्यों से और रागादि से भिन्न जाना है, तत्पश्चात् उसमें

शुद्धोपयोग द्वारा लीन होकर साक्षात् मोक्षमार्गी श्रमण कब बनूँ... और कब केवलज्ञान - केवलदर्शन प्रगट करके सिद्धपद को प्राप्त करूँ... ! - ऐसे सर्व मनोरथ की सिद्धि का स्थान शुद्धोपयोग है। अहो ! ऐसा शुद्धोपयोग अभिनन्दनीय है, वही मोक्ष का साक्षात् साधन है। ऐसे शुद्धोपयोग को नमस्कार हो... किस प्रकार ? कि जिसमें से स्व-पर का विभाग अस्त हो गया है - ऐसा नमस्कार... अर्थात् नमस्कार करनेवाला स्वयं ही वैसे शुद्धोपयोगरूप से परिणमित हो जाता है, इसलिए उसमें स्व-पर का भेद नहीं रहता।

साक्षात् मोक्षमार्ग तो शुद्धोपयोगरूप एकाग्रता है। जिसे शुद्धोपयोग की खबर भी नहीं है और शुभराग को साधन मानता है, उसे सम्यग्दर्शन भी नहीं होता। शुद्धोपयोग, अर्थात् चैतन्य में एकाग्रता। अहा ! अचिन्त्य-शक्तिवान, अतीन्द्रिय आनन्दमय ऐसा केवलज्ञान, वह अपने में एकाग्रता से ही होता है। एकाग्रतारूप जो शुद्धोपयोग, उसी से केवलज्ञान के मनोरथ पूर्ण होते हैं।

सहजज्ञान एवं आनन्द के प्रतीकरूप जो निर्वाण, वह शुद्धोपयोगी को ही होता है। जिसे कोई विघ्न नहीं, कोई प्रतिबन्ध नहीं, ऐसे सहजज्ञान -आनन्द की छापवाला दिव्यनिर्वाण, शुद्धोपयोगी को ही होता है और टङ्कोत्कीर्ण परमानन्ददशा में स्थित आत्मस्वभाव की उपलब्धि से गम्भीर ऐसे सिद्ध भगवान, वे 'शुद्ध' ही होते हैं; अर्थात्, शुद्धोपयोगी जीव ही उस सिद्धदशा को प्राप्त करता है।

शुद्धोपयोग में साक्षात् सिद्धपद के दर्शन होते हैं; सिद्धपद का साक्षात् साधन शुद्धोपयोग है। अहा ! शुद्धोपयोग सर्व मनोरथ की सिद्धि का स्थान है। राग में ऐसी शक्ति नहीं है कि मोक्षार्थी के मनोरथ को पूर्ण करे। निर्विकल्प प्रतीति तथा ज्ञान के बिना जिसका पार नहीं पाया जा सकता -ऐसा गम्भीर जो सिद्धपद, उसकी प्राप्ति शुद्धोपयोगी को ही होती है। ऐसा शुद्धोपयोग अभिनन्दनीय है - आदरणीय है; वह मनोरथ का स्थान है।

जिस प्रकार बालक के मन के सर्व मनोरथ माता के निकट पूरे होते हैं; उसी प्रकार मोक्षार्थी धर्मात्मा के सर्व मनोरथ शुद्धोपयोग के द्वारा पूर्ण होते हैं। व्यवहार के अवलम्बन द्वारा केवलज्ञान नहीं हो सकता; उसका साधन तो एक 'शुद्धोपयोग' ही है, अन्य नहीं - ऐसा भगवान अरहन्तदेव के शासन का सार है।

आचार्यदेव कहते हैं कि अरे ! वचन के विस्तार से अब बस होओ ! आत्मा की पवित्रता के जितने उत्तम स्थान हैं, उन सबकी प्राप्ति जिससे होती है – ऐसे शुद्धोपयोग को अभेदभाव से नमस्कार हो। आत्मा स्वयं ही जहाँ शुद्धोपयोगरूप से परिणमित हुआ, वहाँ स्वयं नमस्कार कर्ता और दूसरा कोई नमस्कार करने योग्य – ऐसा स्व-पर का विभाग नहीं रहा, शुद्धोपयोगरूप से परिणमित होकर स्वयं ही अपने में अभेदरूप से नमित हुआ, उस नमस्कार में स्व-पर का विभाग अस्त हो गया है; भाव्य-भावक दोनों अभेद हुए हैं। – इस प्रकार नमस्कार होता है; अर्थात्, साक्षात् शुद्धोपयोगरूप परिणमन होता है !

अहा, मोक्षार्थी के सर्व मनोरथ का स्थान हो तो यह एक शुद्धोपयोग ही है; उसे एक शुद्धोपयोग का ही मनोरथ है, विकल्प उत्पन्न हो, उसका मनोरथ नहीं है। शुद्धोपयोगी सन्त-मुनियों को ही सच्चा साक्षात् श्रामण्य है, शुभोपयोगी मुनियों को तो उनके पीछे-पीछे, अर्थात् गौणरूप से लिया गया है। जिन्हें शुभोपयोगी मुनि कहा, वे छट्टे गुणस्थानवर्ती भावलिङ्गी सन्त भी शुद्धपरिणतिवाले हैं; अज्ञानी को शुभोपयोग हो, उसकी बात नहीं है। छट्टे गुणस्थान में शुभोपयोगी मुनि को जितनी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धपरिणति वर्तती है, उतना ही मोक्षमार्ग है; जो शुभराग है, वह कहीं मोक्षमार्ग नहीं है। जो जीव ऐसी श्रद्धा न करे और राग को मोक्षमार्ग माने, उसे तो अभी सम्यग्दर्शन की शुद्धि भी नहीं है; जिसे मार्ग की खबर भी न हो, वह मार्ग में आयेगा कहाँ से ?

देखो, यह परम सत्यमार्ग ! भगवान सीमन्धर परमात्मा वर्तमान में भी विदेहक्षेत्र में विराज रहे हैं; वहाँ जाकर भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने आठ दिन तक दिव्यध्वनि का श्रवण किया और फिर इन शास्त्रों में परम सत्यमार्ग की रचना की है। अहा, कितना सत्य मार्ग ! कितना स्पष्ट मार्ग !! कितना प्रसिद्ध मार्ग !!! आजकल लोगों में मार्ग सम्बन्धी बड़ी गड़बड़ी चल रही है.... लेकिन क्या किया जाए ? काल ही ऐसा है ! फिर भी सत्यमार्ग तो जो है, वही रहेगा।

अरे जीव ! तू ऐसे मार्ग को पहिचान कर, उसका मनोरथ तो कर ! संसार के मनोरथ अनन्त काल तक किये; अब, इस मोक्षमार्ग को पहिचानकर उसका सम्यक् मनोरथ कर। शुद्धोपयोगी सन्त मुनिवर, सकल महिमा का स्थान हैं; सर्व मनोरथ के स्थानरूप से वे

अभिनन्दनीय हैं। मुमुक्षु के सर्व मनोरथ की सिद्धि शुद्धोपयोग द्वारा होती है; इसलिए उसका अभिनन्दन करते हुए अति आसन्नभव्य महा मुमुक्षु आचार्यदेव कहते हैं कि मैं ऐसे शुद्धोपयोग को अभेदरूप से भाकर नमस्कार करता हूँ, अर्थात् मैं उस रूप परिणमित होता हूँ। 'वाचक' जैसा परिणमित होता है, वैसा ही अन्तर में 'वाच्य' भी परिणमित हो रहा है; इस प्रकार सन्धिबद्ध अलौकिक रचना है; वाचक-वाच्य की सन्धि नहीं टूटती है।

देखो तो, मोक्षमार्ग को कैसा स्पष्टरूप से खोलकर प्रकाशित किया है -

- शुद्धोपयोग ही मोक्ष का साधन है, अन्य साधन नहीं है।
- शुद्धोपयोग ही अभिनन्दनीय है, अन्य अभिनन्दनीय नहीं है।
- शुद्धोपयोग ही मोक्षार्थी का मनोरथ है, अन्य मनोरथ नहीं है।
- मोक्ष के साक्षात् साधनरूप श्रामण्य, शुद्धोपयोगी को ही होता है, अन्य को नहीं होता।
- केवलज्ञान और केवलदर्शन, शुद्धोपयोगी को ही होता है, अन्य को नहीं होता।
- परम ज्ञानानन्दरूप निर्वाणपद-सिद्धपद, शुद्धोपयोगी को ही होता है, अन्य को नहीं होता।

अधिक क्या कहें! इतने से ही बस हो। सर्व मनोरथ के स्थानरूप ऐसे इस शुद्धोपयोग को तद्रूप परिणमनपूर्वक अभेदभाव से नमस्कार हो।

इस प्रकार, शुद्धोपयोग ही मोक्ष-साधन है - ऐसा कहकर चौथे रत्न में उसका सर्व मनोरथ के स्थानरूप से अभिनन्दन किया.... नमस्कार किया! ●



मुनिदशा में भावलिङ्ग की प्रधानता

परम पूज्य दिगम्बर जैनाचार्य कुन्दकुन्ददेव द्वारा रचित भावपाहुड़ में भावलिङ्ग की प्रधानता पर व्यापक प्रकाश डाला गया है। इसी तथ्य को स्पष्ट करनेवाले भावपाहुड़ गाथा-२ पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन इस प्रकार है —

भावो हि पढमलिंगं ण द्रव्यलिंगं च जाण परमर्थं ।

भावो कारणभूदो गुणदोसाणां जिणा विति ॥

अर्थात् भावलिङ्ग ही मुख्य है, उसे परमार्थरूप जान; द्रव्यलिङ्ग को परमार्थरूप न जान। गुण-दोष का कारण जीव का भाव है — ऐसा जिनवर कहते हैं।

प्रथम तो सम्यग्दर्शनरूप जो भाव है, वह मुख्य है; उससे रहित द्रव्यलिङ्ग परमार्थरूप नहीं है। जहाँ सम्यग्दर्शनादि भावशुद्धि होती है, वहाँ द्रव्यलिङ्ग-महाव्रतादि होते हैं, उसमें भी वह द्रव्यलिङ्ग परमार्थरूप नहीं है। भावशुद्धिरूप भावलिङ्ग ही परमार्थ है; इसलिए हे जीव! तू भावशुद्धि को ही मोक्ष का कारण जान।

मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शनादि भाव हैं। मोक्ष के साधक मुनिवरों को भावलिङ्ग और द्रव्यलिङ्ग दोनों होते हैं परन्तु उसमें मोक्ष का कारण तो भावलिङ्ग है; इसलिए वही परमार्थ है। यद्यपि वहाँ द्रव्यलिङ्ग होता अवश्य है परन्तु वह मोक्ष का वास्तविक कारण नहीं है अर्थात् वह परमार्थ नहीं है। परमार्थरूप होने से भावलिङ्ग को मुख्य अर्थात् 'प्रथम' कहा है।

पहले भावलिङ्ग प्रगट हो और फिर द्रव्यलिङ्ग हो - ऐसा 'प्रथम' का अर्थ नहीं

है परन्तु भावलिङ्ग मुख्य है, इस अर्थ में उसे प्रथम कहा है अथवा मुनि होनेवाले को पहले सम्यग्दर्शनरूप शुद्धभाव होता है, वह जीव पहले तो वैराग्य से गुरु के समीप जाकर द्रव्यलिङ्ग धारण करता है और तत्पश्चात् अन्तर के ध्यान द्वारा शुद्धोपयोग होने पर भावलिङ्ग प्रगट होता है, तब सच्चा मुनिपना होता है।

द्रव्यलिङ्ग के तीन प्रकार - (१) एक तो जिसे सम्यग्दर्शनादि नहीं हैं और बाह्य में पञ्च महाव्रत के पालनसहित नग्न दिग्म्बर द्रव्यलिङ्ग धारण किया है तो वह मिथ्यात्वसहित द्रव्यलिङ्गी है। वह नौवें ग्रैवेयक तक जाता है परन्तु उसके भव का अभाव नहीं होता; इसलिए द्रव्यलिङ्ग परमार्थ नहीं है, वह मोक्ष का कारण नहीं है। द्रव्यलिङ्ग से उसे धर्म का कोई लाभ नहीं है।

(२) जो जीव सम्यग्दृष्टि है, जिसे आत्मा का भान है और वैराग्यपूर्वक मुनिदशा की भावना से द्रव्यलिङ्ग को धारण करता है; द्रव्यलिङ्ग धारण करने के पश्चात् अन्दर मुनिदशा के योग्य शुद्धता नहीं हुई, सातवाँ गुणस्थान प्रगट नहीं हुआ तो वह सम्यग्दृष्टि जीव भी द्रव्यलिङ्गी है। यद्यपि उसे सम्यग्दर्शन के प्रताप से भव का अन्त तो हो गया है परन्तु अभी मुनिदशा नहीं हुई है। द्रव्यलिङ्ग होने पर भी उसे भावलिङ्ग नहीं हुआ; इसलिए द्रव्यलिङ्ग परमार्थरूप नहीं है, वह मोक्ष का कारण नहीं है। द्रव्यलिङ्ग के कारण उसके भव का अन्त नहीं हुआ है परन्तु सम्यग्दर्शनरूप भावशुद्धि के कारण ही भव का अन्त हुआ है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि द्रव्यलिङ्ग धारण किया; इसलिए भावलिङ्ग प्रगटेगा ही - ऐसा कोई नियम नहीं है परन्तु जहाँ भावलिङ्ग प्रगट होता है, वहाँ द्रव्यलिङ्ग होता ही है।

(३) तीसरे प्रकार में भावलिङ्गसहित द्रव्यलिङ्गवाले मुनि हैं। मुनि होनेवाले उस जीव को आत्मा का ज्ञान तो पहले से ही था और तत्पश्चात् परिणाम की उग्रता देखकर मुनिदशा की भावना से पहले द्रव्यलिङ्ग धारण किया, पश्चात् अन्दर में शुद्धोपयोग के प्रयोग से निर्विकल्प ध्यान में सातवाँ गुणस्थान प्रगट हुआ अर्थात् भावलिङ्ग हुआ, सच्ची मुनिदशा हुई। अब, उसे भी जो द्रव्यलिङ्ग है, वह कहीं मोक्ष का कारण नहीं है अर्थात् वह

परमार्थ नहीं है; जो भावशुद्धिरूप भावलिङ्ग है, वही परमार्थ है, वह मोक्ष का कारण है।

भावलिङ्गवाले मुनि को द्रव्यलिङ्ग नग्न-दिगम्बर दशारूप ही होता है। वस्त्रादि सहित दशा हो और मुनिदशा हो जाए - ऐसा नहीं होता। पहले अन्दर में सातवाँ गुणस्थान प्रगट हो जाए और फिर वस्त्रादि छोड़कर मुनि हो - ऐसा नहीं होता। वस्त्रादि सहित दशा में ज्ञानी को आत्मा का अनुभव होता है, सम्यग्दर्शन होता है परन्तु मुनिदशा नहीं होती। पहले द्रव्यलिङ्ग धारण करके अन्तर के प्रयोगपूर्वक भावलिङ्ग प्रगट करता है, भावशुद्धिसहित के द्रव्यलिङ्ग में भी वह द्रव्यलिङ्ग कहीं परमार्थ नहीं है, वह जीव का स्वरूप नहीं है। शुद्धभाव ही परमार्थ है, वह जीव का स्वरूप है।

मुनि को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भावलिङ्ग के साथ द्रव्यलिङ्ग होता अवश्य है, भावलिङ्ग के साथ द्रव्यलिङ्ग कैसा भी विपरीत हो - ऐसा नहीं होता; द्रव्यलिङ्ग योग्य ही होता है परन्तु महत्त्व भावलिङ्ग का है - यह यहाँ बतलाना है। मोक्ष का कारण भावलिङ्ग है; द्रव्यलिङ्ग नहीं। द्रव्यलिङ्ग तो परद्रव्याश्रित है, उसका तो ममत्व छोड़कर अरहन्तदेव मुक्ति को प्राप्त हुए हैं।

समयसार गाथा ४०९-४१० में कहते हैं कि अज्ञानी लोग द्रव्यलिङ्ग को मोक्षमार्ग मानकर उसका ममत्व करते हैं परन्तु समस्त अरहन्त भगवन्तों के शरीराश्रित द्रव्यलिङ्ग का ममत्व छोड़कर, शुद्धज्ञानमय होकर, आत्माश्रित दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा मोक्ष की उपासना की है। यदि देहमय द्रव्यलिङ्ग मोक्ष का कारण होता तो अरहन्तदेव उसका ममत्व छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन किसलिए करते हैं? इसलिए जिनभगवन्त तो यह कहते हैं कि द्रव्यलिङ्ग, वह वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं है तथा उसके आश्रय से मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता। वह तो शरीराश्रित होने से परद्रव्य है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है, वह आत्माश्रित होने से स्वद्रव्य है; इसलिए हे जीव! तू सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परमार्थ मोक्षमार्ग में अपनी आत्मा को जोड़। मोक्षार्थी जीवों को ऐसा एक ही मोक्षमार्ग सदा सेवन योग्य है।

यहाँ कहा है कि हे जीव! तू भाव को मुख्य जान, उसे ही परमार्थ जान। तो 'भाव' अर्थात् क्या? वह कहते हैं - सामान्यरूप से तो वस्तु के परिणाम को 'भाव' कहते हैं,

प्रत्येक वस्तु में अपना भाव होता है परन्तु यहाँ मोक्षमार्ग में 'भाव' अर्थात् जीव के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप स्वभावभाव की मुख्यता है, वही मोक्ष का परमार्थ कारण है - ऐसी भावशुद्धि से रहित सब निष्फल है, ऐसा आचार्यदेव आगे कहेंगे।

इस जगत् में जीव-पुद्गल-धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय-आकाश, और काल - ये छह द्रव्य हैं। उनमें से जीव-पुद्गल के परिणाम प्रगट लक्ष्य में आते हैं। जीव तो चेतनास्वरूप है और पुद्गल स्पर्शादिरूप जड़ है। उसका एक अवस्था से दूसरी अवस्थारूप होने को भाव कहते हैं। अब, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणाम तो जीव का स्वभावरूप भाव है, शुद्धभाव है, वह सुख का और मोक्ष का कारण है तथा राग-द्वेष-मोहरूप परिणाम, वह जीव का विकाररूप भाव है, वह अशुद्धभाव है, वह दुःख का और संसार का कारण है। परमाणु में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श - वह उसका स्वभावभाव है और उसमें स्कन्धरूप कर्म इत्यादि अवस्था होना, वह विभावभाव है। जड़ में स्वभाव हो या विभावभाव हो, उसे कुछ सुख-दुःख नहीं है; सुख-दुःख तो जीव को होता है, जड़ को सुख-दुःख नहीं होता।

सम्यक्त्वादि स्वभावभाव से जीव को सुख है और मिथ्यात्वादि विभावभाव से दुःख है; इसलिए स्वभावरूप होना और विभावरूप न होना - ऐसा जीव को उपदेश है। विभावभाव जीव को कभी सुख का अथवा मोक्ष का कारण नहीं हो सकता। अपने स्वभाव को पहचानने पर सम्यक्त्वादिरूप जो शुद्धभाव प्रगट होता है, वह सुखमय है और वही मोक्ष का कारण है। इसलिए हे जीव! तू जिनभावना द्वारा अर्थात् शुद्ध आत्मा की भावना द्वारा भावशुद्धि प्रगट कर। ●

(- आत्मधर्म, गुजराती, दीपावली अङ्क, वीर निर्वाण संवत् २०१७ से साभार)



प्रचुर स्वसंवेदन ही मुनि का भावलिङ्ग

मुनि असङ्गरूप से आत्मा की साधना करते हैं, स्वरूपगुप्त हो गये हैं। प्रचुर स्वसंवेदन ही मुनि का भावलिङ्ग है ॥ ९५ ॥

अहो मुनिदशा ! मुनि तो शरीरादि पर के तथा व्यवहाररत्नत्रयस्वरूप विकल्पों के सङ्ग से रहित, असङ्ग आत्मा की असङ्गरूप से साधना करते हैं। वस्तु स्वयं असङ्ग है; राग का भी सङ्ग उसमें नहीं है। पञ्च महाव्रत पालना तो आस्रवतत्त्व है और नग्नरूप भी जड़ -परवस्तु है। शरीरादि जड़ का सङ्ग तो त्रैकालिक आत्मा को है ही नहीं, परन्तु आस्रव का / शुभराग का भी सङ्ग शुद्धतत्त्व में नहीं है। मुनिजन असङ्गरूप से आत्मा की साधना करते हैं, स्वरूपगुप्त हो गये हैं।

श्रीअमृतचन्द्राचार्यदेव ने समयसार की 'आत्मख्याति' टीका पूर्ण करते हुए कहा है " अपनी शक्ति से जिन्होंने वस्तु का यथार्थ स्वरूप भलीभाँति कहा है - ऐसे शब्दों ने यह आत्मवस्तु का व्याख्यान अथवा समयप्राभृत शास्त्र की टीका की है; स्वरूपगुप्त (अमूर्तिक ज्ञानमात्र स्वरूप में गुप्त) अमृतचन्द्रसूरि का उसमें कोई कर्तव्य नहीं है। "

मैं तो अतीन्द्रिय ज्ञान एवं आनन्दमय निजस्वरूप में गुप्त हूँ; समयसार की टीका मैंने बनायी है - ऐसा मत समझो; वह तो शब्द-पुद्गलों से बनी है। अध्यात्मतत्त्व की ऐसी उच्च टीका भरतक्षेत्र में दूसरी कोई नहीं है, तथापि कहते हैं कि यह टीका शब्दों से बनी है; उसमें मेरा किञ्चित् कर्तव्य नहीं है। मेरा स्वरूप तो ज्ञान और आनन्द है, मैं तो उसमें गुप्त हूँ न!

पहली बात तो यह है कि माँस-मदिरा-मधु आदि, जिनमें त्रसजीवों की उत्पत्ति

होती है, वह आहार जैनों को नहीं होता। जिस अनाज और फलों में त्रसजीव हों, उन्हें जैन नहीं खाते। लेकिन त्रसजीवयुक्त आहार नहीं लेते; इसलिए धर्म हो जाता है - ऐसा भी नहीं है। त्रसजीवयुक्त आहार का भाव तो मिथ्यात्वसहित तीव्रराग है।

यह तो प्रथम भूमिका के व्यवहार की बात आयी, परन्तु ऐसा आहार छोड़ने से धर्म हो गया - ऐसा कदापि नहीं है। यहाँ तो आचार्यदेव यहाँ तक कहते हैं कि ऐसा आहार तो नहीं, परन्तु निर्दोष आहार लेने या टीका रचने का विकल्प भी 'मैं' नहीं हूँ। मैं तो स्वरूपगुप्त ज्ञानानन्दस्वरूप निर्विकल्प वस्तु में गुप्त हूँ।

मुनि कैसे होते हैं ? उसका सच्चा ज्ञान तो होना चाहिए। अहा ! मुनिराज स्वरूपगुप्त हो गये हैं; भीतर आनन्दकन्द में झूलते हैं। कहते हैं न, टीका की रचना में मैं अकिञ्चित्कर हूँ। यह किञ्चित् भी मेरा कार्य नहीं है। जगत् में किसी के पास समझाने की योग्यता हो, भाषा जरा अच्छी हो, दो-चार ग्रन्थ बनाएँ हों तो मान बैठते हैं कि हमने धर्म की बहुत प्रभावना की है।

वस्तुतः तो जो अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुररूप से अनुभव करते हों, उन्हें भावलिङ्गी दिगम्बर मुनि कहते हैं। वस्त्रसहित मुनिपना मानना मिथ्यात्वभाव है। मार्ग तो ऐसा है भाई! यह सुनकर किसी को दुःख लगेगा, परन्तु सत्य तो यही है, वस्तुस्वरूप ऐसा ही है प्रभु! वस्त्रसहित मुनिपना माननेवालों को तो गुरु के सच्चे स्वरूप का भी पता नहीं है; वे तो गृहीत मिथ्यादृष्टि अजैन हैं। किसी को दुःख हो तो क्षमा करना! हम तो वही कहते हैं, जो वस्तु का सच्चा स्वरूप है और जो हमारे अन्तर से आ रहा है।

पद्मनन्दि आचार्य पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका में ब्रह्मचर्य की बात विस्तार से कहकर फिर कहते हैं 'हे युवकों! मैंने तुमसे जो ब्रह्मचर्य की बातें कही हैं, वे अच्छी न लगें तो क्षमा करना। मैं तो मुनि हूँ, मुझसे अन्य क्या आशा रखोगे ? मैं तो वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा ही कहूँगा।'

अहा ! स्वरूपगुप्त ऐसे नग्न दिगम्बर मुनिवर को विकल्प आया और उन्होंने ब्रह्मचर्य की बात समझायी। यह बात किसी को अच्छी न लगे और कहे - 'विषय में प्रत्यक्ष आनन्द लगता है फिर भी मुनि यह कैसी बात करते हैं ?' परन्तु भाई ! तुझे भ्रान्ति के कारण बाह्यवस्तु / विषय में मिठास लगती है; वास्तव में मिठास विषय में नहीं है

किन्तु अन्तर-आनन्द में है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि को भी, जब तक मुनिपना नहीं आया, तब तक राग भी है और भोग भी है। सम्यक्त्व होने पर भी भोग होते हैं, विषय की वासना भी उठती है परन्तु ज्ञानी उस विकल्प को दुःख जानते हैं, ज़हर मानते हैं। अहा! मैं तो अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्दामृत का कूप हूँ, सागर हूँ; उससे भ्रष्ट होकर अरे रे! मैं दुःख में कहाँ आ पड़ा? सम्यग्दर्शन होने पर, थोड़ा अतीन्द्रिय आनन्द तो है परन्तु जितना राग में आ गया, उतना मैं दुःख में आ गया, ऐसा ज्ञानी मानते हैं।

जैसा श्रीपद्मनन्दि आचार्यदेव ने कहा है कि अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप ब्रह्मचर्य की बात तुझे अच्छी नहीं लगे तो क्षमा करना; उसी प्रकार श्रीअमृतचन्द्राचार्यदेव ने कहा है कि शब्दों ने टीका बनायी है; टीका की रचना में मेरा अकिञ्चित्करण है।

यह बात किसी को ठीक न लगे और कहे - “नहीं, नहीं, टीका तो आपने रची है और कहते हैं कि ‘स्वरूपगुप्त हूँ।’ पहले तो ऐसी टीका नहीं थी!” - इस प्रकार कहने पर मानो आचार्य अमृतचन्द्रदेव कहते हैं कि - ‘टीका की रचना में मेरा अकर्तापना होने की बात तुझे अच्छी न लगे तो क्षमा करना। हम तो स्वरूपगुप्त मुनि हैं।’

मुनि का भावलिङ्ग, भाववेष क्या है? आत्मा का रागरहित प्रचुर स्वसंवेदन। समयसार की पाँचवीं गाथा की टीका में ‘निजवैभव’ की व्याख्या करते हुए कहा है कि ‘निरन्तर झरता; आस्वाद में आता, सुन्दर आनन्द की छापवाला प्रचुर संवेदनस्वरूप स्वसंवेदन, उससे मेरे निजवैभव का जन्म हुआ है।’ यद्यपि सम्यक्त्वी धर्मात्मा को भी प्रथम भूमिका का अतीन्द्रिय आनन्द अंशतः आता है, तथापि मुनि को प्रचुर आनन्द का अनुभव होता है। प्रचुर स्वसंवेदन ही मुनि का भावलिङ्ग है। ‘ही’ कहकर अबाधित नियम अर्थात् सम्यक् एकान्त किया है। अन्तर में आनन्द का विशेष वेदन होना, मुनि का बाह्य नहीं, किन्तु अभ्यन्तर वेष है। बाह्य में नग्नता तथा पञ्च महाव्रतादि के विकल्प होते हैं - ऐसा प्रचुर स्वसंवेदन हो और बाह्य में वस्त्रसहितपना हो - ऐसा कदापि नहीं हो सकता। वस्त्ररहितपना और पञ्च महाव्रत के विकल्प, मुनि का परमार्थ वेष नहीं है, वह तो बाह्य निमित्त है। ऐसे निमित्त होते हैं परन्तु उनमें मुनि का प्रचुर स्वसंवेदन रहा है - ऐसा नहीं है। प्रचुर स्वसंवेदन तो मुनि के अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप जो प्रचुर संवेदन है, वही है। ●

अध्यात्म का सूक्ष्म रहस्य भावलिङ्ग भी जीव का परमार्थ स्वरूप नहीं

स्त्री, पुत्र, मित्र, धनादि तो कहीं रहे, परन्तु नग्न दिगम्बरदशा भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। अरे! सच्ची भावलिङ्गदशा, आनन्द के सागर में कल्लोल करती भावलिङ्गदशा भी परमसूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय से जीव का वास्तविक स्वरूप नहीं है; उसे उपचार से आत्मा का स्वरूप कहा जाता है - ऐसा कहकर निमित्त की, राग की; अरे! निर्विकल्पपर्याय की भी दृष्टि छुड़ाकर, द्रव्यदृष्टि करायी है।

भगवान् ज्ञानस्वरूप आत्मा, जो कि सम्यग्दर्शन का विषय है, उसमें दिगम्बर, श्वेताम्बर, बौद्ध आदि कोई भी वेश नहीं है। आत्मा, ज्ञानस्वरूप चैतन्यसूर्य, ज्ञान का नूर है। ऐसे आत्मा को ध्यानी मुनि, ध्यानारूढ़ होकर ध्याते हैं। वह आत्मा एक भी वेश का धारी नहीं है। व्यवहारनय से आत्मा द्रव्यलिङ्ग धारण करता है तो भी निश्चयनय से वह देह का है; आत्मा का नहीं। जीव को देह ही नहीं है; इसलिए द्रव्यलिङ्ग भी जीव को नहीं है।

जिससे अनन्त आनन्द की प्राप्ति हो - ऐसी निर्विकल्प समाधि, वह निश्चयमोक्षमार्ग है, उससे मुक्ति प्राप्त होती है। व्यवहारमोक्षमार्ग से मोक्ष नहीं होता। राग में आत्मा दूर था, निश्चयमोक्षमार्ग में आत्मा समीप में आया है परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि निश्चयमोक्षमार्ग भी पर्याय है; इसलिए उसे उपचार से जीव का कहते हैं। शरीर की क्रिया अथवा व्यवहाररत्नत्रय तो उपचार से भी जीव का नहीं है। तीन लोक का तिलक, ऐसा भगवान्

आत्मा, जिस निर्मल वीतरागी ध्यान की पर्याय में ज्ञात होता है, उस ध्यान की पर्याय को उपचार से आत्मा का स्वरूप कहते हैं।

त्रिकाली वस्तुस्वभाव के सन्मुख होकर, जो निर्विकल्प शान्ति की दशा प्रगट हुई है, वह उपचार से आत्मा का स्वरूप है। प्रभो! एक बार सुन तो सही! यह मनुष्यभव प्राप्त हुआ है तो इस मनुष्यभव में क्या करना है? चिदानन्द प्रभु के ध्यान द्वारा जो वीतरागी समाधि प्रगट हुई, वह साधकदशा भी उपचार से आत्मा का स्वरूप कही जाती है, ऐसा जो परमोत्कृष्ट परमात्मा है, वह मैं हूँ – ऐसा निर्णय करना।

अरे! यह तो भाग्यशाली के कान में पड़े – ऐसी दुर्लभ बात है। जिन्दगी चली जा रही है। देह की स्थिति पूर्ण होने का काल निश्चित है, उसमें करने योग्य कार्य यही है। देह में सुख नहीं है; अनुकूल संयोगों में सुख नहीं है; दया, दान, व्रत, भक्ति में अथवा व्यवहाररत्नत्रय में सुख नहीं है। आनन्द के नाथ निज परमात्मतत्त्व की दृष्टि करना, महिमा लाकर उसका स्वीकार करना ही करने योग्य है। ज्ञान में लक्ष्य में तो लेता है कि वस्तु ऐसी है, फिर प्रयोग कर।

नग्नपना – द्रव्यलिङ्ग तो सर्वथा आत्मा का नहीं है परन्तु जो मोक्षमार्ग है, जो जिनशासन है, वह भावलिङ्गदशा, जो कि शुद्ध पूर्णानन्द की प्राप्ति में साधक है, उसे भी उपचार से आत्मा का स्वरूप कहा जाता है। ऐसा कहकर निमित्त का लक्ष्य छुड़ाया है, राग का लक्ष्य छुड़ाया है; अरे! निर्विकल्प मोक्षमार्ग की पर्याय का भी लक्ष्य छुड़ाया है।

त्रिकाली स्वरूप के सन्मुख होकर जो वीतरागी परिणति प्रगट हुई है, वह भी उपचार से आत्मा का स्वरूप है – ऐसा यहाँ कहा है। तब देह की क्रिया अथवा दया, दान, भक्ति तो आत्मा का स्वरूप कहाँ रहा? तब फिर स्त्री-पुत्र, भाई-बहिन अथवा स्नेही-सम्बन्धी आत्मा के हैं – यह बात भी कहाँ रही? भगवान् आत्मा आनन्द से भरपूर है। स्वसंवेदन ज्ञान से आनन्द का अनुभव होता है, वह आनन्द की परिणति भी आत्मा का स्वरूप उपचार से है। मोक्ष का सच्चा उपाय; अर्थात्, साधकदशा भी उपचार से आत्मा की कहलाती है तो फिर दूसरी कौन वस्तु आत्मा की होगी?

उपचार तब कहलाता है कि मुख्य का जिसमें अभाव हो; अर्थात्, मुख्य ऐसे

पूर्णानन्द के नाथ में निर्विकल्प भावलिङ्गदशा का अभाव होने से और वह शुद्धात्मस्वरूप को साधनेवाली होने से, उसे उपचार से आत्मा का स्वरूप कहा है।

स्वसन्मुख देखने पर जो पर्याय उत्पन्न होती है, वह भी वास्तविक जीव नहीं, किन्तु उपचरित जीव है।

परद्रव्य तो आत्मा का स्वरूप नहीं है। राग तो तेरा नहीं है परन्तु निर्विकल्प मोक्षमार्ग की दशा भी तेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है; वह भी उपचार से आत्मा का स्वरूप है। यहाँ तो दृष्टि का विषय बताया है; इसलिए दृष्टि के विषय में पर्याय नहीं है, वह यहाँ बताया है। सम्यग्दर्शन का विषय सम्यग्दर्शन नहीं है। दृष्टि का विषय तो दृष्टि बिना का अर्थात् पर्यायरहित द्रव्य है, फिर भी निश्चयमोक्षमार्ग साधक होने से उसे सदभूत उपचारनय से जीव का स्वरूप कहा है।

मोक्षमार्ग की पर्याय जितना तो नहीं है परन्तु परमात्मा की पर्याय अर्थात् पूर्ण पर्याय जितना भी आत्मा नहीं है। तू तो निर्विकल्प त्रिकालीध्रुव वस्तु है। परमपारिणामिक स्वभावभाव ध्रुववस्तु, वह निजपरमात्मा है। आत्मा, स्वयं परमात्मा है। निश्चयमोक्षमार्ग की पर्याय आत्मा की है — ऐसा उपचार से कहा जाता है।

द्रव्य कैसा है? उसकी प्रतीति पर्याय में आयी है परन्तु द्रव्य स्वयं पर्याय में नहीं आया है। द्रव्य कितनी शक्तिवाला है? उसका ज्ञान, पर्याय में आया; परन्तु द्रव्य, पर्याय में नहीं आया। इस प्रकार पर्यायमात्र में द्रव्य नहीं आता; इसलिए निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उपचार से आत्मा का स्वरूप कहा जाता है तो भी परमसूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय से वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। निश्चयमोक्षमार्ग की पर्याय भी व्यवहार से आत्मा है। त्रिकाली ध्रुव परमात्मा ही निश्चय आत्मा होने से उसे दृष्टि में लेने योग्य है। ●

[श्रीपरमात्मप्रकाश, गाथा 88 पर दिनांक 18-8-1976 को पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन, आत्मधर्म (गुजराती), वर्ष 33, अङ्क 12]

मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी मुनि की भूल क्या ?

मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी और सम्यग्दृष्टि गृहस्थ में क्या अन्तर है ? मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी की वास्तविक भूल क्या है ? सम्यग्दृष्टि श्रावक की प्रशंसा योग्य बात क्या है ? इत्यादि ज्वलन्त प्रश्नों का समाधान पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस प्रवचन में उपलब्ध है।

‘गृहस्थाश्रम में सम्यक्त्वी ने मूल को पकड़ लिया है, दृष्टि अपेक्षा से सब कुछ कर लिया है, अस्थिरतारूप शाखाएँ-पत्ते जरूर सूख जाएँगे।’

गृह-संसार में स्थित सम्यग्दृष्टि ज्ञानी ने राग से भिन्न अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ का, निज ज्ञायक परमात्मा का अनुभव कर लिया है, मूल को पकड़ लिया है। दृष्टि में त्रैकालिक पूर्ण ज्ञायक परमात्मा का आश्रय लिया है; इसलिए दृष्टि अपेक्षा से उसने सब कर लिया है। अब, जो अस्थिरतारूप विभाव है, वह मूल को पकड़ लेने के कारण अवश्य मिट जाएगा। दूज का उदय हुआ है तो १३ वें दिन पूर्णिमा अवश्य होगी ही।

जिस प्रकार मूल काट देने से इमली के लाखों पत्ते सूखकर झड़ जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं; उसी प्रकार सम्यग्दर्शनरूपी कुठार द्वारा मिथ्यात्वरूपी मूल का छेदन करने से, काट देने से अस्थिरतारूपी शाखाएँ और पत्ते अल्प काल में सूख जाएँगे। अपनी निर्बलता से अस्थिरता का दोष बना हुआ है; चारित्रमोहनीय कर्म के कारण नहीं। सम्यग्दर्शन और आत्मानुभूति के द्वारा संसारवृक्ष के मिथ्यात्वरूपी मूल का छेदन किया होने से, अस्थिरतारूपी चारित्र का दोष अल्प काल में; अर्थात्, एक-दो भव में टलकर पूर्ण केवलज्ञानदशा प्रगट होगी।

‘द्रव्यलिङ्गी साधु ने मूल को ही नहीं पकड़ा है, उसने कुछ किया ही नहीं है।’

मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी मुनि ने पञ्च महाव्रत पाले, घोर परीषह सहन किये, परन्तु अपने मूल ज्ञायकस्वभाव को नहीं पकड़ा; राग को ही पकड़ा है; इसलिए कुछ भी आत्महित नहीं किया है।

श्रीरत्नकरण्ड श्रावकाचार में ऐसे द्रव्यलिङ्गी साधु की अपेक्षा गृहवासी सम्यग्दृष्टि को उत्तम कहा है —

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥

मिथ्यादर्शनरहित गृहस्थ मोक्षमार्गी है परन्तु मिथ्यादर्शनसहित द्रव्यलिङ्गी मुनि मोक्षमार्गी नहीं है; संसारमार्गी है। मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी मुनि की अपेक्षा, निर्मोही(सम्यग्दृष्टि) गृहस्थ श्रेष्ठ है।

श्रीप्रवचनसार में, जिस साधु ने अन्तर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग प्रगट किया है, उसे ‘मोक्षतत्त्व’ और राग के कण को भी अपना माननेवाले द्रव्यलिङ्गी साधु को ‘संसारतत्त्व’ कहा है।

अन्तर में ध्रुव ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से जिसे मोक्षमार्ग हुआ, उसे मोक्षतत्त्व कह दिया और जिसने बाह्य से नग्नपना ले लिया, महाव्रतों का पालन किया, परन्तु अन्तर में शुभराग की मिठास रह गई, उसे संसारतत्त्व कहा है, क्योंकि उसने मूल ज्ञायकद्रव्य को ही नहीं पकड़ा। बाह्य आचरण पाले, परन्तु वास्तव में उसने आत्महित किञ्चित् भी नहीं किया है।

‘बाह्य दृष्टिवाले लोगों को ऐसा भले ही लगे कि सम्यक्त्वी को अभी बहुत बाकी है और द्रव्यलिङ्गी मुनि ने बहुत कर लिया, परन्तु ऐसा नहीं है।’

बाह्य दृष्टिवाले लोगों को भले ऐसा लगे कि सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को अभी बहुत करना बाकी है और द्रव्यलिङ्गी साधु, शरीर से यावज्जीवन ब्रह्मचर्य का पालन करता है, हजारों रानियों का त्याग किया है; इसलिए उसने बहुत कर लिया, परन्तु ऐसा नहीं है।

‘परीषह सहन करे, किन्तु अन्तर में कर्तृत्वबुद्धि नहीं टूटी; आकुलता का वेदन होता है, उसने कुछ किया ही नहीं।’

द्रव्यलिङ्गी मुनि को राग की मन्दता है परन्तु अन्तर से उसका कर्तृत्व नहीं छूटा है। राग का अंश भले ही मन्द हो परन्तु उसके साथ एकताबुद्धि होने से आकुलता का वेदन बना रहता है; आनन्द का वेदन अंशतः भी प्रगट नहीं हुआ है।

भरत चक्रवर्ती गृहस्थाश्रम में थे, छह खण्ड का राज्य था परन्तु अन्तर में अपने ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति और अनुभव था, स्वरूपस्थिरता अभी बहुत बाकी थी, तथापि वे मोक्षमार्गी थे। श्री ऋषभदेव भगवान का मोक्ष होने पर, ‘अरेरे! भरतक्षेत्र से केवलज्ञानी तीर्थङ्कर सूर्य अस्त हो गया’ — ऐसे भक्तिभाव से हृदय भर आने पर, भरत चक्रवर्ती को भगवान के विरह का रुदन आता है परन्तु उस राग को तथा रुदन की क्रिया को वे परज्ञेयरूप जानते हैं; वे अन्तर से राग की तथा रुदन की क्रिया के कर्ता नहीं हैं।

द्रव्यलिङ्गी मुनि भले रोये नहीं, तथापि राग के साथ एकत्वबुद्धि होने से अन्तर में कर्तृत्व भावना टूटी नहीं है। खेद का वेदन होता है; परीषहादि सहन करने पर भी उसने कोई आत्महित नहीं किया है। दृष्टि और दृष्टि के विषय की बलिहारी है प्रभु! सम्यग्दर्शन अर्थात् क्या है? उसका लोगों ने मूल्याङ्कन नहीं किया है।

जिसे दृष्टि के विषयभूत पूर्णानन्द प्रभु की प्रतीति हुई, उसे बहुत करना बाकी है और जिसे उसकी अन्तर प्रतीति नहीं है, ऐसे द्रव्यलिङ्गी ने बहुत कर लिया है — ऐसा बाह्यदृष्टिवन्त लोगों को लगता है परन्तु भाई! राग के साथ एकता नहीं तोड़ी; इसलिए द्रव्यलिङ्गी ने कुछ भी नहीं किया है, उसे तो सब कुछ करना बाकी है।

गृहस्थाश्रम में स्थित अविरत सम्यग्दृष्टि को अन्तर्मुखतासहित, भगवान ज्ञायक आत्मा का स्वीकार; अर्थात्, विश्वास, ज्ञान और अनुभव हुआ है, पर्याय में शुद्धि और शान्ति का स्वाद आया है; अज्ञानी द्रव्यलिङ्गी को अन्तर्मुख दृष्टि नहीं होने से, किञ्चित् भी अतीन्द्रिय शान्ति का स्वाद नहीं आता। भाई! द्रव्यलिङ्गी साधु को अन्तर से कर्तृत्वबुद्धि नहीं छूटी है, अन्तर में शान्ति का अनुभव नहीं हुआ है, वह तो तू देखता नहीं है और ‘उसने बहुत कर लिया, बहुत कर लिया’ — ऐसा तूने किस प्रकार मान लिया? उसने आत्मा का कुछ किया ही नहीं है, जिनसे भवभ्रमण बना रहे — ऐसे ही भाव किये हैं।

प्रश्न:—द्रव्यलिङ्गी को सात प्रकृतियों का क्षय हो सकता है ?

उत्तर:— हाँ! द्रव्यलिङ्गी साधु के तीन प्रकार हैं — (१) मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी ।
— भीतर परिणाम में मिथ्यात्व हो और बाह्य में मन्दकषाय के बल से मुनिपने का आचरण निर्दोष हो, शुक्ललेश्या हो और वहाँ से मरकर नववें ग्रेवेयक तक जाता है ।

(२) अविरत सम्यग्दृष्टि द्रव्यलिङ्गी — पहले अज्ञानदशा में मन्दकषाय के जोर से मुनिपना ले लिया हो और फिर सम्यग्दर्शन प्राप्त किया हो, परन्तु अन्तर से तीन कषाय-चौकड़ी के अभावस्वरूप संयम के योग्य पुरुषार्थ न चलता हो, उसे भी द्रव्यलिङ्गी कहा जाता है; ऐसे सम्यग्दृष्टि द्रव्यलिङ्गी को केवली अथवा श्रुतकेवली के पादमूल में दर्शनमोहनीय की सात प्रकृतियों का क्षय हो सकता है ।

(३) देशविरत सम्यग्दृष्टि द्रव्यलिङ्गी — ध्रुव ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से अन्तर में दो कषाय-चौकड़ी के अभावस्वरूप शुद्धपरिणति हुई है परन्तु बाह्य में मुनिपने की क्रिया निर्दोष पालन करने पर भी अन्तर में मुनिदशा के योग्य शुद्धि का पुरुषार्थ नहीं चलता, उसे भी द्रव्यलिङ्गी कहा जाता है, उसे भी सात प्रकृतियों का क्षय हो सकता है ।

इसका आधार लेकर लोग कहते हैं कि देखा, द्रव्यलिङ्गी साधु भी पूज्य है परन्तु भाई! कौनसा द्रव्यलिङ्गी ? जिनके अन्तर में राग से भिन्न ज्ञायक आत्मा की अनुभूति हुई है, अन्तर में चौथे-पाँचवें गुणस्थान की शुद्धि वर्तती है और बाह्य में मन्दकषाय बढ़ जाने से मुनिदशा के योग्य आचरण करते हैं, उन्हें भी द्रव्यलिङ्गी साधु कहा जाता है ।

जिसको अन्तर में आत्मा की प्रतीति नहीं है और बाह्य में नग्नदशा धारण कर ली है, २८ मूलगुण के पालन का ठिकाना नहीं है, मुनि के लिए बनाये गये आहार-जल लेता है, चौके लगवाता है, वह तो शुद्ध द्रव्यलिङ्गी भी नहीं है; वह पूज्य कैसे हो सकता है ? पण्डित टोडरमलजी 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में कहते हैं: '....द्रव्यलिङ्गी विषयसेवन छोड़कर तपश्चरणादिक करता है, तथापि वह असंयमी है, सिद्धान्त में असंयत तथा देशसंयत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा भी उसे हीन कहा है, क्योंकि उसके तो चौथा-पाँचवाँ गुणस्थान है, जबकि इसके तो पहला ही गुणस्थान है ।'

प्रश्न — भावलिङ्गी की अपेक्षा उसे हीन कहो, परन्तु गृहस्थ संसारी सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा उसे हीन कैसे कहा जाएगा ?

उत्तर — अविरत सम्यग्दृष्टि को कषायों की प्रवृत्ति तो है परन्तु श्रद्धान में उसे कोई भी कषाय करने का अभिप्राय नहीं है, जबकि मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी साधु को शुभराग करने का अभिप्राय होता है, श्रद्धान में शुभकषाय को भला भी जानता है। इसलिए श्रद्धान अपेक्षा से असंयत सम्यग्दृष्टि से भी उसे अधिक कषाय है; इसलिए वह उससे हीन है।

प्रश्न — सम्यग्दृष्टि तो द्रव्यलिङ्गी को अपने से हीनगुणसहित मानता है तो वह उसकी भक्ति क्यों करता है ?

उत्तर — द्रव्यलिङ्गी को व्यवहारधर्म का साधन बहुत है तथा भक्ति करना, वह भी व्यवहार ही है। जैसे, कोई धनवान न हो परन्तु कुल में बड़ा हो तो उसे कुल-अपेक्षा से बड़ा जानकर उसका आदर-सत्कार किया जाता है; उसी प्रकार स्वयं सम्यक्त गुणसहित है, परन्तु यदि कोई व्यवहारधर्म में प्रधान हो तो व्यवहारधर्म की अपेक्षा से उसे गुणाधिक मानकर उसकी भक्ति करता है — ऐसा समझना।

भले अन्तर में मिथ्यात्व हो परन्तु यदि बाह्य में २८ मूलगुण शुद्ध हों, प्ररूपण आगमानुसार शुद्ध हो तो वह व्यवहार से पूजनीय कहलाता है परन्तु जिसका व्यवहार भी शुद्ध नहीं है, २८ मूलगुण का पालन भी बराबर नहीं है तो वह सच्चा द्रव्यलिङ्गी भी नहीं है, वह पूजनीय कैसा ?

यहाँ कहते हैं कि शुद्ध ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से सम्यक्त्व हुआ और अब उसी के उग्र आश्रय से सच्चा मुनिपना प्रगट होगा; कोई व्यवहार के क्रियाकाण्ड में अथवा शुभभाव में बढ़ जाए तो मुनिपना आयेगा — ऐसा नहीं है। सम्यग्दृष्टि द्रव्यलिङ्गी मुनि को त्रैकालिक ज्ञायकस्वरूप के आश्रय से अन्तर में चतुर्थ गुणस्थान जितनी शुद्धि है और बाह्य में क्रिया साधुपने की है; वहाँ वे ऐसा नहीं मानते कि इन महाव्रतादि के शुभभावों से अथवा बाह्यक्रिया से मैं आगे बढ़ूँगा। जिस ध्रुव ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से सम्यक्त्व हुआ, उसी के विशेष आश्रय से शुद्धि की वृद्धि अर्थात् मुनिदशा प्रगट होती है। ●

(- वचनमृत प्रवचन, भाग २ से साभार)

द्रव्यलिङ्गी मुनि का अयथार्थ तत्त्वार्थश्रद्धान

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र में अनेक स्थानों पर द्रव्यलिङ्गी मुनि का सन्दर्भ लिया है, उनमें से तीन स्थलों पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मार्मिक प्रवचन यहाँ प्रस्तुत हैं।

..... राग-द्वेष मोहरूप जो आस्रवभाव है, उनका तो नाश करने की चिन्ता नहीं और बाह्यक्रिया अथवा बाह्यनिमित्त मिटाने का उपाय रखता है, सो उनके मिटाने से आस्रव नहीं मिटता।

द्रव्यलिङ्गी मुनि (१) अन्य देवादिक की सेवा नहीं करता, (२) हिंसा या विषयों में नहीं प्रवर्तता, (३) क्रोधादि नहीं करता, (४) मन-वचन-काय को रोकता है, तथापि उसके मिथ्यात्वादि चारों आस्रव पाये जाते हैं।

तथा कपट से भी वे कार्य नहीं करता है; कपट से करे तो ग्रैवेयकपर्यंत कैसे पहुँचे? इसलिए जो अन्तरङ्ग अभिप्राय में मिथ्यात्वादिरूप रागादिभाव हैं, वे ही आस्रव हैं। उन्हें नहीं पहिचानता; इसलिए इसके आस्रवतत्त्व का भी सत्यश्रद्धान नहीं है।

(- पृष्ठ २२७)

राग-द्वेष मोहरूप जो आस्रवभाव हैं, उन्हें नष्ट करने की तो चिन्ता नहीं है और बाह्यक्रिया सुधारूँ - ऐसा वह मानता है। अनुकूल निमित्त प्राप्त करने और प्रतिकूल निमित्त को दूर करने का प्रयत्न रखता है। अज्ञानी मानता है कि अमुक बाह्यक्रिया छोड़ो, भोजन छोड़ो, स्त्री छोड़ो, धन छोड़ो, कपड़े छोड़ो, बाह्य परिग्रह का प्रमाण करो तो धर्म होगा।

वह बाह्य की क्रिया छूटने से प्रतिमा हुई मानता है। वस्तुतः प्रतिमा बाहर से नहीं आती। जिसके अन्तरङ्ग परिणाम नहीं सुधरे हैं, जीव-अजीव का भेदज्ञान नहीं है, जीव की स्वतन्त्र क्रिया में अजीव निमित्तमात्र है और अजीव की स्वतन्त्र क्रिया में जीव निमित्तमात्र है - ऐसी स्वतन्त्रता का जिसे पता नहीं है, उसके प्रतिमा कहाँ से होगी ?

कञ्चन-कामिनी और कुटुम्ब, इन तीनों को छोड़ो तो धर्म होगा - ऐसा अज्ञानी कहता है। सो भाई! वे तो छूटे ही पड़े हैं। उन्हें मैं छोड़ता हूँ - यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। आत्मा उनसे भिन्न और राग-द्वेष से रहित है। ऐसे आत्मा के भानपूर्वक जब राग छूटता है तो कञ्चन, कामिनी और कुटुम्ब का निमित्त भी छूटा कहा जाता है, वरना तो निमित्त भी छूटा नहीं कहलाता है। वास्तव में तो स्वरूप में लीनता करना ही चारित्र है; बाह्य त्याग चारित्र नहीं है। अज्ञानी कहता है कि बाह्य वस्तु छोड़ने से अन्तरङ्ग में राग छूटेगा, परन्तु यह बात मिथ्या है।

द्रव्यलिङ्गी मुनि, अन्य देवादिक की सेवा नहीं करता, अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करता है और प्राण जाने पर भी व्यवहारधर्म को नहीं छोड़ता है; वहाँ गृहीत मिथ्यात्व का त्याग है परन्तु अगृहीत मिथ्यात्व का त्याग नहीं है।

वह बाह्यहिंसा बिलकुल नहीं करता, स्वयं के लिये बनाया हुआ आहार नहीं लेता, तब तो शुभपरिणाम होते हैं परन्तु धर्म नहीं होता। वह झूठ नहीं बोलता, दया पालन करता है, विषय सेवन नहीं करता, क्रोधादिक नहीं करता, शरीर के खण्ड-खण्ड होने पर भी क्रोध नहीं करता - ऐसा उसका व्यवहार है, तथापि अन्तर में आत्मा का भान नहीं है; इस कारण उसका अगृहीत मिथ्यात्व नहीं छूटता। उसके मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग - ये चारों आस्रव होते हैं।

वह ऐसा मानता है कि मैं निमित्त हूँ तो जड़ की क्रिया होती है। उसे यथार्थ बात का पता नहीं है। दूसरे, यह कार्य वह कपट से भी नहीं करता। यदि कपट से करे तो ग्रैवेयकपर्यन्त कैसे पहुँचे? नहीं पहुँच सकता। अन्तरङ्ग मिथ्याअभिप्राय, राग-द्वेष की इष्टता आदि रागादिभाव ही आस्रव हैं। उसकी पहिचान नहीं होने से उसे आस्रवतत्त्व की सच्ची श्रद्धा नहीं है।

यहाँ कोई जाने कि बाह्य में तो अणुव्रत-महाव्रतादि साधते हैं, अन्तरङ्ग परिणाम नहीं है, और स्वर्गादिक की वाञ्छा से साधते हैं - सो इस प्रकार साधने से तो पापबन्ध होता है। द्रव्यलिङ्गी मुनि अन्तिम ग्रैवेयक तक जाते हैं और पञ्च परावर्तनों में इकतीस सागरपर्यन्त देवायु की प्राप्ति अनन्त बार होना लिखा है, सो ऐसा उच्चपद तो तभी प्राप्त करें, जब अन्तरङ्ग परिणामपूर्वक महाव्रत पाले, महामन्दकषायी हो, इस लोक-परलोक के भोगादि की चाह न हो; केवल धर्मबुद्धि से मोक्षाभिलाषी हुआ साधन साधे, इसलिए द्रव्यलिङ्गी के स्थूल तो अन्यथापना है नहीं; सूक्ष्म अन्यथापना है, सो सम्यग्दृष्टि को भासित होता है।

यहाँ कोई जानता है कि अन्तरङ्गभाव बिना बाह्य अणुव्रत-महाव्रतादि साधता है परन्तु वहाँ अन्तरङ्ग परिणाम नहीं है अथवा स्वर्गादिक की वाञ्छा से साधता है, सो ऐसी साधना से तो पापबन्ध होता है परन्तु द्रव्यलिङ्गी तो अन्तिम ग्रैवेयक तक जाता है। कपटरहित मन्दकषायरूप परिणाम हों, तभी नौवें ग्रैवेयक तक जाता है। अनन्त बार कपट से (आचरण का) पालन किया है, इसलिए मोक्ष नहीं हुआ - ऐसा नहीं है। भगवान के कहे अनुसार व्रतादि पालने पर ही नौवे ग्रैवेयक तक जाता है, कपट से करे तो पापबन्ध होता है।

द्रव्यलिङ्गी तो महामन्दकषायी होता है। जब वह मन्दकषाय भी मोक्ष का कारण नहीं हुई तो फिर वर्तमान का मन्दकषाय, अकषाय का साधन कैसे हो सकती है? इसलिए व्यवहार सच्चा साधन नहीं है। द्रव्यलिङ्गी इस लोक-परलोक के भोगादि की इच्छा से रहित होते हैं, तथा केवल धर्मबुद्धि से मोक्षाभिलाषी होकर व्यवहार की साधना करते हैं; इसलिए द्रव्यलिङ्गी के स्थूल अन्यथापना तो नहीं होता, परन्तु सूक्ष्म अन्यथापना है, वह सम्यग्दृष्टि को भासित होता है।

द्रव्यलिङ्गी का मिथ्यापना, सम्यग्दृष्टि को भासित होता है। उसके सूक्ष्म मिथ्यात्व होता है, उसका भी पता पड़ता है। सामनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है या सम्यग्दृष्टि, इसका पता पड़ता है। द्रव्यलिङ्गी के स्थूल अन्यथापना नहीं है, सूक्ष्म अन्यथापना है, उसको सम्यग्दृष्टि जान लेता है।

आत्मा, अन्तर्मुख होकर साधन करे तो साध्य ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट होता है -

इसका मिथ्यादृष्टि को पता नहीं है। तत्त्वज्ञानी को तो उसकी प्ररूपणा से पता चल जाता है। उसकी भूल केवली के सिवाय अन्य कोई नहीं जान सकता - ऐसा नहीं है।

जिसका आचरण आगम के अनुसार हो, व्यवहार अच्छी तरह पालता हो, स्थूल प्ररूपणा में भी अन्यथापना न हो, तो भी अन्तरङ्ग में सूक्ष्म मिथ्यात्व है, उसको ज्ञानी जानता है परन्तु बाहर में नहीं कहता है; कारण कि इससे संघ में विरोध होता है। लोग बाहर से परीक्षा करते हैं; अतः स्थूल मिथ्यात्व हो तो बाहर में कहे, परन्तु लोग सूक्ष्म मिथ्यात्व को नहीं पकड़ सकते; अतः ज्ञानी बाहर में नहीं कहता। लोग पकड़ नहीं सकते, इसलिए विरोध होता है।

स्थूल प्ररूपणा करे कि व्यवहार हो तो निश्चय प्रगट होता है, निमित्त के कारण उपादान में कार्य होता है तो ज्ञानी कहते हैं कि यह मिथ्यादृष्टि है परन्तु यदि बाह्य में व्यवहार अच्छा हो और मिथ्यादृष्टि हो तो ज्ञानी स्वयं जानते हैं किन्तु बाहर नहीं कहते।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि, द्रव्यलिङ्ग धारण करता है, मन्दकषाय करता है परन्तु अन्तर की गहराई में उसके व्यवहार का पक्ष नहीं छूटता।

द्रव्यलिङ्गी को कभी एक क्षणमात्र के लिये भी निश्चय का पक्ष नहीं आया है और व्यवहार का पक्ष कभी छूटा नहीं है। देखो! यह समझने योग्य है। लोग समझते नहीं हैं और कहते हैं कि व्यवहार नहीं करोगे तो धर्म का लोप हो जाएगा, परन्तु ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। अशुभपरिणाम नहीं हो तब दया, दान, भक्ति, यात्रा आदि का शुभभाव होता है परन्तु वह सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है। सम्यग्दर्शन तो जब ज्ञायक आत्मा की रुचि-दृष्टि होगी, तभी होगा।

वही बतलाते हैं - द्रव्यलिङ्गी मुनि, राज्यादिक को छोड़कर निर्ग्रन्थ होता है, अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करता है, उग्र से उग्र अनशनादि बहुत तप करता है, क्षुधादिक बाईस परीषह सहता है, शरीर के खण्ड-खण्ड होने पर भी व्यग्र नहीं होता, व्रतभङ्ग के अनेक कारण मिलने पर भी दृढ़ रहता है, किसी से क्रोध नहीं करता, ऐसे साधनों का मान नहीं करता, ऐसे साधनों में कोई कपट नहीं है, इन साधनों द्वारा इस लोक-परलोक के विषयसुख को नहीं चाहता; ऐसी उसकी दशा हुई है। यदि ऐसी

दशा न हो तो ग्रैवेयक पर्यन्त कैसे पहुँचे ? परन्तु उसे मिथ्यादृष्टि असंयमी ही शास्त्र में कहा है।

उसका कारण यह है कि उसके तत्त्वों का श्रद्धान-ज्ञान सच्चा नहीं हुआ। पहले वर्णन किया उस प्रकार तत्त्वों का श्रद्धान-ज्ञान हुआ है, उसी अभिप्राय से सर्व साधन करता है परन्तु उन साधनों के अभिप्राय की परम्परा का विचार करने पर कषायों का अभिप्राय आता है।

किस प्रकार ? सो सुनो - यह पाप के कारण रागादिक को हेय जानकर छोड़ता है परन्तु पुण्य के कारण प्रशस्तराग को उपादेय मानता है, उसकी वृद्धि का उपाय करता है, सो प्रशस्तराग भी तो कषाय है। कषाय को उपादेय माना, तब कषाय करने का ही श्रद्धान रहा। अप्रशस्त परद्रव्यों से द्वेष करके, प्रशस्त परद्रव्यों में राग करने का अभिप्राय हुआ; कुछ परद्रव्यों में साम्यभावरूप अभिप्राय नहीं हुआ।

(- पृष्ठ २४५)

द्रव्यलिङ्गी मुनि, राज्यादिक छोड़कर निर्ग्रन्थ होता है; हजारों रानियों को छोड़कर त्यागी होता है; २८ मूलगुणों का पालन करता है; अपने लिये बनाया हुआ आहार-पानी ग्रहण नहीं करता; उग्र तपश्चर्या करता है। अपने लिये बनाया हुआ आहार-पानी लेनेवाले के तो द्रव्यलिङ्ग का भी ठिकाना नहीं है। देखो ! यहाँ किसी व्यक्ति की बात नहीं है। जिसके शास्त्रकथित व्यवहार भी नहीं हो और हम व्यवहार पालते हैं - ऐसा माने, वह तो स्थूल मिथ्यादृष्टि है। यहाँ तो जो २८ मूलगुण अच्छी तरह पालन करता है, उसकी बात है परन्तु उसके गहराई से यह वासना होती है कि इस मन्दकषाय से आत्मा का कल्याण हो जाएगा - यह अभिप्राय उसके नहीं छूटता है।

जैनधर्म में प्रतिज्ञा नहीं लेने का दण्ड नहीं है परन्तु प्रतिज्ञा लेकर भङ्ग करना तो महापाप है। द्रव्यलिङ्गी मुनि, छह-छह महीने के उपवास करता है; क्षुधादि बाईस परीषह सहन करता है; शरीर के खण्ड-खण्ड अर्थात् टुकड़े करने पर भी कषाय नहीं करता परन्तु कषाय की मन्दता, शान्ति का कारण है - ऐसी वासना उसके नहीं छूटती।

परीषह के समय मानता है कि मेरे पाप का उदय है; इसलिए ये प्रतिकूल संयोग प्राप्त हुए हैं - ऐसी कोमलता करता है परन्तु इस कोमलता में ही धर्म मानता है; व्रतभङ्ग

के अनेक कारण मिलने पर भी दृढ़ रहता है; दूसरे देवलोक की इन्द्राणी डिगाने आने पर भी ब्रह्मचर्य से नहीं डिगता है; किसी पर क्रोध नहीं करता। मेरे कर्म के उदय से यह हुआ है - ऐसा मानकर क्रोध नहीं करता। मन्दकषाय का अभिमान नहीं है; कपट से ये साधन नहीं करता तथा इन साधनो द्वारा इसलोक-परलोक के विषय-सुख की आकांक्षा भी नहीं है - ऐसी दशा द्रव्यलिङ्गी की होती है। यदि ऐसी दशा नहीं होवे तो नौवें ग्रैवेयक तक कैसे पहुँचे ? तथापि उसको शास्त्र में असंयमी मिथ्यादृष्टि ही कहा है। कारण कि उसके तत्त्व का सच्चा श्रद्धान ही नहीं है अर्थात् तत्त्वज्ञानपूर्वक जो श्रद्धान होना चाहिए, वह उसके नहीं है।

वह सात तत्त्वों को भिन्न-भिन्न न जानकर एक का अंश दूसरे में मिलाता है और इसी अभिप्राय से सर्व साधन करता है। अब, इन साधनों की परम्परा का विचार करने पर उसके कषायों का ही अभिप्राय होता है। ज्ञानी के परद्रव्य की क्रिया करने की बात तो है ही नहीं, परन्तु अपनी पर्याय में अशुभ को शुभ करने का भी उसका अभिप्राय नहीं है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टापने रहे - यही अभिप्राय है। ऐसे निर्णय बिना द्रव्यलिङ्गी जो कुछ भी साधन करता है, उनमें मात्र कषाय का ही पोषण है।

द्रव्यलिङ्गी मुनि की बाह्य क्रिया ऐसी होती है कि जगत को तो ऐसा लगता है कि यह तारणहार है। जगत को यथार्थ तत्त्वज्ञान का पता नहीं है। तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है; अतः स्थान-स्थान पर ऐसा कहा है कि द्रव्यलिङ्गी को तत्त्व का ज्ञान नहीं है।

द्रव्यलिङ्गी, पाप के कारण अप्रशस्तराग को हेय जानकर छोड़ता है परन्तु पुण्य के कारण प्रशस्तराग को उपादेय मानता है तथा उसके बढ़ाने का उपाय भी करता है परन्तु प्रशस्तराग भी तो कषाय ही है। जिसने कषाय को उपादेय माना, उसको कषाय करने का ही श्रद्धान हुआ। वह तो शुभराग बढ़ाने में ही रुक गया है। यहाँ तो जिसका व्यवहार सच्चा है, तथापि उस व्यवहार से धर्म होना मानता है, उस सूक्ष्म मिथ्यादृष्टि की बात की है।

जो जीव अन्यमत के साथ जैनधर्म को मिलाता है, वह तो व्यवहार से भी जैनधर्म को नहीं मानता है। वह तो रेशमी कपड़े के साथ टाट की तुलना करने जैसा है, सूझते के साथ अन्ध की होड़ करने जैसा है। सर्वज्ञ के मार्ग के साथ किसी भी धर्म का समन्वय है ही नहीं। जैन तो स्वतन्त्र वस्तु स्वभाव का कथन करनेवाला है। कहा भी है कि -

‘एक होय तीनकाल में परमारथ का पंथ’

यहाँ तो कहते हैं कि द्रव्यलिङ्गी का अभिप्राय अप्रशस्त द्रव्यों से द्वेष करके, प्रशस्त द्रव्यों में राग करने का है परन्तु उसके परद्रव्यों में साम्यभावरूप अभिप्राय नहीं होता।

ज्ञानी किसी भी परपदार्थ को इष्ट-अनिष्ट नहीं मानता। चक्रवर्ती द्वारा वन्दना करने पर भी अन्तर में मान नहीं होता — ऐसे तत्त्वज्ञानपूर्वक ज्ञानी के साम्यभाव होता है।

....फिर प्रश्न है कि द्रव्यलिङ्गी मुनि, मोक्ष के अर्थ गृहस्थपना छोड़कर तपश्चरणादि करता है, वहाँ पुरुषार्थ तो किया, कार्य सिद्ध नहीं हुआ; इसलिए पुरुषार्थ करने से तो कुछ सिद्धि नहीं है ?

समाधान:- अन्यथा पुरुषार्थ से फल चाहे तो कैसे सिद्धि हो ? तपश्चरणादि व्यवहार साधन में अनुरागी होकर प्रवर्ते, उसका फल शास्त्र में तो शुभबन्ध कहा है, और यह उससे मोक्ष चाहता है, कैसे होगा ? यह तो भ्रम है। (- पृष्ठ ३१०)

प्रश्न : जीव, अनन्त बार मुनि हुआ; मोक्ष के लिए गृहस्थपने का त्याग किया; पञ्च महाव्रतादि का पालन किया; उपवास किये, दया पालन की; प्रतिक्रमण और प्रौषध किये, वहाँ पुरुषार्थ करने पर भी कार्य सिद्ध नहीं हुआ; इसलिए पुरुषार्थ करने से कुछ भी सिद्धि नहीं है ?

उत्तर : पाँच महाव्रत के परिणाम, राग हैं, उनका पालन किया, गृहस्थपना छोड़ा, परन्तु आत्मा की पहिचान नहीं की। इस प्रकार यह सब अन्यथा पुरुषार्थ किया, इससे फल की सिद्धि किस प्रकार हो ? वह जीव व्यवहारसाधन का प्रेमी-उत्साही हुआ, व्यवहार से धर्म होता है — ऐसा माना, इसलिए उसके मिथ्यात्व का अभाव नहीं हुआ। व्यवहार-साधन, पुण्य है। राग का अनुरागी होकर मोक्ष को चाहता है तो सिद्धि किस प्रकार हो ? अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करता है परन्तु यह सब राग है और अज्ञानी इससे धर्म मानता है; अतः किस प्रकार सिद्धि हो ? व्यवहार क्रियाकाण्ड से कल्याण मानना भ्रम है और अन्यथा पुरुषार्थ है।

द्रव्यलिङ्गी को आत्मा के सम्यक् पुरुषार्थ का पता नहीं है; इसलिए वह पाप छोड़कर पुण्य में आया है। वह जङ्गल में रहता है, एक समय आहार और गर्म पानी लेता

है अथवा उपवास करता है परन्तु यह सब राग है; अतः रागरूप अन्यथा पुरुषार्थ करके कल्याण माननेवाला मूढ़ है।

द्रव्यलिङ्गी ने अन्यथा पुरुषार्थ किया है। स्वभाव का पुरुषार्थ नहीं किया है किन्तु विभाव का किया है। दया, दान, पूजा, भक्ति आदि व्यवहारसाधन करनेवाले को क्रमबद्ध की समझ नहीं है। क्रमबद्ध की समझवाले को स्वभाव की श्रद्धा होती है। वह विभाव को विभाव जानता है; जबकि अज्ञानी, विभाव को स्वभाव मानता है और स्वभाव को नहीं समझता; इसलिए अन्यथा पुरुषार्थ करता है, शुभराग से मोक्ष चाहता है - यह भ्रम है। ●

(मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन भाग ३ व ४ से सङ्कलित अंश)



देखो, वीतराग के भक्त की अन्दर की पुकार!

हे जिनेन्द्र! आपके गुणवैभव की कीर्ति के समक्ष इन्द्र या चक्रवर्ती का वैभव तथा कीर्ति भी तुच्छ लगते हैं। वे चक्रवर्ती और इन्द्र भी आपकी सेवा करते हैं और आपकी सेवा के फल से ही उन्हें इन्द्रपना और चक्रवर्तीपना मिला है; इसलिए वहाँ भी हमें तो आपके गुणों की ही महिमा दिखायी देती है। जगत् में ऐसा कोई स्थान नहीं है कि जहाँ आपके गुणों का गुणगान न होता हो। हम भी जहाँ जाएँगे, वहाँ आपके गुणों के ही गीत गाएँगे और गाते-गाते मोक्ष में आयेँगे। हमारे पास दोष का नामो -निशान भी नहीं रहेगा। देखो, वीतराग के भक्त की अन्दर की पुकार! प्रभो! हम सर्व गुणसम्पन्न आपके उपासक बन गये.... अब हमारे में कोई दोष कैसे रह सकता है? हमारे गुणों के विस्तार को रोकने के लिए जगत् में कोई समर्थ नहीं है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य, पृष्ठ-९३

कौन है श्रमणाभास

परमपूज्य दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्ददेव ने प्रवचनसार परमागम के चरणानुयोग सूचक चूलिका में मुनिधर्म का अतिसूक्ष्म हृदयग्राही निरूपण किया है। उन्होंने जहाँ मुनिराज की अन्तर्बाह्य परिणति का दिग्दर्शन कराया है, वहीं बाह्य द्रव्यलिङ्गधारी, किन्तु अभ्यन्तर वीतरागपरिणति-रहित श्रमणों की चर्चा भी की है। आत्महितैषी को वह चर्चा भी उपयोगी होने से प्रवचनसार गाथा 264 पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मङ्गल प्रवचन यहाँ प्रस्तुत हैं।

ण हवदि समणो त्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि।

जदि सदहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ॥ 264 ॥

अर्थात् सूत्र, संयम और तप से संयुक्त होने पर भी यदि (वह जीव) जिनोक्त आत्मप्रधान पदार्थों का श्रद्धान नहीं करता तो वह श्रमण नहीं है - ऐसा (आगम में) कहा है।

अब, यह कहते हैं कि कैसा जीव श्रमणाभास है -

जो मुनि अपने आत्मा की श्रद्धा नहीं करता, वह शास्त्र का ज्ञाता और संयमी होने पर भी श्रमण नहीं है। देखो, यहाँ तो जो भगवान की वाणी को मानता है, उसकी बात है परन्तु जो जीव, भगवान के सूत्र को नहीं मानता उसकी बात नहीं है। षट्खण्डागम, समयसार आदि सूत्रों की वाणी, भगवान की वाणी के साथ सन्धिवाली है। वह आत्मा के प्रमाण से सिद्ध हुई बात है। वह मुनि, सर्वज्ञ के शास्त्रों को जानता है, अव्रत के परिणाम

नष्ट किये हैं, ब्रह्मचर्य का पालन करता है; उपवास, व्रत, तप करके कषाय की मन्दता के परिणाम किये हैं और उपसर्ग होने पर भी वह मुनि चलायमान नहीं होता परन्तु तीन लोक के नाथ जिन भगवान के द्वारा कथित पदार्थों में मुख्य आत्मा है, उसकी श्रद्धा नहीं करता तो वह श्रमण नहीं है, अपितु श्रमणाभास है। देखो, एक ओर राम और दूसरी ओर सारा गाँव है। परपदार्थ तथा पुण्य-पाप के भाव गौण हैं और अपना आत्मा मुख्य है। उस मुख्य की, अर्थात् आत्मा की जो श्रद्धा नहीं करता, वह श्रमण नहीं है – ऐसा आगम में कहा है।

चारित्र का पालन करनेवाला होने पर भी, जिसे आत्मा का ज्ञान नहीं है, उसे साधु नहीं कहते। सम्यग्दर्शन और ज्ञानपूर्वक होनेवाला आचरण ही चारित्र गिना जाता है। उन मुनियों को, आगम क्या कहते हैं? इसका ज्ञान है। छह द्रव्यों को गुण-पर्यायसहित जानते हैं तथा नौ तत्त्व को जानते हैं। ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम के कारण धारणा कर ली है तथा अन्यमतवाले ईश्वर-कर्ता कहते हैं, कोई पच्चीस तत्त्व मानता है – इत्यादि प्रकार से दूसरे मत के अभिप्राय को जानता है परन्तु अन्यमत क्या कहता है? उस बात को मानता नहीं है।

जिसे सर्वज्ञ तथा सर्वज्ञ भगवान का पता नहीं है, उसे तो आत्मा के निर्णय का भी ठिकाना नहीं है, कारण कि पुरुष-प्रमाण से वचन-प्रमाण माने जा सकते हैं। सर्वज्ञ भगवान को वीतरागदशा वर्तती है। वे एक समय में तीन काल-तीन लोक को जानते हैं। वे मुनि उन सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कथित शास्त्रों द्वारा पदार्थों का ज्ञान करता है तथा वह मुनि, छह काय की हिंसा नहीं करता, ब्रह्मचर्य का पालन करता है, अनेक प्रकार के तप में लीन है; फिर भी जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथित समस्त पदार्थों को जाननेवाले आत्मा को वह नहीं जानता, इसलिए वह श्रमणाभास है।

जीव को धर्म तो करना है परन्तु धर्म कहाँ और कैसे होता है? इसका उसे पता नहीं है। धर्म करना है, हित करना है, सुख करना है – सब एक ही है। इससे यह निश्चित होता है कि अपनी वर्तमान दशा में सुख नहीं है। यदि वर्तमानदशा में सुख होता तो कहीं से सुख लेने की इच्छा नहीं रहती परन्तु दुःख दशा का अभाव करके सुखी होना चाहता है और उस

सुख का अनुभव तो स्वयं उस दशा में नित्य हो तो अनुभव कर सकता है, इसलिए अपना अस्तित्व दोनों अवस्थाओं में टिका रहता है और अवस्था परिवर्तित होती है - ऐसा निश्चित होता है।

यदि संयोगों में सुख हो तो बहुत संयोग होने पर बहुत सुख होना चाहिए परन्तु ऐसा तो नहीं होता, इसलिए सुख कहाँ है ? - यह निश्चित करना पड़ेगा।

यदि पैसे में सुख हो तो बहुत पैसेवाले को बहुत सुख होना चाहिए। अरे ! करोड़पति तो महासुखी होना चाहिए परन्तु ऐसा दिखाई नहीं देता, इसलिए पैसे में सुख नहीं है। यदि लड्डुओं में सुख हो तो बहुत लड्डू खाने से बहुत सुख होना चाहिए, परन्तु तीन... चार... लड्डू खाने पर कहता है कि अब मुझे नहीं खाना, इसलिए लड्डुओं में सुख नहीं है। मोटे शरीर में सुख हो तो मोटे शरीरवाले को बहुत सुख होना चाहिए परन्तु ऐसा नहीं है। अज्ञानी कहता है कि 'पहला सुख निरोगी काया' परन्तु निरोगी शरीर होने पर भी पुत्र के मर जाने पर दुःख की कल्पना खड़ी करता है, इसलिए निरोगता में सुख नहीं है। यदि मान-प्रतिष्ठा में सुख हो तो दो व्यक्ति पूरे दिन उसके गुणगान गाया ही करें तो बहुत सुख होना चाहिए, परन्तु वह सुनते-सुनते अन्त में अरुचि आ जाती है, इसलिए मान-प्रतिष्ठा में सुख नहीं है। यदि नाटक में सुख हो तो बहुत नाटक देखने से बहुत सुख होना चाहिए परन्तु वहाँ भी समय अधिक हो जाने पर अरुचि हो जाती है।

यदि स्त्री-पुत्र, पैसा इत्यादि सभी प्रकार की कही जानेवाली अनुकूलता हो, झूले में झूलता हो, सब प्रकार की सुविधा हो और उसके कारण सुख हो तो उस प्रसङ्ग में बिच्छू के काटने पर दुःख क्यों मानता है ? वे समस्त वस्तुएँ तो उस समय भी मौजूद ही हैं, फिर भी कहता है कि भाई ! मुझे बहुत दुःख होता है। इससे निश्चित होता है कि उन पदार्थों में सुख नहीं है।

जिस प्रकार एक छोटा-सा बालक लकड़ी की चूसनी चूसता है, यद्यपि उसमें कुछ भी खाने का पदार्थ नहीं है, फिर भी वह बालक उसमें सुख मानता है। उससे वह चूसनी ले ली जाए तो रोने लगता है। उसी प्रकार स्त्री, पुत्र, लड्डू तथा शरीर आदि पदार्थ तो लकड़ी के चूसनी जैसे हैं, उनमें कोई सुख नहीं है - ऐसा ज्ञानी पुरुष कहते हैं, वहाँ

अज्ञानी जीव चिल्लाते हैं क्योंकि वहाँ सुख नहीं होने पर भी उनमें सुख की कल्पना कर रखी है परन्तु यह सब भ्रान्ति है ।

अनादि काल से जीव, सुख के लिए झपट्टे मारता है । अपने सुख के लिए शरीर का अभाव करना पड़े तो भी करता है । सास के त्रास से व्यथित बहू स्वयं शरीर छोड़कर भी सुखी होना चाहती है; अन्य साधन से रहित होकर, शरीर से रहित होकर भी मैं सुखी होऊँ, ऐसा मानते हैं । वस्तुतः उन्हें सुख के स्वरूप का पता नहीं है परन्तु अज्ञानभाव से शरीर का अभाव करके /आत्महत्या करके भी सुखी होना चाहता है, इसलिए सुख की सत्ता तो स्वीकार करता है, अर्थात् सुख कहीं रहता है – ऐसा तो वह स्वीकार करता है परन्तु उस सुख की सत्ता कहाँ है ? इसका उस अज्ञानी को पता नहीं । वह संयोगों में सुख की सत्ता मानता है परन्तु अपने शुद्ध स्वभाव में सुख की सत्ता नहीं मानता ।

छोटी पीपल की चरपराहट, छोटी पीपल में है; वह चरपराहट, पत्थर में नहीं है तथा घिसनेवाले के हाथ में भी नहीं है । चने की मिठास, चने में भरी है परन्तु वह मिठास अग्नि में अथवा धूप में नहीं है । अग्नि प्रगट होने की सामर्थ्य दियासलाई की टॉप में है परन्तु उसकी लकड़ी में नहीं है । मोर के अण्डे में मोर होने की ताकत है । उसी प्रकार आत्मा का सुख, आत्मा में है । शरीर में, वाणी में, मान-प्रतिष्ठा में सुख नहीं है; फिर भी अज्ञानी जीव, संयोग में सुख मानते हैं; अपनी आत्मा में सुख है, ज्ञान और आनन्दमय उसका स्वभाव है, उसे नहीं जानते हैं ।

इस आत्मा का स्वभाव तो जानने-देखने का है । जैसे, नींबू का स्वभाव खट्टापन है, अग्नि का स्वभाव उष्णता है; उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञान है । उस जानने-देखने के स्वभाव में आनन्द है । जाननेवाले में आनन्द न हो ऐसा नहीं हो सकता । अज्ञानी जीव कहता है कि मोतीचूर के लड्डूओं में मजा आता है परन्तु तुझमें कोई मजा / आनन्द है या नहीं ? अज्ञानी जीव, दूसरी वस्तुओं में गुण खोजता है । जड़ को पता नहीं है कि यह मेरा स्वभाव है, जड़ के स्वभाव को तू जानता है । दूसरी वस्तुओं में तो आनन्द हो परन्तु उन्हें जाननेवाले में आनन्द नहीं हो, स्वयं सुखरहित और दूसरा सुखवाला हो – यह मान्यता भूल-भरी है ।

आत्मा की अवस्था में शुभाशुभभाव होते हैं, वे कृत्रिम उपाधि है। युवा अवस्था में अमुक विकारीभाव किये हों, वे वर्तमान में याद आते हैं परन्तु वे विकारीभाव वर्तमान में नहीं होते। अभी शास्त्र-वाचन में शुभभाव हो रहा है, फिर घर जाने पर अशुभभाव हो जाएगा। वह शुभ और अशुभभाव पलट जाता है परन्तु उनका ज्ञान कायम रह जाता है; इसलिए कृत्रिम अवस्था आत्मा का वास्तविक स्वभाव नहीं परन्तु जानने-देखने का स्वभाव, जो कायम रहता है, वह आत्मा का स्वभाव है और उसी में आनन्द व सुख है।

स्वयं सुखी होना चाहता है और अशान्ति टालकर शान्ति प्राप्त करना चाहता है - तो स्वयं से पूर्ण अशान्ति टालकर पूर्ण शान्ति प्रगट किये हुए जीव भी होना चाहिए। जितना ज्ञान का विकास होकर आत्मा में अभेदता होती है, उतनी निराकुलता और आनन्द है। ज्ञान और शान्ति का अविनाभावी सम्बन्ध है। जब ज्ञान, विकारीभावों से सर्वथा छूटकर परिपूर्ण होता है, तब समस्त सङ्गरहित, विकाररहित अकेला ज्ञान रह जाता है और वहाँ सम्पूर्ण आनन्द और सुख पाया जाता है, उस दशा को सर्वज्ञदशा कहते हैं। वे सर्वज्ञ भगवन्त, अपने अनुभव द्वारा 'सुख कहाँ रहता है', वह वाणी से कह गये हैं। उस वाणी को समझानेवाले सर्वज्ञपद को साधनेवाले गुरु भी यही कह गये हैं। इस प्रकार सर्वज्ञदेव, निर्ग्रन्थ गुरुओं और वाणी का स्वीकार सुख के अर्थी जीवों को करना पड़ेगा।

उन सर्वज्ञ भगवान की वाणी में यह आया है कि जब तक आत्मा को अपना माहात्म्य नहीं आयेगा, तब तक पर का माहात्म्य नहीं मिटेगा। अज्ञानदशा में जड़ पदार्थ - पैसा, शरीर, इन्द्रियों का माहात्म्य माना हुआ है, परन्तु उन सब पदार्थों का माहात्म्य करनेवाले आत्मा का माहात्म्य करे तो सुखदशा उत्पन्न होती है; इसलिए पर से दृष्टि हटाना चाहिए।

जीव, अशुभभाव घटाना चाहता है, यदि वह भाव अपना स्वरूप हो तो घटाने का प्रयत्न नहीं करे; इसलिए वे भाव, आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं हैं।

अविकारीस्वभाव के लक्ष्य बिना तीव्रकषाय टालकर मन्दकषाय करे तो पुण्य होता है, परन्तु धर्म नहीं होता तथा यदि दया, दानादि भाव, जो कि विकार हैं, उनमें शान्ति हो तो उन भावों को पलटाना नहीं चाहेगा। क्षण में दया का भाव और क्षण में व्यापार का भाव

करता है; इसलिए वे विकारी / परिवर्तनशील भाव हैं, उनमें सुख नहीं है। इस प्रकार उन विकारीभावों का माहात्म्य छोड़कर अपने शुद्धस्वभाव का माहात्म्य आना चाहिए।

लोग भी कहते हैं कि पराधीनता में स्वप्न में भी सुख नहीं है। लोग मानते हैं वह पराधीनता नहीं है परन्तु अपना सुख और आनन्द अपने में नहीं मानकर पर में मानना, वह पराधीनदृष्टि है। अज्ञानी बाहर के पदार्थों को अनुकूल अथवा प्रतिकूल मानता है परन्तु वे तो बदलनेवाले हैं, स्थायी वस्तु नहीं है। शरीर, लक्ष्मी इत्यादि समस्त परपदार्थ छूट जाने पर, शुभाशुभभाव छूट जाने पर भी अकेला ज्ञानस्वभावी मैं रह सकता हूँ; उन सबका अभाव होने पर भी मैं सुख की सामर्थ्यवाला हूँ – ऐसा निर्णय करे तो पराधीनता का अभाव होकर सुखी होता है। इसलिए अपने स्वभाव का माहात्म्य लाना चाहिए।

जिसे सुखी होना हो, उसे यह भी स्वीकार करना चाहिए कि आत्मा वस्तु है और शरीरादि दूसरे जड़ पदार्थ भी हैं। सभी होकर एक वस्तु नहीं है। मैं भी हूँ और दूसरे पदार्थ भी हैं। दूसरे पदार्थों के कारण मैं नहीं हूँ और मेरे कारण दूसरे पदार्थ नहीं हैं। मैं समस्त पदार्थों को जाननेवाला हूँ, परन्तु कुछ करनेवाला नहीं। वस्तु है, वह नयी नहीं होती और जो हो, वह नष्ट नहीं होती; इसलिए समस्त पदार्थ कायम हैं और वे अवस्था में प्रति समय परिवर्तन पा रहे हैं। मैं पर के अभाव स्वभाव से टिक रहा हूँ। मैं मुझसे हूँ और शरीर, लक्ष्मी इत्यादि से नहीं तथा विकार से भी नहीं – ऐसा निश्चित करते ही परपदार्थों से तथा विकारीभावों से दृष्टि हट जाती है और अपने पर दृष्टि आ जाती है।

यदि अपना सुख पैसे में हो तो वह सुख और पैसा अलग नहीं हो सकता परन्तु पैसा जाने से अपना सुख नहीं जाता। जिस प्रकार गुड़ से मीठापन भिन्न नहीं पड़ता, क्योंकि जो जिसका स्वभाव होता है, वह उससे भिन्न नहीं पड़ता; इसलिए आत्मा का स्वभाव जो सुख है, वह उससे भिन्न नहीं पड़ता और दया-दानादि के भाव पलटते हैं। यदि उनमें सुख हो तो उनसे भिन्न नहीं हुआ जा सकता। वे तो नष्ट हो जाते हैं, इसलिए उनमें भी सुख नहीं है, सुख अपने में है।

पर का ज्ञान करने की शक्ति अपने में है, पर का ज्ञान करने से बोझा नहीं होता। पचास वर्ष पहले की बात याद करने में पचास वर्ष नहीं लगते, थोड़ी ही देर में याद कर

लेता है। ज्ञान, अनन्त पदार्थों का कर सकता है। ज्ञान, काल के भेद को नहीं गिनता; अक्रम से, अर्थात् एकसाथ ज्ञान करने की अपनी सामर्थ्य है। मुझमें एक समय में तीन काल के पदार्थों को अक्रम से जानने की शक्ति है - ऐसा निश्चित करना चाहिए। जहाँ परिपूर्ण ज्ञान है, वहाँ परिपूर्ण सुख है।

स्वयं को अपने ज्ञान और सुखस्वभाव का पता नहीं है; इसलिए 'अपने को आप भूलकर हैरान हो गया।' देखो, एक कमाऊ पुत्र ने सट्टा में पचास हजार रुपये गँवा दिये। उसने अपने मित्र के माध्यम से अपने पिता से कहलवाया कि यह रुपये भर दो, वरना मैं आत्महत्या कर लूँगा। पिताजी ने विचार किया कि यदि लड़का आत्महत्या कर लेगा तो अपनी इज्जत चली जाएगी; अतः जो हुआ वह हुआ और जो दो-चार लाख की पूँजी है, वह सब लड़के की ही है, मुझे कहाँ इकट्ठा करके ले जाना है। उस लड़के ने जितना गँवाया है, उतना उसे कम मिलेगा, मुझे क्या है? इस प्रकार समाधान करके कर्जा दे दिया। यद्यपि यह समाधान तो परलक्ष्यी है, वास्तविक नहीं; फिर भी ज्ञान ने ऊपर-ऊपर से निश्चित किया कि पूँजी लड़के की है, मेरी नहीं। इस प्रकार प्रतिकूल संयोगों में ज्ञान, समाधान करता है। रुपये अथवा लड़का समाधान नहीं कराते, परन्तु पिता का ज्ञान ऐसे प्रतिकूल संयोगों में समाधान करके अशान्ति कम करता है। द्वेष करना, वह विभाव है और समाधान करना, वह स्वभाव है।

संसार में जीव, पर के लक्ष्य से समाधान करता है तो तीव्र आकुलता थोड़े समय तक मन्द हो जाती है। इसलिए समाधान करना अथवा द्वेष करना, वह आत्मा के हाथ की बात है। यदि जीव, स्वलक्ष्य से समाधान करे तो स्वयं को यथार्थ शान्ति और सुख होता है। परपदार्थों का परिणमन होना मेरे आधीन नहीं है, उनमें मेरा सुख-दुःख नहीं है तथा अशुभभाव होता है, वह मुझे सुखरूप नहीं है और शुभभाव भी मन्द आकुलतावाला है। मेरे ज्ञानस्वभाव में ही सुख है; इस प्रकार समाधान करके पर से दृष्टि हटाकर अपने में दृष्टि करे और अपने ज्ञान व सुख अपने में है - ऐसी सच्ची श्रद्धा और ज्ञान करे तो समाधान और शान्ति होते हैं, वही धर्म है।

जीव ने अनादि काल से पर की दृष्टि की है, वह दृष्टि छोड़कर, 'मैंने अपनी भूल

से ही परिभ्रमण किया है और वह भूल मिटाकर मैं स्वतन्त्र हो सकता हूँ' – ऐसा निर्णय करे तो सुख होता है ।

आगम का ज्ञाता होने पर भी, संयत होने पर भी, तप में स्थित होने पर भी, जिनोक्त अनन्त पदार्थों से भरे हुए विश्व को जो कि (विश्व) अपने आत्मा से ज्ञेयरूप से पिया जाता होने के कारण आत्मप्रधान है, उसका जो जीव, श्रद्धान नहीं करता, वह श्रमणाभास है ।

कैसा है भगवान आत्मा ? सबको जाननेवाला है । आत्मा ज्ञानस्वरूप है और शरीरादि जड़ हैं – ऐसा आत्मा निश्चित करता है । शुभाशुभभाव होते हैं, उन सबको जाननेवाला आत्मा है, अनन्त पदार्थों और अनन्त प्रकार की वृत्तियाँ होने पर भी, उन सबको पी जाने की, अर्थात् जानने की ताकत आत्मा में है । ज्ञान, जिन भगवान द्वारा कथित समस्त विश्व के पदार्थों को जानता है । उन विश्व के पदार्थों में आत्मा प्रधान है – ऐसा जो जानता है, वह सुख को पाता है और जो मुनि आत्मा को नहीं जानता, वह व्रत-तपादि करने पर भी श्रमणाभास है ।

जो मुनि, सर्वज्ञ कथित आगम को जानता है, जिसने छह द्रव्य और नौ तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा की है, छह काय के हिंसा के भाव का त्याग किया है, उपवास, व्रत, तपादि करता है; तथापि अपनी आत्मा की श्रद्धा नहीं करता, वह मुनि श्रमणाभास है क्योंकि उसने परसन्मुख दृष्टि की है । शास्त्र सन्मुख, राग और निमित्त के सन्मुख रहकर जानपना किया है परन्तु स्वभावसन्मुख रहकर जानपना नहीं किया है; इसलिए वह श्रमणाभास है । जो सर्वज्ञ के शास्त्र को नहीं मानता और जो व्यवहार नव तत्त्वादि के ज्ञान में भी भूल करता है, वह तो श्रमणाभास में भी नहीं आता है ।

यहाँ पाठ में कहा है कि जिनोक्त अनन्त पदार्थों से भरे हुए विश्व को जो कि विश्व अपने आत्मा से ज्ञेयरूप से पिया जाता होने के कारण आत्मप्रधान है ।

कैसा है वह आत्मा ? जिन भगवान द्वारा कथित अनन्त पदार्थों को जाने – ऐसे अपरिमित स्वभाववाला आत्मा है । वे अनन्त पदार्थ कौन-कौन हैं ?

(१) प्रथम तो जीव स्वयं हित करके सुखी होना चाहता है, तो अपने से पहले

परिपूर्ण सुखी हुए जीव होना चाहिए। जो ज्ञान, अपूर्ण दशा में राग में तथा परपदार्थों में अटकता था, वह सच्ची श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता होने पर ज्ञान अकेला रह गया और विकार का नाश हो गया। वीतराग को इच्छा नहीं है, इच्छारहित परिपूर्ण सर्वज्ञदशा प्रगट हुई है, विकार का सर्वथा नाश होने पर सर्वज्ञदशा प्रगट हुए बिना नहीं रहती। जिस सर्वज्ञदशा में एक समय में तीन काल-तीन लोक को जानने की ताकत है, उन सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में अनन्तानन्त पदार्थ ज्ञात हुए हैं। उन अनन्त में सर्वज्ञ भगवान भी आ गये हैं।

(२) यहाँ जिनोक्त शब्द कहा है, अर्थात् जिनेन्द्र द्वारा कथित; इससे निश्चित होता है कि कोई जिन भगवान को इच्छा के बिना वाणी होना चाहिए। इसमें वाणीवाले केवली निश्चित हुए तथा वाणी भी निश्चित हुई।

(३) वाणीवाले केवली निश्चित हुए तो वाणीरहित मूककेवली भी निश्चित होते हैं।

(४) वे केवली भगवान अपनी आयु पूर्ण होने पर सिद्धदशा प्राप्त करते हैं, इसलिए अनन्त सिद्ध निश्चित होते हैं।

(५) उन सर्वज्ञ की वाणी सुनकर, सर्वज्ञ कहते हैं, उस प्रकार आत्मा के स्वभाव की प्रतीति करके रमणता करनेवाले मुनि और प्रतीति करनेवाले श्रावक तथा सम्यग्दृष्टि भी निश्चित होते हैं।

(६) उन सर्वज्ञ की वाणी सुनने पर भी अपने स्वभाव और सर्वज्ञता का नकार करनेवाले बाधक अज्ञानी जीव भी अनन्तानन्त हैं।

(७) जीव, वीतरागदशा प्राप्त नहीं करता, तब तक विकार करता है। यदि वर्तमान विकार न हो तो वीतरागता प्रगट होनी चाहिए परन्तु वर्तमान विकार प्रत्यक्ष ज्ञात होता है और वह विकार अपनी आत्मा के लक्ष्य से नहीं हो सकता, किन्तु पर के लक्ष्य से ही होता है; इसलिए अपने अतिरिक्त अनन्त परपदार्थ हैं।

(८) एक जीव के एक दिन के चौबीस घण्टे के विकार का विचार किया जाए तो स्थूल प्रकार से असंख्य प्रकार का और सूक्ष्म प्रकार से अनन्त प्रकार का विकार है - तो

अनन्त काल से अनन्त प्रकार का विकार हुआ, इसलिए विकार के निमित्त – अन्तरङ्ग निमित्त द्रव्यकर्म की प्रकृतियाँ भी अनन्त प्रकार की तारतम्यतावाली तथा बहिरङ्ग निमित्त – नव कर्म भी अनन्त प्रकार के निश्चित होते हैं। अनन्त भाव, अनन्त कर्मों के स्कन्ध, नव कर्म आदि सिद्ध होते हैं। इस प्रकार विकार, कर्म और नव कर्म की विविधता और विचित्रता सिद्ध होती है।

(९) जिस पर के लक्ष्य से जीव, विकार करता है वे परपदार्थ अन्य जीव और जड़-पदार्थ ऐसे दो प्रकार के हैं। जीवों में केवली से लेकर मिथ्यादृष्टि तक के जीव कहे गये हैं तथा एक जीव में अनन्त प्रकार का विकार है तो अनन्त जीवों में अनन्त-अनन्त प्रकार से विकार है और अनन्त प्रकार के कर्म तथा नव कर्मों का सम्बन्ध है तथा जड़ में पुद्गल धर्म-अधर्म, आकाश, काल भी सिद्ध होते हैं। इस प्रकार जिन भगवान द्वारा कथित अनन्त पदार्थों से भरा हुआ यह विश्व है। इससे निश्चित होता है कि 'सभी होकर एक आत्मा ही है और अन्य सब भ्रम है' – यह मान्यता मिथ्या है।

इन अनन्त पदार्थों को एक साथ जाननेवाला आत्मा है, इसलिए उन पदार्थों में आत्मा प्रधान है। बाद में लिखा है कि आत्मा द्वारा ज्ञेयरूप से पिया जाता होने से... किसी निमित्त से, देव-शास्त्र-गुरु से अथवा शुभराग से जानता है – ऐसा नहीं कहा है। अपने आत्मा से जानता है, अर्थात् दूसरे किसी परपदार्थ से नहीं जानता – ऐसा निश्चित होता है।

अनन्त पदार्थ हैं, इसलिए आत्मा जानता है – ऐसा भी नहीं है तथा 'पिया जाता है' – ऐसा कहा है, वह यह बताता है कि जैसे, चाहे जितना भी पानी पीये तो पानी थोड़ा गिना जाता है और पेट मोटा गिना जाता है कारण कि वह पानी पेट में समा जाता है। उसी प्रकार अनन्तानन्त पदार्थ हैं, उसकी तुलना में भी अनन्तगुणे ज्ञेय होते तो उन्हें भी जान लेने की आत्मा की ताकत है।

अनन्त पदार्थों की ओर के झुकाव से, पुण्य से अथवा इन्द्रियों से वे पदार्थ जाने जा सकते हैं – ऐसा नहीं है परन्तु मेरा अपना ज्ञानस्वभाव स्व –पर प्रकाशक है, उस तरफ झुकूँ और उसमें एकाग्र होऊँ तो स्व-पर प्रकाशक शक्ति परिपूर्ण विकास पाकर समस्त

पदार्थ ज्ञात हो जाते हैं परन्तु परसन्मुख रहकर अनन्त पदार्थों को जाना जा सकता है - ऐसा नहीं है। मैं ज्ञान ही हूँ, ज्ञान सन्मुख देखने से ज्ञेयों को यथार्थ ज्ञान होता है। जहाँ तक आत्मा, परसन्मुख देखा करेगा, वहाँ तक विकारदशा और ज्ञान की हीन दशा का कभी अभाव नहीं होगा और सर्वज्ञपद प्राप्त नहीं किया जा सकेगा। अपने में सर्वज्ञ होने की ताकत है - ऐसी प्रतीति आत्मसन्मुख रहने से होगी। द्रव्यदृष्टि से बिना अनन्त पदार्थों को जानने की सामर्थ्य की प्रतीति नहीं होती है।

इस प्रकार जो जीव निर्णय करता है, उसे सच्ची दृष्टि होती है, उसे आत्मा के ज्ञान की महिमा आती है। मेरे ज्ञान सामर्थ्य में अनन्त केवली और सिद्ध समाहित हो जाते हैं, फिर भी ज्ञान विशाल रह जाता है। चौथे गुणस्थानवाला ऐसी प्रतीति करता है। किसी अरहन्त द्वारा, किसी वाणी द्वारा अथवा पुस्तकादि द्वारा नहीं जानता परन्तु अपने से जानता है - ऐसा निश्चित करते ही निमित्त से लाभ होता है, देव-शास्त्र-गुरु से लाभ होता है, बहुत पुस्तकें पढ़ें तो ज्ञान होता है - ऐसी दृष्टि का अभाव होता है; परसन्मुखता तथा विकार की रुचि नष्ट होती है और अपने स्वभाव के लिए परसन्मुख देखना नहीं रहता। स्व-सन्मुख देखने से ज्ञान परिपूर्ण होता है और अपने को परिपूर्ण जानने से अनन्त पर ज्ञात हो जाता है। अपने को जानना, वह निश्चय है और पर को जानना, वह व्यवहार है।

बहुत लोग कहते हैं कि यह बहुत उत्कृष्ट / ऊँची बात है परन्तु यह ऊँची बात नहीं है, यह तो अभी प्रतीति कराने की बात है। प्रथम जैन कैसा होता है कि जो सर्वज्ञ शक्ति का स्वीकार करता है। अनादि काल से अनन्त भव हुए तथा अनेक प्रकार का विकार स्वयं ने किया है, उन विकारों और विकारों के निमित्तों के अनन्त प्रकार हैं - ऐसे अनन्त पदार्थ हैं, उनका ज्ञान विकार सन्मुख की दृष्टि से नहीं होता; विकार सन्मुख की दृष्टि से तो ज्ञान हीन होता है। जीव, विकार में रहकर क्रम-क्रम से पदार्थों का ज्ञान करता है परन्तु विकार से परान्मुख होकर स्वभाव सन्मुख होऊँ तो अनन्त पदार्थों को अक्रम से जानने की मेरी सामर्थ्य है - ऐसी प्रतीति होती है। जहाँ तक इच्छा होती है, वहाँ तक ज्ञान अटकता है परन्तु विकार सन्मुख नहीं, कर्म सन्मुख नहीं मैं तो ज्ञान सन्मुख हूँ - ऐसी प्रतीति होने पर, यह ज्ञान ही सर्वज्ञता की सामर्थ्यवाला है - ऐसा निर्णय होता है।

♦ जहाँ तक परसन्मुख दृष्टि है, वहाँ तक स्व को तो नहीं जानता परन्तु विकार तथा परपदार्थों का जो थोड़ा ज्ञान क्रमशः होता है, वह भी यथार्थ ज्ञान नहीं कहलाता ।

♦ परन्तु स्वभाव सन्मुख दृष्टि होने पर और अपने सर्वज्ञ स्वभाव की प्रतीति होने पर अनन्त पदार्थों को अक्रम से जानने की सामर्थ्य की प्रतीति आयी और स्व-पर समस्त पदार्थों का ज्ञान यथार्थ हुआ, वह अनन्त पदार्थों के आश्रय से नहीं होता, परन्तु अपरिमित ज्ञान के आश्रय से होता है । यद्यपि अभी आत्मा के सर्व प्रदेशों से प्रत्यक्ष जानने की सामर्थ्य विकसित नहीं हुई है, तथापि प्रतीति की है । ज्ञान की सामर्थ्य तो अभी परोक्षरूप से क्रम से जानने की है ।

♦ साधकदशा में विकार है, तब तक ज्ञान की अपूर्णता और परोक्षता है । स्व सन्मुख दृष्टि द्वारा स्थिरता करके वीतरागता होने पर स्वयं केवलज्ञान व्यक्त कर सकेगा और अनन्त पदार्थों को प्रत्यक्ष सर्व प्रदेशों से अक्रम से, अर्थात् एक साथ जान सकेगा । जिन भगवान द्वारा कथित पदार्थों का स्वरूप ऐसा है ।

‘जिन’ शब्द में से निश्चित होता है कि वे पहले जिन नहीं थे, अज्ञानदशा थी, विकार की तारतम्यता और विविधता थी; तत्पश्चात् सच्ची दृष्टि होने पर आत्मा के साथ आंशिक एकता हुई, अस्थिरता के कारण विकार था और अल्पज्ञता थी; पश्चात् सम्पूर्ण एकता होने पर सर्वज्ञ जिन हुए हैं । इस प्रकार आत्मा के स्वरूप को यथार्थ श्रद्धा में लेना चाहिए ।

वर्तमान विकारीदशा में विकार मन्द कर सकते हैं – ऐसा प्रत्यक्ष दिखता है तो विकार का अभाव ही करके वीतरागीदशा होती है और वीतरागीदशा होने पर सर्वज्ञपना प्रगट होता है, परन्तु वह अपने आत्मा से जानना होता है – ऐसा निश्चित करे तो सच्ची प्रतीति कहलाती है । भगवान कहते हैं, इसलिए अनन्त पदार्थ हैं – ऐसा ऊपर-ऊपर से निश्चित करे, वह यथार्थ नहीं है । भगवान तो परपदार्थ में गिने जाते हैं । आत्मा स्वयं अपनी सर्वज्ञशक्ति से अनन्त पदार्थों को जाननेवाला है । इस प्रकार स्वभावसन्मुख दृष्टि करके स्व को जाने तो अपना आत्मा अनन्त ज्ञेयों को पी जाता है – ऐसी सामर्थ्य की प्रतीति सच्ची की कहलाती है और समस्त ज्ञेयों में आत्मा प्रधान है – ऐसी प्रतीति की कहलाती है ।

जो जीव अनन्त पदार्थों को नहीं मानता परन्तु सभी होकर एक है - ऐसा मानता है, उसे समस्त ज्ञेयों में आत्मा प्रधान है - ऐसी श्रद्धा नहीं होती। वह तो स्थूल भूल में है। जो जीव अपनी दशा, अल्पज्ञ रहे - ऐसा मानता है, उसने भी आत्मा को प्रधान नहीं माना है, वह भी स्थूल भूल में है। अनन्त सिद्ध हैं, केवली हैं, साधक हैं, बाधक हैं, कर्म हैं, नोकर्म हैं - इत्यादि अनेक प्रकार से जीव और अजीव सभी पदार्थ हैं - ऐसा अभी जो व्यवहार से भी ज्ञान में नहीं लेता, वह तो स्थूल मिथ्यादृष्टि है, वह आगम का ज्ञाता नहीं है।

आचार्य भगवान यह कहते हैं कि जो मुनि, सर्वज्ञ द्वारा कथित छह द्रव्य, नव तत्त्व इत्यादि को व्यवहार से जानता है, छह काय की हिंसा के भाव का त्याग करता है, तप और संयम में लीन है, फिर भी विश्व के अनन्त पदार्थों में अपना आत्मा प्रधान / मुख्य है, इस प्रकार अपने आत्मा के आश्रय से रहकर जानपना करके अपनी आत्मा की श्रद्धा नहीं करता परन्तु परसन्मुख दृष्टि करता है, वह मुनि सच्चा मुनि नहीं है, अपितु श्रमणाभास है।

शास्त्र का ज्ञान किया कब कहलाये ? कि उसका रहस्य अपने भाव में भासित हो तो। स्वयं ज्ञाता है और अनन्त ज्ञेय हैं। अनन्त ज्ञेयों में तन्मय हुए बिना ज्ञाता सबका जाननेवाला है, जो ऐसी श्रद्धा नहीं करता, वह श्रमणाभास है।

देखो, यहाँ आचार्य भगवान ने चरणानुयोग में भी आत्मप्रधान की बात की है। प्रत्येक गाथा में द्रव्यदृष्टि रखकर बात की है। आत्मज्ञान के बिना शास्त्र का जानपना, व्रतादिक का पालन और संयम सब व्यर्थ है - ऐसा कहना है और तपश्चर्या करते होने पर भी उसे धर्म की गन्ध भी नहीं है।

भाई! तुझे धर्म करना है न! तो इससे निश्चित होता है कि वर्तमान पर्याय में धर्म प्रगट नहीं है, किन्तु अधर्म है। अधर्म का करनेवाला तू और अधर्म को मिटाकर धर्म का करनेवाला भी तू है। वर्तमान दशा में धर्म व्यक्त हो तो धर्म करना नहीं रहता और धर्म करने की स्वभाव में शक्ति न हो तो धर्म प्रगट नहीं हो सकता; इसलिए धर्मदशा प्रगट हो - ऐसी शक्ति के भण्डार स्वरूप अपनी आत्मा की श्रद्धा कर। आत्मा, ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि अनेक गुणों का महाभण्डार है, वह आत्मा अनन्त ज्ञेयों को एक समय में पी जाने की

सामर्थ्यवाला है। वे वस्तुएँ हैं, इसलिए जानता है – ऐसा नहीं है परन्तु अपनी ऐसी सामर्थ्य है, यह बताते हैं। इस बात को पकड़ने के लिये अपना ज्ञान सूक्ष्म करना पड़ेगा। जिसे वर्तमान में अपनी सर्वज्ञशक्ति की प्रतीति नहीं आती, वह आगे किस प्रकार बढ़ेगा और मुनिपना लेगा? अर्थात् वह नहीं बढ़ सकेगा। इसलिए सर्व ज्ञेयों में अपना आत्मा प्रधान है – ऐसी प्रतीति, वह प्रथम सम्यग्दर्शनरूप धर्म है – ऐसे आत्मा की जो मुनि श्रद्धा नहीं करता, वह श्रमणाभास है।

यहाँ कोई कहे कि सभी मतों के साथ समन्वय करो और गुणग्राही होओ ?

समाधान : जैसे, अमृत और ज़हर का समन्वय नहीं होता; उसी प्रकार वीतराग सर्वज्ञदेव की यथार्थ वार्ता, अन्य मत के साथ मेल नहीं खा सकती। तथापि सब है ऐसा 'है' पने की अपेक्षा से समन्वय है। कारण कि भगवान की वाणी में यह आया है कि सम्यक्त्व है और मिथ्यात्व भी है; सिद्ध जीव हैं और संसारी जीव भी हैं; सर्वज्ञ को माननेवाले जीव हैं और अल्पज्ञ तथा विकार को माननेवाले जीव भी हैं; इसलिए उसमें 'है' पने की अपेक्षा से समन्वय है तथा स्वयं ज्ञान-दर्शन-चारित्र इत्यादि अनन्त गुणों का पिण्ड है – ऐसा निर्णय करने से दूसरे जीव और जड़ पदार्थों के गुण भी जान लेता है, इसे गुणग्राहीपना कहते हैं।

कोई कहता है कि इतनी उत्कृष्ट बात करते हो परन्तु प्रथम सच्चा मनुष्य तो होना चाहिए न ?

उत्तर : जो जीव अपनी आत्मा की यथार्थ श्रद्धा नहीं करता, वह मिथ्यादृष्टि है। इसकी विपरीत श्रद्धा का व्यवहार, वह मनुष्यव्यवहार है और जो जीव सच्ची श्रद्धा करता है और अपने में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करता है, वह आत्मव्यवहार है।

आत्मा का ध्यान कर सके – ऐसा मनुष्यभव मिला, जैनधर्म मिला, सच्चे निमित्त मिले; तथापि जो जीव, मनुष्यपर्याय की दृष्टि छोड़कर आत्मा की दृष्टि नहीं करता, वह मूर्ख है। पानी में काँई की परतों के कारण कछुआ चन्द्र को नहीं देख सकता। किसी समय काँई की परत दूर होने पर पहली बार चन्द्रमा देखा परन्तु स्वयं चन्द्र की क्रान्ति देखने के लिये नहीं रुककर दूसरे कछुओं को कहने गया। उन सबको इकट्ठा करके लाया किन्तु तब

काई वापस जुड़ जाने से चन्द्रमा दिखना बन्द हो गया। जिस प्रकार वह कछुआ मूर्ख गिना गया, उसी प्रकार जो जीव सच्चा अवसर, सच्चे निमित्त और अपने को ज्ञान का उघाड़ प्राप्त होने पर भी बाहर में रुकता है और आत्मा का निर्णय नहीं करता, वह कछुए की तरह मूर्ख है; संसार में परिभ्रमण कर रहा है। वह मनुष्यपर्याय पूर्ण होते ही चारों गतियों में भ्रमण करेगा।

[सद्गुरुप्रवचनप्रसाद (गुजराती हस्तलिखित दैनिक)]



उसके महासद्भाग्य की ज्या बात!

अरे! दुनिया को कहाँ खबर है कि भगवान कैसे होते हैं! उन्हें तो उनके भक्त... साधक धर्मात्मा ही पहचानते हैं। एक उत्तम राजा भी पुण्यप्रकृति से कैसा सुशोभित होता है! तो यह तो तीन लोक के धर्मराजा तीर्थङ्कर.... उनके अन्तर में सर्वज्ञता का अतीन्द्रिय वैभव और बाहर में धर्मसभा का दिव्य वैभव, उनकी महिमा की क्या बात! जहाँ ऊपर से विमान में इन्द्र उतरते हैं और प्रभुचरण में झुकते हैं; सिंह-बाघ जैसे तिर्यञ्च, शान्त होकर प्रभु के मुख को देखते हैं; मुनिराज, प्रभु की भक्ति करते हैं; रत्नों की वृष्टि होती है; अनेक जीव, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त करते हैं – साधारण पुण्यवाले जीवों को ऐसी बात देखने -सुनने को कहाँ से मिलेगी?

भगवान की ऐसी अचिन्त्य महिमा जिसके अन्तर में हो, उसके महासद्भाग्य की क्या बात! वह तो मानो मोक्ष के दरबार में आया है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य, पृष्ठ-१११

कौन है संसारतत्त्व

श्रीप्रवचनसार की अन्तिम पाँच गाथाएँ मुख्य सारभूत होने से आचार्यदेव ने उन्हें पञ्च रत्न कहा है; उन पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन यहाँ प्रस्तुत हैं।

आचार्यदेव कहते हैं कि शास्त्र के मुकुटमणि समान यह पाँच निर्मल रत्न जयवन्त वर्तों!

प्रवचनसार की अन्तिम गाथाओं को आचार्यदेव ने 'पाँच रत्न' कहा है। कैसे है वे पञ्च रत्न? - शास्त्र की कलगी में अलङ्कार समान हैं। संक्षेप में कहा जाए तो भगवान् अरहन्तदेव के समस्त शासन को प्रकाशित करनेवाले हैं और संसार तथा मोक्ष की भिन्न-भिन्न स्थिति को जगत् के समक्ष प्रगट करते हैं। ये पाँच रत्न, संसार का मार्ग तथा मोक्ष का मार्ग - इन दोनों की विलक्षण स्थिति को प्रकाशित करते हैं - ऐसे यह निर्मल पञ्च रत्न (गाथा 271 से 275) जयवन्त हों!

उत्तम वस्तु को रत्न कहा जाता है। जो जल में श्रेष्ठ हो, उसे जलरत्न कहा जाता है; उत्तम पुत्र को पुत्ररत्न कहा जाता है; उसी प्रकार इन पाँच उत्तम सूत्रों को पञ्च रत्न कहा है। रत्न की भाँति उनका प्रकाश संसार एवं मोक्षमार्ग को स्पष्टरूप से प्रकाशित करता है। संसार का मार्ग क्या है और मोक्षमार्ग क्या है? - वह स्पष्टरूप से बतलाकर, जीवों को मोक्षमार्ग में लगाता है। यहाँ संसारतत्त्व को जयवन्त नहीं कहते, किन्तु संसारतत्त्व का स्वरूप बतलानेवाला यह सूत्र तथा उसका सम्यग्ज्ञान जयवन्त हो - यह कहते हैं।

सिद्ध भगवन्त तीन लोक के चूड़ामणि हैं; उसी प्रकार यह पाँच गाथाएँ इस प्रवचनसार शास्त्र की कलगी का अलङ्कार-चूड़ामणि हैं। (१) संसारतत्त्व क्या?, (२) मोक्षतत्त्व क्या?, (३) मोक्ष का साधनतत्त्व क्या?, (४) मोक्ष के साधनरूप जो शुद्धोपयोग, वही मोक्षार्थी के सर्व मनोरथ का स्थान है, और (५) शास्त्र का फल जो ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की प्राप्ति - इन सब का स्वरूप प्रकाशित करनेवाले, ये पाँच रत्न जयवन्त वर्तों!

अब, क्रमशः उस प्रत्येक तत्त्व का स्वरूप प्रकाशित करते हैं -

प्रथम रत्न - (गाथा २७१) संसारतत्त्व का स्वरूप प्रकाशित करता है।

अयथागृहीतार्था एते तत्त्वमिति निश्चिताः समये।

अत्यन्त फलसमृद्ध भ्रमन्ति ते अन्तःपरं कालम्॥

अर्थात्, जो भले ही समय हों/ भले ही वे द्रव्यलिङ्गी के रूप में जिनमत में हों, तथापि वे 'यह तत्त्व है (वस्तुस्वरूप ऐसा ही है)' इस प्रकार निश्चयवान् वर्तते हुए पदार्थों को अयथार्थरूप से ग्रहण करते हैं / जैसे नहीं हैं, वैसा समझते हैं; वे अत्यन्त फलसमृद्ध / अनन्त कर्मफलों से भरे हुए - ऐसे अब से आगामी काल में परिभ्रमण करेंगे।

जो जीव, व्यवहार से जैनशासन में स्थित हो, द्रव्यलिङ्गी होकर पञ्च महाव्रतादि का पालन करता हो, किन्तु अन्तर में अज्ञान के कारण तत्त्वों की विपरीतश्रद्धा करता हो, वह जीव, मिथ्याश्रद्धा के कारण दीर्घ काल तक संसार में परिभ्रमण करेगा।

संसारमार्ग का अगुवा कौन? संसारतत्त्व में सबसे बड़ा कौन? तो कहते हैं कि द्रव्यलिङ्गी मिथ्यादृष्टि साधु तो संसारतत्त्व ही है। कैसा है वह? स्वयं अविवेक से उसने पदार्थों को अन्यथा ही अङ्गीकार किया है। विपरीतदृष्टि से पदार्थों का स्वरूप विपरीतरूप ही समझता है। अपना अभिप्राय ही विपरीत होने से वह शास्त्रों के आशय को भी विपरीतरूप से ही ग्रहण करता है। भगवान का तथा श्रुतज्ञानी सन्तों का अभिप्राय भी वह अविवेक के कारण विपरीत ही ग्रहण करता है। स्वयं अविवेक के कारण उस पर मिथ्यात्व की मुहर लगती है। विपरीतदृष्टि के कारण 'यह तत्त्व ऐसा ही है' — इस प्रकार मिथ्या निश्चय द्वारा अतत्त्वश्रद्धा को दृढ़ करता है। यह सब किसी पर के कारण नहीं होता, किन्तु वह जीव स्वयं अविवेकी होने से और महा-मोहमल से मलिन है; इसलिए

विपरीतरूप से पदार्थों का स्वरूप मानकर अतत्त्वश्रद्धान करता है। ऐसे जीव, भले ही द्रव्यलिङ्गी मुनि होकर जिनशासन में स्थित हों, तथापि वे संसारतत्त्व ही हैं; वे श्रमण नहीं, किन्तु श्रमणाभास हैं।

संसारतत्त्व; अर्थात्, समस्त मिथ्यादृष्टि जीव कैसे होते हैं? – उस पर यह गाथारत्न प्रकाश डालता है। इस प्रकार विपरीतमान्यता जिसका मूल है – ऐसे संसारतत्त्व का स्वरूप बतलाकर, उससे छुड़ाते हैं। स्वयं अविवेक से विपरीतश्रद्धा को इतना दृढ़ कर लिया है कि उसमें सन्देह नहीं करता; 'यह ऐसा ही है' — इस प्रकार निश्चय किया है, उसने महामोहमल को इकट्ठा किया है। वह शास्त्रपठन करे तो उसमें से भी विपरीतदृष्टि के कारण मोहमल को ही एकत्रित करता है। ऐसे जीव, व्रत-तप करते हों, संयम का पालन करते हों, तथापि मिथ्या-अभिप्राय के कारण अनन्त काल तक अनन्त भावान्तर करके भवभ्रमण में भटकते रहेंगे; इसलिए उन्हें संसारतत्त्व ही जानना।

वह द्रव्यलिङ्गी श्रमण हुआ, इसलिए संसारतत्त्व से किञ्चित् बाहर निकलना होगा — ऐसा सन्देह नहीं करना चाहिए। यह सूत्ररत्न उस पर स्पष्टतया प्रकाश डालता है कि वह भी संसारतत्त्व ही है; उसमें धर्म या मोक्षमार्ग का अंश भी नहीं है। इसलिए जिसे वास्तव में संसारतत्त्व से छूटना हो, उसे यथार्थ तत्त्व का निश्चय करके, विपरीतअभिप्रायरूप मोहमल को नष्ट करना चाहिए। अहो! इस रत्न द्वारा अमृतचन्द्राचार्य ने मिथ्यात्व का विष उतार दिया है।

अरे! अविवेकी विपरीतदृष्टिवाले जीव, मोहमल से मलिन मनवाले हैं, वे जगत् के एक परमाणु को भी विपरीतदृष्टि में से नहीं छोड़ते; परमाणु को भी पराधीन मानते हैं। अरे! वे तो तीन लोक के नाथ सिद्धपरमात्मा को भी बाकी नहीं रखते! सिद्ध भगवन्तों को भी कालद्रव्य के निमित्त से परिणमना पड़ता है और निमित्ताभाव के कारण लोकाग्र में रहना पड़ा है – इस प्रकार वे उन्हें भी पराधीन मानते हैं। क्या किया जाए? अपनी दृष्टि में ही जहाँ पराधीनता है, वहाँ सारा जगत् – सिद्धपरमात्मा या परमाणु-पराधीन भासित होते हैं।

वह जीव, विपरीतदृष्टिरूपी कुठार द्वारा पिता और पितामह ऐसे सन्त और सर्वज्ञों

के अभिप्राय का घात करता है। वह जीव, विपरीतअभिप्राय के कारण अनन्त जन्म-मरण करके संसार में भटकेगा; इसलिए उसे संसारतत्त्व जानना। जहाँ-जहाँ ऐसा विपरीतअभिप्राय हो, वहाँ-वहाँ संसारतत्त्व जानना। जगत् का कोई भी जीव हो, किन्तु यदि ऐसे विपरीत अभिप्रायसहित हो तो वह संसारतत्त्व ही है — ऐसा समझना। वह श्रवण-पठन-मनन या संयम कुछ भी करे, किन्तु उनमें विपरीतान्यतरूपी विष घोलकर ही करता है — ऐसे जीवों को स्वरूप में रमणतरूप श्रमणपना नहीं होता, वे श्रमणाभास हैं। उन्हें चिदानन्द का अनुभव तो है नहीं; इसलिए कर्मफल के उपभोग को ही भोगते हैं। कर्मफल के उपभोग से जो भयङ्कर है — ऐसे अनन्त काल तक अनन्त भावान्तररूप परावर्तन करनेवाले वे जीव, बिलकुल अस्थिर परिणतिवान होने से, उन्हें संसारतत्त्व ही जानना।

देखो, यह संसारतत्त्व! संसारतत्त्व कहीं बाह्य में नहीं है किन्तु मिथ्यात्व के कारण जीव अपने स्वरूप से संसरित होकर / हटकर / खिसककर बाह्य अस्थिरभावों में परिवर्तनरूप जो संसरण कर रहा है, वही संसार है। तत्त्वार्थसार में श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं कि 'मिथ्यादृष्टि तो प्रसिद्ध हैं अर्थात् संसार हैं; और सम्यग्दृष्टि ईषत् सिद्ध अर्थात् किञ्चित् सिद्ध हैं, अर्थात् वे सिद्धपद के साधक हैं।'

रत्नत्रय की आराधना से पूर्ण मुनिराज, सिद्ध हैं। यहाँ प्रवचनसार में भी वे कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि तो संसारतत्त्व है और रत्नत्रय के आराधक सम्पूर्ण श्रामण्यवान श्रमण, वे मोक्षतत्त्व हैं। अहा! जो अप्रतिहरूप से मोक्ष की साधना कर रहे हैं, उन्हीं को मोक्षतत्त्व कह दिया!

मोक्ष कहाँ रहता है? कि सन्तों की शुद्धपरिणति में मोक्षतत्त्व रहता है। वह बात आचार्यदेव दूसरे रत्न में (गाथा २७२ में) कहेंगे।

यहाँ संसारतत्त्व का सबसे महान प्रतीक बतलाया है, उससे संसारतत्त्व को जान लेना चाहिए। संसारतत्त्व छोड़ने के लिए उसकी पहिचान करायी है और मोक्षतत्त्व प्रगट करने के लिए, उसका स्वरूप भी बतलाया है।

- मेरे आत्मा का स्वभाव तो चैतन्यसामर्थ्ययुक्त है।
- रागादि विभाव मेरे स्वभाव से विपरीत हैं।

● देहादि संयोग तो मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं ।

- ऐसा यथार्थरूप से जो नहीं जानता और देहादि की क्रिया में करता हूँ - ऐसा मानता है; शुभराग से मोक्षमार्ग सधेगा - ऐसा मानता है, वह जीव, तत्त्वों की विपरीतमान्यता द्वारा सतत् महामोहरूपी मैल को एकत्रित करता है, उसका मन मिथ्यात्वरूपी महामैल से मलिन है; इसलिए वह 'नित्य-अज्ञानी' है। 'नित्य अज्ञानी', अर्थात्, ऐसी विपरीतश्रद्धावाले जीव को व्यवहार का शुभराग करते-करते कभी दीर्घ काल में भी सम्यग्ज्ञान प्रगट हो जाएगा - ऐसा नहीं है। जब तक अविवेक से विपरीतश्रद्धा करेगा, तब तक निरन्तर वह अज्ञानी ही रहेगा और संसार में भटकेगा। वह जीव, भले ही कदाचित् द्रव्यलिङ्गी साधु; अर्थात्, जिसके वस्त्र का ताना भी नहीं होता - ऐसा होकर जिनशासन में स्थित हो, व्यवहार से सर्वज्ञदेव को ही मानता हो; कुदेव को नहीं मानता हो; पञ्च महाव्रत का भलीभाँति पालन करता हो, तथापि शुद्धोपयोग के अभाव से सच्चे श्रामण्य प्राप्त नहीं हुआ है; इसलिए वह श्रमणभास ही है और अभी भी संसारमार्ग में ही स्थित है।

देखो, उस श्रमणभास को सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का तथा व्यवहारचारित्र का शुभराग है; वह शुभराग होने पर भी अरहन्तदेव के शासन में उसे संसारमार्ग में ही स्थित कहा है; अर्थात्, अरहन्तदेव के शासन में शुभराग, वह मोक्षमार्ग नहीं है - ऐसा यह सूत्र प्रसिद्ध करता है। इस सूत्र से समझ लेना चाहिए कि जब तक जीव सम्यक्त्वश्रद्धान करके सम्यग्दर्शन प्रगट न करे, तब तक अन्य चाहे जितना करने पर भी वह संसारमार्ग में ही है। मिथ्यादृष्टि ने मुनि का द्रव्यलिङ्ग धारण किया हो तो उससे धोखे में नहीं आना चाहिए कि यह जीव, मोक्षमार्ग में स्थित होगा अथवा इतना -इतना करने से उसे किञ्चित् तो धर्म होगा। - नहीं, नहीं; वह तो संसारमार्ग में ही है।

संसारतत्त्व, पाँच भावों में से किस भाव में आता है ? - संसारतत्त्व, औदयिकभाव में आता है और नव तत्त्वों में से पुण्य-पाप-आस्रव तथा बन्ध - यह चारों तत्त्व, संसारतत्त्व हैं। यहाँ तो कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि श्रमणभास को संसारतत्त्व ही जानना। मिथ्यात्व ही मूल संसार है। पण्डित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में स्पष्ट कहा है कि - 'प्रगट हो कि मिथ्यात्व ही आस्रव-बन्ध है और मिथ्यात्व का अभाव अर्थात् सम्यक्त्व, संवर-

निर्जरा-मोक्ष है।' मिथ्यात्व में से जो बाहर निकला, वह संसारतत्त्व में से बाहर निकला। सम्यक्त्व के बिना भले ही घर-बार छोड़कर जङ्गल में वास करे, तथापि वह संसारतत्त्व से बाहर नहीं निकला है... अन्तर में संसार बसाकर ही बैठा है... जहाँ जाता है, वहाँ मिथ्यात्वरूपी संसार को अपने साथ ही ले जाता है। जिस प्रकार कड़वे चिरायते को शक्कर की थैली में भरने से वह मीठा नहीं हो जाता; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्यलिङ्ग धारण करे तो उससे कहीं वह संसारतत्त्व मिटकर मोक्षमार्गी नहीं हो जाता। जहाँ मिथ्यात्व है, वहाँ संसारतत्त्व ही है - ऐसा समझना। ●

(श्रीप्रवचनसार की पञ्च रत्न गाथाओं पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन)



साधकदशा ही परमार्थ स्तवन

हे भाई! तू सर्वज्ञस्वरूप को लक्ष्य में लेकर उसकी उपासना कर! तेरे १४८ कर्मबन्धन की बेड़ी क्षणमात्र में टूट जाएगी। अरे, वीतरागभावरूप जिनभक्ति तो अन्दर के मोह और भव के बन्धन को क्षण में छिन्न-भिन्न कर देती है, तब बाहर के ताले टूट जाँ — इसमें क्या आश्चर्य है? लोग तो बाहर के आश्चर्य में अटक जाते हैं और बाहर की आशा से भक्तामर आदि पढ़ते हैं परन्तु भाई! स्तुति का वास्तविक प्रयोजन तो अन्तर में अपने वीतरागभाव की वृद्धि हो — यह है। तू जिनकी स्तुति करता है, उन्होंने तो सम्पूर्ण राग को छोड़ दिया है; अतः उनकी स्तुति भी रागरहित भाव से ही सुशोभित होती है। भगवान और भक्त, दोनों के भावों में जितना सुमेल हो, उतनी साधकदशा है और वही परमार्थस्तवन है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य, पृष्ठ ३६-३७

वीतरागी सन्त ही मोक्ष और मोक्ष साधन

अब, संसारतत्त्व के सामने मोक्षतत्त्व क्या है ? वह बात आचार्यदेव 272 वीं गाथा में कहते हैं -

अजधाचार विजुत्तो जघत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा ।
अफले चिरंण जीवदि इह सो संपुण्ण सामण्णो ॥

सम्पूर्ण श्रामण्यवान साक्षात् श्रमण को मोक्षतत्त्व जानना । वे श्रमण, इस संसार में अधिक काल तक नहीं रहेंगे, अल्प काल में ही मोक्षरूप से परिणमित होंगे; इसलिए उन श्रमण को मोक्षतत्त्व जानना । कैसे हैं वे श्रमण ? तीन लोक की कलगी समान निर्मल विवेकरूपी दीपक; अर्थात्, भेदज्ञान की निर्मल ज्योति का प्रकाश उनके प्रगट हुआ है; उस ज्ञान प्रकाश द्वारा पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ निश्चय किया है; इसलिए उत्सुकता को दूर करके वे स्वरूप में स्थिर हुए हैं ।

वे श्रमण अन्तर्मुख होकर सच्चिदानन्द के महल में प्रवेश करके, उसके अनुभव में ऐसे तृप्त-तृप्त हुए हैं कि उसमें से बाहर नहीं निकलते; स्वरूप मन्थर हुए हैं, स्वरूप में स्थिर हो गये हैं । स्वरूप की शान्ति में मग्न हुए हैं; इसलिए अब विभाव में जाने के लिए आलसी हैं, सुस्त हैं ।

अहो ! वे तो चैतन्योन्मुख हुए सो हुए, अब कभी उसमें से बाहर निकलना ही नहीं है; इस प्रकार अन्तर में स्थिर हो गये हैं । सतत उपशान्त वर्तते हैं । उन्हें अकषायस्वरूप में लीनता है, वहाँ कषाय का अभाव है; इसलिए उपशमभाव का ढेर इकट्ठा होता जा रहा है ।

अज्ञानी के तो मोह का ढेर इकट्ठा होता है और इन मोक्षमार्गी मुनिराज को स्वरूप के उपशमभाव का गंज / ढेर इकट्ठा होता है और अयथाचार उनके दूर हुए हैं, अशुभ तो है ही नहीं तथा जितनी शुभवृत्ति उत्पन्न होती है, उतना अयथाचार भी दूर हुआ है।

पुनश्च; वे श्रमण, नित्यज्ञानी हैं, शुद्धोपयोगी होकर सतत ज्ञानी वर्तते हैं। स्वरूप में ज्ञान का उपयोग ऐसा जमा है कि अब बाहर नहीं निकलेगा। ऐसे वे शुद्धोपयोगी श्रमण, उत्कृष्ट साधकभाव को प्राप्त होने के कारण श्रामण्य से परिपूर्ण हैं। उनके मोक्ष का उत्कृष्ट साधन वर्तता है; इसलिए उन्हें मोक्षतत्त्व ही कह दिया है।

उन शुद्धोपयोगी श्रमण ने पूर्व काल के समस्त कर्मों को लीलामात्र से नष्ट किया है और नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करते; इसलिए वे पुनः इस संसार में प्राणधारणरूप दीनता को प्राप्त नहीं होते। जो शुद्ध निर्विकल्प आनन्दरस का अतीन्द्रियभाव प्रगट हुआ, उसके अतिरिक्त अन्य भावरूप अर्थात् विकारी परावर्तन का उनके अभाव है और सादि-अनन्त शुद्धस्वभाव में ही स्थिर परिणतिवान रहते हैं - ऐसे उत्कृष्ट श्रमण, स्वयं ही मोक्षतत्त्व हैं।

मोक्ष देखना हो तो ऐसे शुद्धपरिणतिरूप परिणमित शुद्धोपयोगी श्रमण को पहिचान! जिन्होंने चैतन्य के आनन्द-समुद्र में डुबकी लगाकर उसकी थाह ली है - अन्तर में परिपूर्ण एकाग्र होकर ठेठ तल तक पहुँच गये हैं, वे अब पुनः उस आनन्द में से बाहर निकलकर आकुलता में कभी नहीं आते। आकुलता के भाव और उसके फलस्वरूप जन्म-मरण करना, वह कलङ्क है। अतीन्द्रिय चैतन्य को जड़प्राण धारण करना पड़े, वह कलङ्क है, दीनता है। स्वर्ग का भव करना पड़े, वह भी दीनता है-कलङ्क है।

जिन्होंने शुद्धोपयोग से उत्कृष्ट श्रामण्य प्रगट किया है — ऐसे रत्नत्रय के आराधक उत्तम मुनिवर पुनः इस संसार में प्राण धारण नहीं करते; इस संसार में पुनः दूसरी माता नहीं करते; शुद्धता में से अशुद्धता में फिर कभी नहीं आते। बस, अब सादि-अनन्त काल तक अनन्त समाधिसुख में ही अवस्थित रहेंगे... अब उन्हें बन्धन नहीं है... नहीं है। **वाह! यहीं अपनी शुद्धपरिणति में मोक्षतत्त्व को उतारा है... मोक्ष लेने के लिये कहीं अन्यत्र जाना पड़े - ऐसा नहीं है... जहाँ अन्तर में उतरकर स्थिर हुए, वहाँ उन्होंने अपनी परिणति में ही मोक्ष को उतारा... इसलिए वे मोक्षतत्त्व हैं।**

अहा ! स्वरूप में स्थिर हुए मुनि को मोक्षतत्त्व ही कह दिया है । मोक्ष प्राप्त करने के लिये जो बिलकुल निकट वर्तते हैं - ऐसे मुनिवर, धर्म में प्रधान हैं और उन्हें यहाँ मोक्षतत्त्व कहा है, क्योंकि अप्रतिहतरूप से स्वरूप में ऐसे स्थिर हुए हैं कि श्रेणी लगाकर केवलज्ञान लेकर मोक्ष ही प्राप्त करेंगे और पुनः संसार में जन्म धारण नहीं करेंगे ।

मोक्षतत्त्वरूप से यहाँ 'सिद्ध' को न लेकर, जो अप्रतिहतरूप से अन्तरस्वरूप में लीन हुए हैं और उसमें से अब बाहर नहीं निकलेंगे - ऐसे साधु को मोक्षतत्त्वरूप से लिया है । मानों अपनी दृष्टि के समक्ष ही साधु, मुक्त होने की क्रियारूप परिणमित हो रहे हों - इस प्रकार उनका आचार्यदेव ने मोक्षतत्त्वरूप से वर्णन किया है । ऐसे साधु, अतीन्द्रिय परम सुख का अनुभव करते-करते सहजमात्र में कर्म को नष्ट करके मोक्ष को साधते हैं ।

अरे, मिथ्यात्व में स्थित द्रव्यलिङ्गी मुनि भी दुःखी ही है; दुःखी कहो या संसारतत्त्व कहो - एक ही बात है । तत्त्व का यथार्थ निश्चय न होने से वह अविवेकी है, उसके विवेकचक्षु नहीं खुले हैं ।

अहा ! संसार के घोर दुःखों से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा आत्मरक्षा होती है - ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करके जो स्वरूप में स्थिर हुए हैं... ऐसे स्थिर हुए हैं कि उसमें से बाहर निकलने के आलसी हैं... उसमें मग्न रहते हैं... प्रशान्त होकर स्वरूप में जम गये हैं; इसलिए 'अयथाचरण' से अर्थात् रागादि से रहित हैं । जो वीतराग होकर शान्त-निर्विकल्परस को झेल रहे हैं, आनन्द के अनुभव में झूलते हैं; जहाँ व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प भी नहीं है, निर्विकल्प होकर आत्मरस को पी रहे हैं, स्वरूप में एक में ही अभिमुख होकर वर्तते हैं - इस प्रकार मुक्त होने की क्रियारूप से परिणमित होते हुए ऐसे साक्षात् श्रमण, वे मोक्षतत्त्व हैं । वे भव का अन्त करके, अब दूसरा शरीर धारण नहीं करेंगे; अभी केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त करेंगे ।

अब, मोक्षतत्त्व का साधन क्या है ? - उसे तीसरे रत्न अर्थात् गाथा 273 में प्रकाशित करते हैं -

सम्यग्विदितपदार्थास्त्यक्त्वोपधिं बहिस्थमध्यस्थम् ।
विषयेषु नावसक्ता ये ते शुद्धा इति निर्दिष्टाः ॥

भगवन्त शुद्धोपयोगी मुनि, वे मोक्ष का साधनतत्त्व हैं। सम्यग्ज्ञानपूर्वक चैतन्य में आत्मपरिणति ऐसी लीन हुई है कि विषयों में किञ्चित् आसक्ति नहीं रही है - ऐसी परिणतिरूप से परिणमित मुनि, स्वयं उग्र पराक्रम द्वारा मोक्ष की साधना कर रहे हैं; इसलिए उन्हीं को मोक्ष का साधनतत्त्व जानना चाहिए।

कैसे हैं महिमावान शुद्धोपयोगी मुनिवर ? प्रथम तो, अनेकान्त द्वारा ज्ञात होनेवाला जो सकल ज्ञातृतत्त्व तथा ज्ञेयतत्त्व का यथास्थित स्वरूप, उसके पाण्डित्य में जो प्रवीण हैं.... मुनिदशारूप जो मोक्ष का साधन, उसके तीन अवयव हैं - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। सर्व प्रथम, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्रदशा कभी नहीं होती है। भेदज्ञानरूप जो पाण्डित्य, उसमें प्रवीणता से जिन्होंने ज्ञानस्वभावी आत्मा का और ज्ञेयतत्त्वों का यथार्थ स्वरूप जाना है; अनेकान्त द्वारा स्व-पर तत्त्वों को भिन्न-भिन्न यथावत् जानकर भेदज्ञान प्रगट किया है। देखो, यह मोक्ष के साधन की पहली बात !

आत्मा, आत्मारूप से है और परज्ञेयरूप से नहीं है; आत्मा का ज्ञायक -स्वभाव, ज्ञायकस्वभावरूप से है और रागरूप से नहीं है - ऐसे अनेकान्त द्वारा यथार्थ वस्तुस्वरूप जानकर, प्रथम तो भेदज्ञान में प्रवीणता प्रगट की है; अर्थात्, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट किये हैं, तत्पश्चात् चारित्र होता है।

अब, भेदज्ञान द्वारा जिन्होंने स्व-पर को भिन्न जाना है, उसमें से अन्तरङ्ग में जगमग करते हुए चैतन्यमय स्वतत्त्व को समस्त बाह्य सङ्ग से तथा अन्तरङ्ग रागादि के सङ्ग से भी पृथक् करके, उसी में आत्मा की परिणति को लगाया है; इस प्रकार चिदानन्दतत्त्व में ही आत्मपरिणति लीन रहने के कारण प्रशान्त हुई है; इसलिए बाह्य विषयों में किञ्चित् भी आसक्ति नहीं होती है। अहा ! ऐसी दशा में झूलते हुए सन्त-मुनि सकल महिमावन्त है।

आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसे सकल महिमावन्त भगवन्त शुद्धोपयोगी सन्त अपने आप स्वयं मोक्ष के साधन हैं; अन्य कोई बाह्य साधन नहीं है। स्वरूप में एकाग्रता द्वारा स्वयं ही मोक्ष के साधनरूप होकर, अनादि से बँधे हुए कर्मकपाट को अति उग्र प्रयत्न से खोल रहे हैं। ऐसे सन्त, मोक्ष को साधने में शूरवीर हैं। ऐसी दशारूप जो मोक्षसाधन, वह अभिनन्दनीय है - प्रशंसनीय है, उसका मनोरथ करने जैसा है।

देखो, यह मुनिदशा ! यह चारित्रदशा !! और यह मोक्ष का साधन !!! मुनियों की जो शुद्धपरिणति, वही मोक्ष का साधन है। जहाँ राग भी साधन नहीं है, वहाँ बाह्यसाधन की तो बात ही कहाँ रही ? प्रथम, यथार्थ भेदज्ञान प्रगट किये बिना, स्वतत्त्व में परिणतिरूप शुद्धता कभी प्रगट होती ही नहीं और शुद्धता के बिना मोक्ष का साधन नहीं होता है।

जो शुद्धपरिणतिरूप परिणमित होकर स्वयं मोक्ष के साधन हुए हैं, मोक्षमार्गी हैं – ऐसे भगवन्त शुद्धोपयोगी महिमावान मुनिवर ही प्रशंसनीय हैं; शुभराग भी प्रशंसनीय नहीं है। शुभराग, मोक्ष का साधनतत्त्व नहीं है, वह तो आस्रवतत्त्व है।

अहा, यह रत्न (गाथा-273) भगवान अरहन्तदेव के शासन में कहे हुए मोक्ष के साधन को प्रकाशित करता है ! मोक्ष का यथार्थ साधन क्या है ? – उसे यह सूत्र प्रसिद्ध करता है। प्रसिद्धरूप ऐसा जो मोक्षमार्ग, वह तो स्वतत्त्व की शुद्धपरिणति में ही समा जाता है। ऐसे तत्त्व को मोक्ष के साधनरूप से अरहन्तदेव के मार्ग में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने प्रसिद्ध किया है। जो इससे विरुद्ध साधन मानता है, उसे अरहन्तदेव के मार्ग की खबर नहीं है, वह अरहन्तदेव के मार्ग से बाहर है।

अरे भाई ! प्रथम तू लक्ष्य में तो ले कि मार्ग ऐसा है... मोक्ष का सच्चा साधन ऐसा है... ! सच्चे साधन को न पहिचानकर विपरीत साधन माने तो वह विपरीतमार्ग से संसार में ही भटकता है किन्तु मोक्ष की साधना नहीं कर सकता है; इसलिए स्वरूप को साधने का सत्यमार्ग क्या है ? – उसकी बात पहले रुचिकर लगना चाहिए।

जिसे स्वरूप की बात रुचिकर नहीं लगती, वह स्वरूप के साथ एकता कैसे करेगा ? रुचि के बिना एकता नहीं होती। जिसे चिदानन्दस्वरूप आत्मा रुचिकर नहीं लगता, श्रद्धा – ज्ञान में नहीं जमता, वह उसमें एकता अथाव एकाग्रता कैसे करेगा ? पहले तो निर्णय की शक्ति चाहिए और फिर एकाग्रता के पराक्रमरूप शूरवीरता से कर्मबन्धन तोड़ डालता है।

भगवान अरहन्तदेव के शासन में मोक्षतत्त्व का साधन क्या है ? उसका सर्वथा संक्षेप में कथन करता हुआ यह सूत्र कहता है कि सकल महिमावन्त भगवन्त शुद्धोपयोगी सन्त ही मोक्ष के साधन हैं, उनका शुद्धोपयोग, कर्मों को तोड़ डालने का अति उग्र प्रयत्न

है और वह शुद्धोपयोग महिमावन्त है। शुद्धोपयोग के अतिरिक्त अन्य कोई वास्तव में मोक्ष का प्रयत्न या मोक्ष का साधन नहीं है - ऐसा प्रसिद्ध करके यह तीसरा रत्न, अरहन्तदेव के शासन के मोक्षमार्ग को प्रकाशित करता है।

अहा! मोक्ष को साधनेवाली यह मुनिदशा!! वे मुनि, चैतन्य की शान्ति में स्थिर हो गये हैं... स्वरूप की लीनता में से बाहर निकलना उन्हें अच्छा नहीं लगता... परिणति को बाह्य विषयों से पराङ्मुख करके अन्तरोन्मुख कर दी है... शरीर की चिन्ता नहीं... वन के शेर - चीते दहाड़ते हों तो भी भयभीत होकर स्वरूप से किञ्चित् चलायमान नहीं होते। उस दशा की भावना भाते हुए श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि -

एकाकी विचरूँगा जब शमशान में,
गिरि पर होगा बाघ सिंह संयोग जब।
अडोल आसन और न मन में क्षोभ हो,
जानूँ पाया परम मित्र संयोग जब॥
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा ?

- ऐसी शुद्धोपयोगी मुनिदशा, वह मोक्ष का साधन है। सम्यग्दर्शन में भी मोक्ष का अंशतः साधनपना है परन्तु यहाँ तो उत्कृष्टरूप से मोक्ष का परिपूर्ण साधन बतलाना है। शुद्धरत्नत्रय, वह मोक्षसाधन ही है; बन्धसाधन नहीं है तथा राग तो बन्धसाधन ही है; मोक्षसाधन नहीं है - इस प्रकार बन्ध-मोक्ष के विलक्षण पन्थ को यह रत्न प्रसिद्ध करते हैं।

जो जीव, बन्ध-मोक्ष के कारणरूप भावों को भिन्न-भिन्न स्वरूप से नहीं जानता, उसे जैनशासन या मुनिदशा का भी पता नहीं है। अहा! मुनि तो शुद्धोपयोग द्वारा निर्विकल्प आनन्दरस का पान करते-करते मोक्ष की साधना कर रहे हैं। मुनिवर, मोक्ष की साधना में शूरवीर हैं; चैतन्य में एकाग्रतारूप महा-पराक्रम द्वारा कर्मों को छेदकर शूरवीरता से वे मोक्ष की साधना कर रहे हैं।

‘मुक्ति का मारग है वीरों का, नहीं कायर का काम...’ चैतन्य में एकाग्रतारूप शूरवीरता द्वारा मोक्ष की साधना होती है; किन्तु ‘कर्म का बल बहुत है, हम क्या करें?, कर्म

की शक्ति कम हो तो चारित्र आये' - ऐसी कायरता की बात करनेवाला मोक्ष की साधना नहीं कर सकता। मुनिवर तो चिदानन्दतत्त्व में लीन होकर, शुद्धोपयोग प्रगट करके, अति उग्र पुरुषार्थरूप पराक्रम द्वारा कर्म को छेदकर मोक्ष को साधते हैं। इस प्रकार शुद्धोपयोगरूपी शूरवीरता ही मोक्ष का साधन है। शुद्धोपयोगी मुनिवर, मोक्ष को साधन में शूरवीर हैं; वे ही मोक्ष का साधनतत्त्व हैं - ऐसा जानना। मोक्ष को साधने में शूरवीर ऐसे वे मुनिवर, अपने सर्व मनोरथ शुद्धोपयोग द्वारा सिद्ध करते हैं।

इस प्रकार मोक्ष का साधन कहा। ●

(प्रवचनसार की पञ्च रत्न गाथाओं पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन)



त्रिकाली द्रव्य की दास

जैसे भगवान किसी को वन्दन नहीं करते; वैसे ही निर्मल आत्मस्वभाव भी किसी को वन्दन या किसी का आदर नहीं करता। निर्मल पर्याय तो स्वभाव का वन्दन या आदर करती है, किन्तु निर्मल द्रव्यस्वभाव किसी को वन्दन नहीं करता। वह तो दृष्टि का विषय परिपूर्ण तत्त्व है, वह किसी को नमस्कार नहीं करता, किसी का सत्कार नहीं करता।

जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं, वे त्रिकाली द्रव्य की दास हैं; परन्तु त्रिकाली द्रव्य किसी का दास नहीं है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, विषापहार प्रवचन, पृष्ठ ११६

देहाश्रित लिङ्ग और जाति मोक्ष का कारण नहीं

यद्यपि मोक्ष की कारणरूप मुनिदशा में दिगम्बर मुद्रा एवं उत्तम जाति ही होती है, तथापि मात्र दिगम्बरदशा या उत्तम जाति ही मोक्ष का कारण नहीं होती; मोक्ष का वास्तविक कारण तो रत्नत्रय ही है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण पूज्य गुरुदेवश्री ने इस प्रवचन में किया है।

जिस प्रकार व्रतादि के विकल्प मोक्ष का कारण नहीं हैं; उसी प्रकार मुनिलिङ्ग का विकल्प भी मोक्ष का कारण नहीं है - ऐसा अब आचार्यदेव प्रतिपादन करते हैं।

लिंग देहारित दृष्टं देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिंगकृताऽऽग्रहाः ॥

अर्थात् जटा धारण करना अथवा नग्न रहना आदि वेष, शरीर के आश्रित देखा जाता है और शरीर ही आत्मा का संसार है; इसलिए जिनको लिङ्ग का ही आग्रह है - बाह्य वेष धारण करने से मुक्ति की प्राप्ति होती है - ऐसी हठ है, वे पुरुष संसार से नहीं छूटते हैं।

लिङ्ग, देहाश्रित है और देह में आत्मबुद्धि ही संसार है; इसलिए जो देहादि लिङ्गों में अथवा रागादि में ममत्वबुद्धि करते हैं, वे संसार से मुक्त नहीं होते।

समयसार में आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि जब आत्मा को देह ही नहीं है तो फिर देह अथवा देहाश्रितभाव मोक्ष के कारण कैसे हो सकते हैं? पञ्च महाव्रतादिरूप

मुनिलिङ्ग को अथवा अणुव्रतादि के शुभरागरूप गृहस्थलिङ्ग को आत्मा का स्वरूप मानकर, अज्ञानी उन्हें मोक्षमार्ग मानता है परन्तु वे लिङ्ग मोक्षमार्ग नहीं हैं क्योंकि अरहन्तदेव, देह के प्रति निर्मम वर्तते हुए लिङ्ग को अर्थात् महाव्रत के विकल्पों को छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य का ही सेवन करते हैं। भगवान ने तो शुद्धज्ञान की उपासना द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप मोक्षमार्ग का सेवन किया है और इसी मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है।

द्रव्यलिङ्ग तो शरीराश्रित होने से परद्रव्य है; इसलिए वह मोक्षमार्ग नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य ही मोक्षमार्ग है क्योंकि वह आत्माश्रित है; इसलिए हे भव्य! बाह्य लिङ्ग का ममत्व त्यागकर, दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप मोक्षमार्ग में ही अपने आत्मा को जोड़।

‘जिसे लिङ्गकृत आग्रह है, वह मोक्ष प्राप्त नहीं करता’, परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि दिगम्बर लिङ्ग के सिवाय किसी भी कुलिङ्ग में भी मोक्ष हो जाता है। मोक्ष प्राप्त करनेवाले को मुनिदशा में शरीर की दिगम्बर दशा ही होती है, यह तो नियम है – ऐसा जानना चाहिए। यह कहीं लिङ्ग कृत आग्रह नहीं है परन्तु जो अन्तरङ्ग में चैतन्यतत्त्व की आराधना तो नहीं करता और शरीर की दिगम्बरदशा होने को ही मोक्ष का कारण मानता है, उस जीव को लिङ्गकृत आग्रह है। जब शरीर सम्बन्धी विकल्प छोड़कर स्वरूप में स्थिर होगा, तभी मुक्ति होगी। उस समय देह भले ही दिगम्बर ही हो, तथापि वह कोई मोक्ष का कारण नहीं होती; मोक्ष का कारण तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य ही होंगे। इसलिए अरहन्त भगवन्तों ने देह का ममत्व त्यागकर, रत्नत्रय की ही मोक्षमार्गरूप से उपासना की है और उसी का उपदेश दिया है।

देह तो संसार है, अशरीरी सिद्धदशा के सामने संसार का आधार (निमित्तरूप) शरीर है। जिसे शरीर का महत्व है, शरीर मुझे धर्म का साधन होगा – ऐसा मानता है, वह जीव, शरीर से पृथक् नहीं हो सकता अर्थात् संसार से नहीं छूट सकता और अशरीरी सिद्धपद प्राप्त नहीं कर सकता।

वस्त्र-पात्रादि परिग्रहसहित मुनिदशा मानने-मनवानेवाले को तो मोक्षमार्ग के निमित्त में भी भूल है। यहाँ तो कहते हैं कि शरीर की नग्नदशा अथवा पञ्च महाव्रत सम्बन्धी शुभविकल्प जो कि मोक्षमार्ग के बाह्यलिङ्ग हैं, उन्हें जो मोक्षमार्ग मानता है, उसे भी लिङ्ग

का आग्रह है, शरीर का ममत्व है। जिसे शरीर का ममत्व है, वह शरीर से भिन्न पड़कर अशरीरीदशा कैसे प्राप्त करेगा ? भाई ! यह शरीर ही तेरा नहीं है तो फिर इसमें तेरा मोक्षमार्ग कैसा ? जो देह को मोक्ष का साधन मानता है, उसे देह का ममत्व होता ही है। जिसे मोक्ष का साधन माने, उसका ममत्व कैसे छोड़े ? मुनिदशा में शरीर, नग्न दिगम्बर ही होता है, यह सत्य है परन्तु मुनिदशा उस नग्न दिगम्बर शरीर के आश्रित नहीं है; मुनिदशा तो शुद्धात्मा के आश्रित है। अतः जो शुद्धात्मा को नहीं जानता, उसे मुनिदशा नहीं होती है।

कोई कुतर्क करता है कि यदि मोक्षमार्ग, देह के आश्रित नहीं है तो फिर मुनिदशा में शरीर नग्न हो या वस्त्रसहित हो उसमें क्या ? – उससे कहते हैं कि निमित्त का मेल होता है। जिस दशा में जैसा राग न हो, वैसा निमित्त भी नहीं होता। जैसे, सर्वज्ञ को आहार की इच्छा नहीं है तो बाहर में भी आहार की क्रिया नहीं है; उसी प्रकार मुनि को परिग्रह का भाव नहीं है तो बाहर में भी वस्त्रादि परिग्रह नहीं होता। सहजरूप ही ऐसा मेल होता है कि राग छूटने पर उसके निमित्त भी सहज छूट जाते हैं, तथापि धर्मी को उन बाह्य निमित्तों में कर्तृत्व नहीं है।

जो स्वभावाश्रित शुद्धरत्नत्रय का सेवन नहीं करते और देहाश्रित अथवा रागाश्रित मोक्षमार्ग मानते हैं, उन्होंने शुद्ध आत्मा को जाना ही नहीं। शुद्ध ज्ञान का अनुभव ही एक परमार्थ मोक्षमार्ग है, अन्य कोई सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है।

अज्ञानी कहता है कि देह निमित्त तो है न ? तो यहाँ कहते हैं कि हाँ, देह निमित्त है — परन्तु किसका ? संसार का। शरीर की दशा मुझे मोक्ष का कारण होगी – ऐसा माननेवाला जीव, संसार से नहीं छूटता। देह तो भव है, शरीर ही आत्मा का संसार है – ऐसा कहकर यहाँ तो आचार्यदेव ने देह को मोक्ष के निमित्तपने में से भी निकाल दिया है। देह तो संसार का ही निमित्त है क्योंकि जो अज्ञानी जीव, देह की क्रिया को अपनी मानता है, उसे तो देहदृष्टि से संसार ही होता है। इसलिए उसे तो शरीर, संसार का ही निमित्त हुआ; मोक्ष का निमित्त नहीं हुआ। जो जीव, देह से भिन्न आत्मा के चिदानन्दस्वभाव को जानकर उसमें एकाग्रता द्वारा रत्नत्रय की आराधना करता है, वही मुक्ति प्राप्त करता है और उसी के लिए शरीर को मोक्ष का निमित्त कहा जाता है।

देखो, जो देह का लक्ष्य छोड़कर, आत्मा को मोक्ष का साधन बनाता है, उसको देह, मोक्ष का निमित्त कहलाता है और जो देह को ही मोक्ष का साधन मानकर अटकता है, उसे तो देह, संसार का ही निमित्त है।

मुनिदशा में दिगम्बरदशारूप लिङ्ग ही निमित्तरूप होता है और वस्त्रादि नहीं होते – ऐसा नियम है; तथापि उस निमित्त से ही मोक्ष हो जाएगा, ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि को तो उस शरीर के आश्रय से संसार ही होता है। अज्ञानी कहता है कि शरीर से मोक्ष होता है? यहाँ कहते हैं कि शरीर ही भव है – संसार है। जिसे ज्ञानानन्द चैतन्यतत्त्व का भान नहीं है और देह के लक्ष्य में रुका हुआ है, वह संसार में ही परिभ्रमण करता है। व्रत के विकल्प, मोक्ष का कारण नहीं हैं और न शरीर का दिगम्बर वेष ही मोक्ष का कारण है।

प्रश्न – तो फिर मुनिदशा में वस्त्र होने में आपत्ति नहीं है न?

उत्तर – मुनिदशा में वस्त्रादि माननेवाले को तो निमित्त का भी पता नहीं है; उसे तो महान भूल है। मुनिदशा में दिगम्बर शरीर ही निमित्तरूप होता है परन्तु जो अकेले बाह्यलिङ्ग से ही मोक्ष होना मानते हैं, वे तो निमित्ताधीन दृष्टि के कारण संसार में ही परिभ्रमण करते हैं। देहदृष्टि से तो संसार ही है। देहदृष्टिवाले को मुक्ति नहीं मिलती और जो देह की दशा को मोक्ष का कारण मानते हैं, वे भी देहदृष्टिवाले ही हैं। देह, मोक्ष का कारण है – ऐसा मिथ्या आग्रह छोड़कर, चैतन्यस्वरूप को श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता द्वारा आराधना करनेवाले ही मुक्ति को प्राप्त करते हैं। अरहन्त-भगवन्तों ने भी देहाश्रित लिङ्गों का विकल्प छोड़कर, रत्नत्रय की आराधना से ही मुक्ति प्राप्त की है; इसलिए वही मुक्ति का मार्ग है, लिङ्ग मुक्ति का मार्ग नहीं है – ऐसा निशङ्क जानना चाहिए। ●

(- आत्मभावना, पृष्ठ ३१४-३१८)

(समाधिगतक गाथा ८७ पर पूज्य गुरुदेवश्री का माङ्गलिक प्रवचन)



वीतरागी सन्तों का उपदेश
व्यवहार-मोहित जीव, परमार्थ से अनजान

शरीराश्रित द्रव्यलिङ्ग को ही मुक्तिमार्ग मानना मिथ्या मान्यता है। इस तथ्य का उद्घाटन आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने समयसार एवं आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने उसकी आत्मख्याति एवं कलशों के माध्यम से किया है। इसी भाव के प्रतिपादक कलश २४२-२४३ पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मङ्गल प्रवचन इस प्रकार हैं—

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।

तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तन्दुलम् ॥ २४२ ॥

द्रव्यलिङ्गममकारमीलितैर्दृश्यते समयसार एव न।

द्रव्यलिङ्गमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः ॥ २४३ ॥

जिनकी दृष्टि (बुद्धि) व्यवहार में ही मोहित है — ऐसे पुरुष, परमार्थ को नहीं जानते। जैसे, जगत् में जिनकी बुद्धि तुष के ज्ञान में ही मोहित है; अर्थात्, मोह को प्राप्त हुई है — ऐसे पुरुष तुष को ही जानते हैं; तन्दुल (चावल) को नहीं जानते ॥ २४२ ॥

जो द्रव्यलिङ्ग में ममकार के द्वारा अन्ध; अर्थात्, विवेकरहित हैं, वे समयसार को ही नहीं देखते, कारण कि इस जगत् में द्रव्यलिङ्ग तो वास्तव में अन्य द्रव्य से होता है, मात्र यह ज्ञान ही निज से (आत्मद्रव्य से) होता है ॥ २४३ ॥

जिनकी दृष्टि व्यवहार में ही मोहित है — ऐसे पुरुष, परमार्थ को नहीं जानते। जिस प्रकार जगत् में तुष के ज्ञान में ही जिनकी बुद्धि मोहित है — ऐसे पुरुष, तुष को ही जानते हैं, तन्दुल को नहीं जानते।

देखो, यह संसारियों के लौकिक व्यवहार की बात नहीं है। वह लौकिक व्यवहार तो अकेला पाप है। यहाँ तो धर्मी पुरुषों को बाहर में जो महाव्रतादि का व्यवहार/राग होता है, उसकी बात है। धर्म के नाम से होनेवाले महाव्रतादि के व्यवहार में ही जिनकी बुद्धि मोहित है, वे पुरुष परमार्थ को नहीं जानते; अर्थात्, चैतन्यमूर्ति निजस्वरूप को वे नहीं पहचानते; वे बेचारे तो व्यवहार के क्रियाकाण्ड में फँस गये हैं, उन्हें निजस्वरूप के अनुभव के रस का आस्वाद प्राप्त नहीं होता। वे जीव तो दो हजार सागर से किञ्चित् अधिक त्रसपर्याय की स्थिति पूर्ण करके एकेन्द्रिय में चले जाते हैं। त्रस में कौआ, कुत्ता, चींटी, मकोड़ा इत्यादि की दशा में रहने का उत्कृष्ट काल दो हजार सागर से कुछ अधिक है - ऐसा शास्त्र में उल्लेख है।

जगत् में तुष के ज्ञान में ही जिनकी बुद्धि मोहित है, वे पुरुष, तुष को ही जानते हैं; तन्दुल को नहीं जानते। पाहुड़दोहा में कहा है -

पंडिय पंडिय पंडिय, कण छोड़ि वि तुस कंडिया

अर्थात्, हे पाण्डे! हे पाण्डे!! हे पाण्डे!!! तू कण को छोड़कर, मात्र तुष ही कूट रहा है। तू परमार्थ को नहीं जानता; इसलिए मूढ़ है।

अहा! जो परमार्थ को नहीं जानता, वह चावल को छोड़कर अकेला छिलका/तुष कूटता है। धर्मी पुरुष गणधर आदि महा मुनिवरों को अन्तरदृष्टि के अनुभव के साथ महाव्रतादि के शुभविकल्प होते हैं, वे छिलके के समान हैं, लेकिन उन्हें देखकर अज्ञानी जीव, महाव्रतादि धारण करके उसका ही आचरण किया करता है परन्तु उससे क्या लाभ है? वस्तुतः तो वह चावल छोड़कर तुष में ही प्रसन्न हो गया है। भाई! ये पञ्च महाव्रतादि के परिणाम तो छिलके हैं।

भाई! चैतन्यरस के कश से भरी हुई वस्तु तो अन्दर है और वह स्वानुभव में प्रगट होती है। अज्ञानी, छिलकों के समान महाव्रतादि में मोहित/मुग्ध है। वह कैसा भी बाहर का आचरण करने पर भी स्वस्वरूप को नहीं देखता-जानता है।

अरे! इसने अनन्त बार दीक्षा ग्रहण की और अनन्त बार पञ्च महाव्रत पालन किये,

परन्तु इससे क्या ? वह कहाँ मोक्षमार्ग है ? व्यवहार में मोहित बुद्धिवाला जीव, अन्दर चैतन्यप्रकाश के पुञ्ज प्रभु को नहीं देखता, अनुभव नहीं करता ।

तात्पर्य यह है कि जो द्रव्यलिङ्ग आदि व्यवहार में मुग्ध हो रहे हैं, उन्होंने शुद्धात्मानुभवरूप परमार्थ को जाना ही नहीं है; अर्थात्, ऐसे जीव, शरीरादि परद्रव्य को ही आत्मा जानते हैं; परमार्थ आत्मा का स्वरूप वे जानते ही नहीं ।

तत्त्वार्थसूत्र में महाव्रत के परिणाम को आस्रव कहा है, वे भाव दुःखरूप हैं; मोक्ष अधिकार (श्रीसमयसार) में उन्हें विषकुम्भ कहा गया है । हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि पाप के भाव तो महादुःखरूप हैं ही, वे तो अति कठोर जहर के घड़े हैं ही, किन्तु महाव्रतादि के शुभपरिणाम भी जहर के घड़े हैं, उनसे भिन्न अन्दर चैतन्यस्वरूप आत्मा अमृतकुम्भ है । अतीन्द्रिय आनन्दरस के रसिया रसिक पुरुष, उस स्वानुभव की धारा को पीते हैं, अनुभव करते हैं ।

बहिनश्री के वचनमृत में आता है - 'मुनिराज कहते हैं कि हमारा आत्मा अनन्त गुणरस से/अनन्त अमृतरस से भरा हुआ अक्षय घट है, उस घट में से पतली धारा; अर्थात्, अल्प अमृत पिया जाए - ऐसे स्वसंवेदन से हमें सन्तोष नहीं है । हमें तो प्रत्येक समय, जिससे पूर्ण अमृत पिया जा सके - ऐसी पूर्णदशा ही चाहिए ।' अहो ! कैसा अलौकिक चैतन्यद्रव्य और कैसी अलौकिक उसकी पूर्ण व्यक्तदशा !! उस पूर्णदशा में सादि-अनन्त काल तक प्रति समय पूर्ण अमृत पिया जाता है और घट भी सदा पूर्ण भरा रहता है । अहा ! देखो तो मुनिराज की भावना ! अन्दर प्रचुर आनन्द को अनुभवते हैं परन्तु धारावाही अतीन्द्रिय पूर्ण आनन्द चाहिए ।

अहा ! मुनिदशा ऐसी अलौकिक है परन्तु व्यवहार में मुग्ध जीवों को इस अन्तरदशा का पता नहीं है । वे तो बाहर में शरीर की क्रिया देखकर, उसमें ही ममत्व धारण करते हैं । अरे ! उन्हें परमार्थस्वरूप निज शुद्धतत्त्व का अनुभव नहीं होता ।

जिस प्रकार छिलकों को ही कूटते रहने से तन्दुल की प्राप्ति नहीं होती; उसी प्रकार परद्रव्य को ही आत्मा जानकर आचरण करनेवाले को परमार्थस्वरूप भगवान आत्मा की प्राप्ति नहीं होती ।

जो द्रव्यलिङ्ग में ही ममकार द्वारा अन्ध; अर्थात्, विवेकरहित हैं, वे समयसार को देखते ही नहीं, क्योंकि इस जगत् में द्रव्यलिङ्ग तो वस्तुतः अन्य द्रव्य से होता है; यह ज्ञान ही एक अपने से; अर्थात्, आत्मद्रव्य से होता है।

अहा! जिन्होंने एक समय में तीन काल-तीन लोक को जाना है, उन भगवान की ओम्ध्वनि में सिंहनाद हुआ कि भगवान तू निश्चय से परमात्मस्वरूप है; मेरी जाति ही तेरी जाति है। जिस प्रकार मैं सर्वज्ञरूप हुआ हूँ; उसी प्रकार स्वभाव से तुझमें भी ऐसा ही सर्वज्ञ-सर्व दर्शी स्वरूप है। यह दया, दान, व्रत, भक्ति इत्यादि के परिणाम तो राग हैं, अन्य द्रव्य हैं; तेरा स्वरूप नहीं है। अहा! द्रव्यलिङ्ग के ममकार द्वारा वे विवेकरहित अन्ध बन रहे हैं, वे निज समयसार को नहीं देखते। बकरियों के झुण्ड में रहा हुआ शेर का बच्चा मानता है कि मैं बकरी हूँ; इसी तरह जो द्रव्यलिङ्ग में ममकार करते हैं, वे मूढ़ हैं।

अरे भाई! तुम कौन हो? भगवान की ओम्ध्वनि में गर्जना हुई कि प्रभु! तू अनन्त... अनन्त... अपरिमित ज्ञान और आनन्दस्वभाव का समुद्र है और स्वसंवेद्य; अर्थात्, स्व संवेदन में ज्ञात हो - ऐसा है। भाई! तू अन्य द्रव्यमय क्रियाकाण्ड से आत्मलाभ होना माने, यह तेरा अन्धपना है, विवेक रहितपना है। बाह्य लिङ्ग में ममकार करनेवाला, निज आत्मद्रव्य को देखता ही नहीं। राग, भगवान आत्मा का स्पर्श ही नहीं करता, फिर भी राग की क्रिया से लाभ होगा - ऐसा माननेवाला अन्ध / विवेकरहित ही है। अन्ध क्यों कहा? क्योंकि वह अपने को देखता ही नहीं।

अब, बहुत से लोग तो अशुभ में - व्यापार-धन्धे, खाने-पीने और इन्द्रिय विषयों की प्रवृत्ति में पड़े हैं, उसमें तो भारी नुकसान है। भाई! ऐसी प्रवृत्ति से तो शीघ्र निवृत्त हो जा। बापू! देखो, ये बोटद के एक मुमुक्षुभाई! मुम्बई में बड़ी दुकान / व्यापार चलता है। भाईयों से कहा, भाई! मुझे मुक्त करो, मुझे निवृत्ति लेकर स्वहित का कार्य करना है। बड़ा व्यापार है, लाखों की आमदनी है फिर भी कहते हैं कि मुझे गुरु चरण में रहकर, मेरा हित करना है। अब मुझे व्यापार में रस नहीं है। मेरे हिस्से में आनेवाली राशि में से मुझे एक चौथाई दे दो, परन्तु मुझे निवृत्ति लेना है। देखो, यह सत्समागम और स्वहित की जागृति! इन पैसेवालों को यह दृष्टान्त समझने जैसा है। भाई! बाहर की जञ्जाल में क्या है?

यहाँ तो विशेष यह कहते हैं कि अन्दर ज्ञान और आनन्द का धाम प्रभु आत्मा है, उसका विश्वास न करके दया, दान, व्रत आदि की क्रिया से धर्म होगा - ऐसा माननेवाला तो विवेकरहित अन्ध है। शास्त्र में उन्हें 'वराकाः' अर्थात्, बेचारा कहा है। अहा! द्रव्यलिङ्ग है, वह अन्य द्रव्य से उत्पन्न विकारीभाव है। उसमें मानता है कि 'यह मैं हूँ' और 'इससे मुझे लाभ होता है' - वह अन्ध है - ऐसी बात है। भाई! तुझे कठोर लगे, परन्तु यह ओम्ध्वनि में आयी हुई सत्य पुकार है।

अरे भाई! यह देह तो छूट जाएगी और तू कहाँ जाएगा? क्या तुझे अपनी कुछ नहीं पड़ी है? जैसे, आँधी में उड़ता हुआ तिनका कहाँ जाकर पड़ेगा, कुछ पता नहीं? इसी प्रकार राग की क्रिया मेरी है - ऐसी मान्यतारूप मिथ्यात्व की आँधी में पड़ा हुआ जीव, कहाँ जाकर चार गतियों में अवतार लेगा? अरे भाई! तू बाहर का कर करके मर जाएगा बापू! यह शुभराग की क्रिया तो परद्रव्य के संयोग से होनेवाली उपाधि है। जो इसमें ममकार करता है, उसे अपने स्वरूप का इन्कार है। जो अपना स्वरूप नहीं है, उसे अपना मानता है, वह चौरासी के अवतार में परिभ्रमण करेगा।

अरे! द्रव्यलिङ्ग में ममकार द्वारा जिसके नेत्र मुँद गये हैं, वह अन्ध हो रहा है। भगवान ज्ञानानन्दस्वरूपी प्रभु को देखने की आँख उसने बन्द कर दी है। अब, इस जैनकुल में जन्मे हुए लोगों को भी, जैन परमेश्वर क्या कहते हैं? - इस बात का पता नहीं है। अपनी मति कल्पना से द्रव्यलिङ्ग से धर्म मानते-मनवाते हैं परन्तु यहाँ कहते हैं कि **समयसारः एव न दृश्यते;** अर्थात्, वे समयसार को देखते ही नहीं।

समयसार; अर्थात्, क्या? अहा हा...! शरीर से, कर्म से, राग से रहित अकेले चैतन्य का ध्रुवदल, उसका नाम समयसार है। अब राग को ही देखनेवाले राग के रसिक, रागरहित भगवान को कैसे देख सकते हैं? देखते ही नहीं। अहो! थोड़े शब्दों में कितना भर दिया।

अरे! यह सेठ सब बाहर की धूमधाम में रुक गये हैं। बेचारों को यह सब विचारने करने का समय भी नहीं है? इसमें पाँच-दस करोड़ की पूंजी हो जाए तो मान लेते हैं कि **मानों मैं चौड़ा और गली सकरी।** अरे! पागल हुआ है क्या! अन्दर अनन्त चैतन्य लक्ष्मी

का भण्डार समयसार है, उसे देखता नहीं और विषय के राग के रस में चढ़ गया है, मानो बकरियों के झुण्ड में सिंह घिर गया हो और सिंह को लगा कि मैं बकरी हूँ। अरे! तू बकरी नहीं है भाई! तू सिंह है; अनन्त वीर्य / पराक्रम का स्वामी है। भगवान आत्मा चैतन्य सिंह है। अन्तरदृष्टिरूप गर्जना कर तो तुझे विश्वास हो जाएगा। चैतन्यस्वभाव के समीप जाकर विश्वास कर तो तुझे भगवान का साक्षात्कार हो जाएगा; अर्थात्, तू पर्याय में पूर्ण वीर्य का स्वामी हो जाएगा।

हिंसादि पाप के परिणाम तो दूर रहे; यहाँ तो कहते हैं कि अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य – ये पाँच व्रत भी चैतन्यस्वभाव से विपरीतभाव हैं। इन पाँच में ममकार करके अपना अस्तित्व माननेवाला निज समयसार को नहीं जानता-नहीं मानता, यह सर्वज्ञदेव की पुकार है। जिसमें आनन्द का अनुभव होता है, वह मम; अर्थात्, मेरा भोजन है। जैसे, छोटा बच्चा माँ से कहता है कि मम दे; इसी प्रकार यहाँ सन्त कहते हैं कि तेरे निजानन्दस्वभाव में अन्तर्मुख होकर अनुभव कर, वह तेरा मम; अर्थात्, स्व का भोजन है। भाई! इस निराकुल आनन्द की अपूर्ण; अर्थात्, एक देश दशा, साधन है और उसकी पूर्ण दशा, साध्य है। सारी क्रीड़ा अन्दर है बापू! बाह्य से तेरा कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। तुझमें राग का कण अथवा शरीर का रजकण नहीं है, यह समस्त राग व शरीर की क्रिया तो तुझसे बाहर ही है। भाई! तू राग की क्रिया में अटक गया है परन्तु वह तेरे चैतन्य का स्पर्श ही नहीं करती तो फिर उससे चैतन्य की प्राप्ति कैसे होगी? राग की क्रिया में अटकनेवाला भगवान समयसार को देखता ही नहीं।

भगवान! तू राग नहीं है! तू ज्ञान और आनन्दस्वरूप है! अन्दर तेरा ध्रुव परमात्मस्वरूप है, उसके अस्तित्व को नहीं मानता और तू राग में अटक गया है। अरे प्रभु! तू क्या करता है? यह व्रत, तप, पूजा, भक्ति इत्यादि कर – करके तू धर्म मानता है परन्तु बापू! यह धर्म नहीं है, यह स्वद्रव्य नहीं है; यह तो अन्य द्रव्य है। तेरा स्वद्रव्य तो बेहद वीतरागीस्वभाव से भरपूर आनन्दकन्द अनाकुल शान्तरस-चैतन्यरस का पिण्ड है, उसे ही अन्तर्मुख होकर जानना-मानना, श्रद्धा करना और उसी में लीन होना, धर्म है, मोक्षमार्ग है। अरे! तू करने योग्य तो करता नहीं और नहीं करने योग्य में अटक गया है। एक बार सुन तो सही! यहाँ

आचार्यदेव क्या कहते हैं ? कि जगत् में द्रव्यलिङ्ग वास्तव में अन्य द्रव्य से होता है, यह ज्ञान ही एक अपने से /आत्मद्रव्य से होता है। भाई! तूझे आत्मा की शान्ति खोना हो, चारगति में भटकना हो तो राग के क्षेत्र में जा, क्योंकि जिसे जन्म-मरण ही करना है, वही राग के क्षेत्र में जाता है।

अहाहा...! भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है। अहा! उस ज्ञान का ज्ञानस्वभावरूप होना, वह ज्ञान ही एक आत्मद्रव्य से होता है। ज्ञान का ज्ञान होना, ज्ञान का श्रद्धानभावरूप होना और ज्ञान की रमणता होना – यह ज्ञान ही एक अपना स्वरूप है। अहा! ज्ञान की ज्ञान –श्रद्धान-आचरणरूप परिणति होना ही एक साधन है और उसकी पूर्णता, वह फल है। बीच में व्यवहार द्रव्यलिङ्ग है अवश्य, परन्तु वह साधन नहीं है। व्यवहार है, इस प्रकार उसकी स्थापना है परन्तु व्यवहार से लाभ नहीं है। यदि साधकदशा में होनेवाले व्यवहार को नहीं जाने-माने तो ज्ञान मिथ्या है और व्यवहार को वास्तविक साधन जान ले-मान ले तो उसका श्रद्धान मिथ्या है। व्यवहार साधकदशा में है अवश्य, परन्तु वह हेय है, बन्ध का कारण है; मुनिराज उसे हेयरूप ही जानते हैं और पुरुषार्थ की धारा उग्र करते हुए उसे हेय; अर्थात्, अभावरूप करते जाते हैं। अब, जिसका अभाव करना है, वह साधन कैसे हो सकता है? वह आदरणीय कैसे हो सकता है? भाई! व्यवहार है, बस इतना रख; वह हितकर है, यह बात छोड़ दे। उससे धर्म होता है – यह बात रहने दे।

अहाहा...! आत्मा जानन... जानन... जानन... स्वभाव का पिण्ड है, उसका ज्ञान –दर्शन-रमणता, वह आत्मा की ज्ञानक्रिया है, वह ज्ञान ही एक अपने से होता है। भाई! यह तो सादी भाषा है, भाव तो अति गम्भीर है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल रत्नत्रयरूप परिणति होना, यह एक ही स्वद्रव्य से होता है। राग तो क्रियाकाण्ड है, वह तो परद्रव्य से होता है; वह परद्रव्य ही है। यह राग, स्वद्रव्य को तो छूता तक नहीं है।

एक भाई आकर कहने लगा – महाराज! यह समयसार तो मैंने पन्द्रह दिन में पूरा पढ़ लिया। अरे भाई! तूझे पता है यह क्या चीज है? यह समयसार तो परम अद्भुत चीज है, इसमें तो तीन लोक के नाथ की वाणी के रहस्य भरे हैं। इसके शब्द-शब्द में अपार अगाध रहस्य भरे हैं। भाई! यह तो केवली की वाणी है बापू!

यहाँ कहते हैं कि ज्ञान-दर्शन-आनन्द का होना ही आत्मा से होता है। राग का होना आत्मा से नहीं होता। ज्ञान का होना, वही ज्ञानस्वरूप है, आत्मा है, वही मोक्षमार्ग है और उसी की पूर्णता ही मोक्ष है। भाई! अत्यन्त गम्भीर बात है।

अहाहा... भगवान! तू अन्दर पूर्ण शुद्ध ज्ञानमात्र, चिन्मात्र, परमात्मवस्तु है; अल्पज्ञता और विपरीतता तेरा स्वरूप नहीं है। पर्याय में वह अज्ञानवश खड़ी हुई है, उसे तू भूल जा और निर्णय कर कि ज्ञान ही एक स्वद्रव्य से होता है। अहाहा! ज्ञानस्वरूप होना, निर्मल रत्नत्रयरूप होना बस, एक ही आत्मस्वरूप है। लो, यह धर्म और यह मोक्षमार्ग! अहाहा...! वस्तु अन्दर कारणपरमात्मस्वरूप है और उसके आश्रय से, उसका परिणमनरूप कार्य होना, वह कार्यपरमात्मा है। देखो, इसका नाम 'एक ज्ञान ही आत्मा से है' यह तो थोड़े में बहुत भर दिया है। अहो! दिगम्बर मुनिराजों ने जगत् को निहाल कर दिया है।

आनन्द का नाथ अन्दर पूर्णस्वरूप विद्यमान है न! पर्याय जितना ही उसका अस्तित्व नहीं है, वह मोक्ष की पर्याय जितना भी नहीं है; वह तो पूर्ण चिदानन्दघन परमात्मा है। तेरे श्रद्धान को उसका रङ्ग चढ़ा दे। उस श्रद्धान और ज्ञान का होना, वही ज्ञानस्वरूप आत्मा का होना है। राग तो अन्य द्रव्य का परिणमन है, उसका ज्ञान के होने के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है; इसलिए यदि मोक्ष की इच्छा है तो व्यवहार के क्रियाकाण्ड से धर्म होगा - यह बात रहने दे, यह तेरे हित की बात है भाई!

जो द्रव्यलिङ्ग में ममत्व के द्वारा अन्ध हैं, उन्हें शुद्धात्मद्रव्य का अनुभव ही नहीं है क्योंकि वे व्यवहार ही परमार्थ मानते हैं; इसलिए परद्रव्य को ही आत्मद्रव्य मानते हैं।

देखो, क्या कहते हैं? जिसे द्रव्यलिङ्ग में ममत्व है, वह अन्ध है; अर्थात्, स्व-पर का विवेक करनेवाले नेत्र उसके मुँद गये हैं, उसे शुद्ध आत्मद्रव्य का अनुभव ही नहीं होता। द्रव्यलिङ्ग से / क्रियाकाण्ड से मेरा कल्याण होगा - ऐसी मान्यता के कारण, उसे अपने परमात्मस्वरूप का अनुभव ही नहीं होता।

साधक को स्व-पर का विवेक है, उसे निजस्वरूप का भान वर्तता है, साथ ही जो दया-दान-व्रत-भक्ति का राग आता है, उसे वह जानता है। व्यवहार है, बस इतना; इससे

मोक्षमार्ग है - ऐसा वह नहीं जानता-मानता। भाई! व्यवहार है, उसे नहीं माने-जाने तो एकान्त; अर्थात्, निश्चय एकान्त हो जाता है। व्यवहार, जानने के लिए प्रयोजनवान है परन्तु वह आदरणीय नहीं है। अज्ञानी जीव, क्रियाकाण्ड के ममत्व द्वारा अन्ध हैं; वे व्यवहार को ही परमार्थ मानता होने से परद्रव्य को ही आत्मद्रव्य मानते हैं। अब ऐसा है तो फिर उन्हें शुद्ध आत्मद्रव्य की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ●

[- प्रवचनरत्नाकर (गुजराती) भाग-१०, पृष्ठ २७६-२८३]



परिग्रह से आत्मा की शोभा नहीं

प्रभो! आपकी भक्ति, आपके गुणों की स्तुति, मुमुक्षु जीवों को आनन्दित करती है। राग-द्वेषरहित और ज्ञान-आनन्दसहित आप वस्त्राभूषण के बिना ही सर्वोत्कृष्ट रूप से शोभायमान हो रहे हैं। आत्मा की शोभा परिग्रह से नहीं है, वीतरागता से आत्मा की शोभा है। आपकी प्रभुत्वशक्ति भी कैसी आश्चर्यकारी है कि क्रोध किये बिना आपने मोहरूपी शत्रु का हनन कर दिया। स्वयं आत्मा में से ही आप सर्वज्ञरूप से प्रगट हुए हो, इस कारण 'स्वयंभू' - ऐसे आपको नमस्कार हो। आपके जैसे गुण हमारे में भी प्रगट करना, वही आपकी परम स्तुति है; इसलिए आपके जैसे गुणों का अंश अपने में प्रगट करके मैं आपकी स्तुति करने के लिए उद्यमी हुआ हूँ। भले ही आपके सम्पूर्ण गुणों की स्तुति वचनों से नहीं होती परन्तु आपके गुणों का प्रेम और उसकी सुकथा भी हमें आनन्द देनेवाली हैं, उसके द्वारा जो हमारे में नहीं हों - ऐसे गुण हम प्रगट करते हैं और ज्ञान से आत्मा की अनुभूति करने में सर्व गुण समाहित हो जाते हैं। ऐसी स्वानुभूतिरूप अभेद भक्ति से मैं भी परमात्मपद प्राप्त करूँगा, तब आपकी स्तुति पूर्ण होगी; वहाँ स्तुति करने योग्य और स्तुतिकार (भगवान और भक्त अथवा साध्य और साधक) - ऐसा भेद भी नहीं रहेगा।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य, पृष्ठ ६७-६८

वीतरागी सन्तों का उपदेश बहुत कथन और दुर्विकल्पों से बस हो!

द्रव्यलिङ्ग एवं भावलिङ्ग के कथन की पूर्णता करते हुए आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि व्यवहारनय ही इन लिङ्गों को मोक्षमार्ग कहता है; निश्चयनय नहीं।

आचार्य अमृतचन्द्रदेव भी इसी कथन को परिपुष्ट करते हुए, अनेक कथन एवं विकल्पों से विराम पाकर एकमात्र शुद्ध समयसार भगवान आत्मा के अनुभव की प्रेरणा देते हैं।

आचार्य भगवन्तों के इन कथनों को स्पष्ट करनेवाली गाथा ४१४ एवं कलश २४३ पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मङ्गल प्रवचन इस प्रकार है —

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे ।

णिच्छयणओ ण इच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥

व्यवहारनय, दोनों लिङ्गों को मोक्षमार्ग में कहता है; अर्थात्, व्यवहारनय, मुनिलिङ्ग और गृहीलिङ्ग को मोक्षमार्ग कहता है; निश्चयनय सभी (किसी भी) लिङ्गों को मोक्षमार्ग में नहीं मानता ॥ ४१४ ॥

अब, इस गाथा में कहते हैं कि - व्यवहारनय ही मुनिलिङ्ग को और श्रावकलिङ्ग को मोक्षमार्ग कहता है; निश्चयनय किसी भी लिङ्ग को मोक्षमार्ग नहीं कहता।

श्रमण और श्रमणोपासक के भेद से दो प्रकार के द्रव्यलिङ्ग, मोक्षमार्ग हैं - इस प्रकार जो प्ररूपण-प्रकार; अर्थात्, इस प्रकार की जो प्ररूपणा, वह केवल व्यवहार

ही है; परमार्थ नहीं, क्योंकि वह (प्ररूपणा) स्वयं अशुद्धद्रव्य की अनुभवनस्वरूप है; इसलिए उसको परमार्थता का अभाव है... ।

देखो, यहाँ कहते हैं कि श्रमण और श्रमणोपासक के भेद से दो प्रकार के द्रव्यलिङ्ग, मोक्षमार्ग हैं, ऐसी जो प्ररूपणा, वह केवल व्यवहार ही है; परमार्थ नहीं। मुनिदशा में जो व्रत-तप आदि विकल्प और नग्नदशा है, वह सहचारीरूप कारण हैं, उसे व्यवहार कहा जाता है। व्यवहाररूप से वह व्यवहार है परन्तु निश्चय से वह आश्रय करने योग्य नहीं है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में पण्डित श्री टोडरमलजी ने स्पष्ट किया है कि 'मोक्षमार्ग दो नहीं हैं परन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपित किया है, वह निश्चयमोक्षमार्ग है तथा जहाँ जो मोक्षमार्ग तो नहीं है परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहना, वह व्यवहारमोक्षमार्ग है। कारण कि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है; अर्थात्, सच्चा निरूपण, सो निश्चय और उपचार निरूपण, सो व्यवहार; इसलिए निरूपण की अपेक्षा से दो प्रकार से मोक्षमार्ग जानना, परन्तु एक निश्चयमोक्षमार्ग है तथा एक व्यवहारमोक्षमार्ग है, इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है।'

भाई! द्रव्यलिङ्ग को उपचार से मोक्षमार्ग कहते हैं परन्तु उसे मोक्षमार्ग जानना मिथ्या है। द्रव्यलिङ्ग को मोक्षमार्ग कहना तो आरोपित कथन है। भावलिङ्गी सन्त मुनिवर को पञ्च महाव्रतादि के परिणाम होते हैं, नियम से होते हैं। वे भाव, सहचारीरूप होते हैं परन्तु वे कहीं सत्यार्थ मोक्षमार्ग नहीं हैं, उन्हें मोक्षमार्ग कहना आरोपित कथन है; यथार्थ नहीं। भाई! तू व्यवहार को व्यवहाररूप से जाने तो ठीक है परन्तु वह धर्म अथवा धर्म का कारण है - ऐसा नहीं है। दो नय हैं - ऐसा जानना बराबर है परन्तु दोनों नय आश्रय करने योग्य हैं - ऐसा नहीं है। आश्रय करने योग्य तो एक शुद्धनिश्चयनय ही है।

अहाहा...! अन्दर पूर्णानन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु त्रिकाल विराजमान है। उसकी दृष्टि-ज्ञान और रमणता करने से जो निराकुल, निर्विकल्प आनन्द की धारा अन्तरङ्ग में उल्लसित होती है, वह एक ही मोक्षमार्ग है और वही धर्म है। सहचररूप से रहनेवाले व्रतादि के राग को धर्म कहना, मात्र व्यवहार से ही है, आरोपित है; यथार्थ/परमार्थ

नहीं है क्योंकि वह व्यवहार, स्वयं अशुद्धद्रव्य के अनुभवनस्वरूप होने से उसे परमार्थपने का अभाव है।

तात्पर्य यह है कि यह व्रत-तप-भक्ति के भाव, अशुद्धद्रव्य के अनुभवनरूप हैं; वे शुद्धद्रव्य के अनुभवनरूप नहीं हैं। अशुद्धद्रव्य का अनुभव कहो अथवा दुःख का अनुभव कहो - एक ही बात है; उसमें निराकुल आनन्द का अनुभव नहीं है।

आत्मा, अतीन्द्रिय आनन्द का महान् पर्वत है, उसका क्षेत्र भले ही छोटा हो किन्तु भाव बेहद अपरिमित है, अनन्त अमाप है। अहा! उसके आश्रय से जितनी शुद्धपरिणति; अर्थात्, निर्मल रत्नत्रयपरिणति प्रगट होती है, वह परमार्थ मोक्ष का मार्ग है। उसके साथ जो व्रत-तप-भक्ति-पूजा आदि का राग होता है, वह अशुद्धद्रव्य का/ दुःख का वेदन है। अब, वह दुःख का वेदन, मोक्ष अर्थात् परमसुख की दशा का कारण कैसे हो सकता है? आत्मा के पूर्ण शुद्धपरिणाम, मोक्ष हैं तो उसका कारण भी आत्मा के शुद्धपरिणाम होना चाहिए। व्रतादि राग के परिणाम हैं, वे आत्मपरिणाम नहीं हैं, वे विभाव हैं, औपाधिकभाव हैं; उन्हें पहले अधिकार में अजीव/ अनात्मा कहा है। अब, वे मोक्ष का कारण कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते। इसलिए उसमें; अर्थात्, द्रव्यलिङ्ग में परमार्थपने का अभाव है।

श्रमण और श्रमणोपासक के भेदों से अतिक्रान्त, दर्शन-ज्ञान में प्रवृत्त परिणतिमात्र; अर्थात्, मात्र दर्शन-ज्ञान में प्रवर्तित हुई परिणतिरूप शुद्धज्ञान ही एक है, ऐसा जो निष्पुष (निर्मल) अनुभवन ही परमार्थ है क्योंकि वह (अनुभवन) स्वयं शुद्धद्रव्य का अनुभवनस्वरूप होने से उसी के परमार्थत्व है।

अहाहा...! आत्मा अनन्त गुणरत्नों से भरपूर चैतन्यरत्नाकर है, उसका प्रत्येक गुणरत्न अनन्त-अनन्त प्रभुता से भरपूर है; उसकी महिमा लाकर, अन्तर में उसका अनुभव करना ही मोक्षमार्ग है, वह शुद्धद्रव्य के निष्पुष अनुभवनरूप है; इसलिए उसे ही निष्पुष परमार्थपना है। निष्पुष; अर्थात्, रागरहित शुद्ध वीतरागी अनुभवन, वह परमार्थ है। एक स्वद्रव्य का वेदन है, उसे ही परमार्थपना है।

यह देह तो नाशवान चीज है और ये स्त्री-पुत्रादि, सब बाह्य वस्तुएँ हैं। नियमसार

में इन सबको ठगों की टोली कहा है तथा जो शुभराग होता है, वह पुण्य है; धर्म नहीं। त्रिकाली शुद्ध जो स्वद्रव्य है, उसका आश्रय करने से निर्मलरत्नत्रय के परिणाम प्रगट होते हैं, वह एक ही धर्म है। वह शुद्धद्रव्य के अनुभवनरूप होने से परमार्थ है। भाई! जन्म-मरणरहित होने का यही मार्ग है। तेरी वस्तु अन्दर त्रिकाली ध्रुव अमर है, उसका वरण कर! यदि उसका वरण नहीं करेगा तो अनन्त बार मरण होगा। भाई! अमर वस्तु अन्दर है, उसे वर तो अमर हो जाएगा। अमर का भान होने से अमर हो जाएगा, भजन में आता है न कि-

अब हम अमर भये न मरेंगे।

तन कारण मिथ्यात्व दियो तज, क्यों करि देह धरेंगे।

अब हम अमर भये न मरेंगे ॥

अहाहा...! अपनी वस्तु अन्दर शुद्ध ज्ञानानन्दमय अमर है, उसका श्रद्धान्-ज्ञान-आचरण प्रगट होने से अमरपना प्रगट होता है, यह एक ही परमार्थमार्ग है; साथ में व्यवहार भले हो परन्तु उसे परमार्थपना नहीं है - ऐसी बात है।

अहाहा...! मुनि और श्रावक के विकल्प से पार त्रिकाली शुद्धद्रव्य के अनुभवनरूप जो निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय परिणति है, वह एक ही परमार्थ मोक्षमार्ग है - यह एकान्त; अर्थात्, सम्यक् एकान्त है; इसके अतिरिक्त कोई पच्चीस-पचास लाख रुपये दान में खर्च करे, विशाल मन्दिर बनवावे और भगवान की प्रतिष्ठा करावे तो वह पुण्य है; वह मोक्षमार्ग नहीं है क्योंकि वह अशुद्धद्रव्य के अनुभवनरूप होने से अपरमार्थ है, असत्यार्थ है। भाई! दया, दान, व्रत, तप, भक्ति के परिणाम तो छिलकों के समान निःस्सार हैं। अन्तःतत्त्व /चैतन्यतत्त्व के अनुभवन बिना सब व्यर्थ है; अर्थात्, व्यवहार भी नहीं हैं।

इसलिए जो व्यवहार को ही परमार्थबुद्धि से; अर्थात्, परमार्थ मानकर अनुभव करते हैं, वे समयसार का ही अनुभव नहीं करते; जो परमार्थ को परमार्थबुद्धि से अनुभव करते हैं, वे ही समयसार का अनुभव करते हैं।

भाई! तूने वीतराग परमेश्वर का कहा हुआ सत्यार्थ मार्ग सुना नहीं है। अपना स्वद्रव्य अन्दर रागरहित है, उसका श्रद्धान्-ज्ञान और रमणता होना ही परमार्थ मोक्षमार्ग है।

अब, उसे तो जाने नहीं और व्यवहार को ही परमार्थ मानकर अनुभव करता है तो कहते हैं कि वह समयसार का अनुभव ही नहीं करता। यह अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह — ऐसे व्रत के विकल्प; शास्त्र पठन का भाव और देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा को ही परमार्थ जानकर अनुभव करता है, वह शुद्धद्रव्य का/ निज समयसार का अनुभव करता ही नहीं।

अरे भाई! परमार्थ मानकर शुभराग की क्रियाएँ तो तूने अनेक बार की हैं। व्रत, तप, उपवास, प्रतिक्रमण और प्रौषध इत्यादि की क्रियाओं को धर्म समझकर अनन्त बार की हैं परन्तु उससे क्या? उससे धर्म होता है — ऐसा तू मानता है परन्तु उनमें कहीं भी धर्म नहीं है; वे सब तो राग की क्रियाएँ हैं। बापू! वे तो तेरे चैतन्यतत्त्व का स्पर्श तक नहीं करती तो उनसे तुझे धर्म किस प्रकार हो सकता है? भाई! एक बार निर्णय कर, श्रद्धा में ले कि व्यवहार क्रियाकाण्ड की क्रिया आत्मरूप नहीं है। इसके अतिरिक्त कोई लाख क्रियाएँ करे तो भी वे निज ज्ञानानन्द/ सहजानन्दस्वरूप का अनुभव नहीं करता, वह राग को ही, दुःख को ही वेदन करता है। एक समय की पर्याय में जिसका लक्ष्य है, उसकी राग में लीनता है; अन्दर में चैतन्य चिन्तामणि स्वयं है, उसे वह अनुभव नहीं करता।

परमार्थ वस्तु अन्दर अपना शुद्ध चैतन्यतत्त्व है, उसे जो परमार्थबुद्धि से अनुभव करते हैं, उसके ही श्रद्धान-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमते हैं, वे ही समयसार का अनुभव करते हैं; अर्थात्, वे ही मोक्षमार्ग और उसका जो फल मोक्ष है, उसे प्राप्त करते हैं।

व्यवहारनय का विषय तो भेदरूप अशुद्धद्रव्य है; इसलिए वह परमार्थ नहीं है.....,

यह व्रत, तप, भक्ति आदि के भाव, व्यवहारनय का विषय हेयरूप अशुद्धद्रव्य है। अहा! कोई करोड़ों रुपये दान में खर्च करे, लाख मन्दिर बनावे, जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्य पालन करे, शास्त्र-पठन करे और पञ्च महाव्रतादि पालन करे, एक इन्द्रिय जीव को भी पीड़ित न करे — इत्यादि सभी जो प्रशस्तराग हैं, वह भेदरूप अशुद्धद्रव्य है। यहाँ अशुद्धद्रव्य क्यों कहा? स्वभाव से तो अन्दर द्रव्य त्रिकाल शुद्ध ही है परन्तु पर्याय अशुद्ध है, इस अपेक्षा से अशुद्धद्रव्य कहा है। त्रिकाली ध्रुवद्रव्य कहीं अशुद्ध नहीं हो जाता, परन्तु वर्तमान में

अशुद्ध परिणमित हुआ है न! तो अशुद्ध परिणमित हुआ, वह अशुद्धद्रव्य है — ऐसी बात है।

भाई! यह सब समझे बिना] बड़ा अरबोंपति सेठ हो अथवा राजा हो, वे सब दुःखी ही हैं। अन्दर आत्मा अमृत का सागर है, उससे उलटी दशा, फिर भले ही वह अति मन्दराग की हो तो भी वह सब दुःख ही है। भाई! भेदरूप अशुद्धद्रव्य का अनुभव, वह परमार्थ नहीं है, मोक्षमार्ग नहीं है। अहा! रत्नजड़ित राजमहल, राजपाट और रानियों इत्यादि को छोड़कर नग्न दिगम्बरदशा धारण करके कोई जङ्गल में चला जाए और वहाँ धर्मबुद्धि से मन्दराग की अनेक क्रियाएँ करे] किन्तु अन्तरदृष्टि नहीं करे तो ऐसा अशुद्धद्रव्य का अनुभव परमार्थ नहीं है। बाहर के त्याग द्वारा मानें कि मैंने बहुत छोड़ा है परन्तु अन्दर से मिथ्यात्व छोड़े बिना उसने छोड़ा क्या? कुछ भी नहीं; मात्र एक आत्मा छोड़ा है।

अहा! जीव ने व्यवहार की ऐसी क्रियाएँ तो अनन्त बार की हैं। वह सब व्यवहारनय का विषय तो अशुद्धद्रव्य है, वह परमार्थ नहीं है; अर्थात्, वह परमार्थ से मोक्षमार्ग नहीं है। सम्यग्दृष्टि की दृष्टि आत्मा पर होती है, वर्तमान पर्याय में अल्पज्ञता है, उसका वह ज्ञान करता है और पूर्णता की प्राप्ति के लिए 'अभी बहुत करना शेष है' — ऐसा वह मानता है; जबकि अज्ञानी जीव, बाह्य त्याग से सन्तुष्ट होकर 'मैंने बहुत किया' — ऐसा मानता है, उसे स्वस्वरूप का पता नहीं है; इसलिए वह स्वस्वरूप का त्यागी और मिथ्यात्व का ही सेवन करनेवाला है।

निश्चयनय का विषय अभेदरूप शुद्धद्रव्य है; इसलिए वही परमार्थ है।

देखो, व्यवहारनय का विषय भेदरूप अशुद्धद्रव्य है; इसलिए वह परमार्थ नहीं है। जबकि निश्चयनय का विषय अभेदरूप शुद्धद्रव्य है; इसलिए वही परमार्थ है। इस प्रकार दो पंक्तियों में दो नय के दो विषय समाहित करके परमार्थ कहा कि निश्चयनय का विषय अभेद एकरूप त्रिकाली शुद्धद्रव्य है; इसलिए उसका अनुभव परमार्थ है। अहाहा...! जिसे गाथा ११ में भूतार्थ कहा, वह एक ही सत्यार्थ प्रभु है और वह सम्यग्दर्शन का विषय है; इसलिए वही परमार्थ है। निश्चयनय का विषय कहो या सम्यग्दर्शन कहो, वह एक ही है और वही परमार्थ है।

निमित्त, व्यवहार और पर्याय तो व्यवहारनय का विषय है, वह परमार्थ नहीं है। पूर्णानन्द का नाथ भगवान् आत्मा शाश्वत् ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... शुद्ध चिदानन्दघन प्रभु अन्दर है, वह अभेदरूप शुद्धद्रव्य है, वही परमार्थ है क्योंकि उसके आश्रय से धर्म प्रगट होता है। अरे भाई! यह व्यवहार के क्रियाकाण्ड तो कर्मधारा है; धर्मधारा नहीं। भूतार्थ अभेद एक जो शुद्धद्रव्य है, उसके आश्रय से प्रगट होनेवाला निर्मलरत्नत्रय ही धर्म है और इस कारण वही परमार्थ है।

इसलिए जो व्यवहार को ही निश्चय मानकर प्रवर्तन करते हैं, वे समयसार का अनुभव नहीं करते; जो परमार्थ को परमार्थ मानकर प्रवर्तन करते हैं, वे ही समयसार का अनुभव करते हैं; इसलिए वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

त्रिकाली ध्रुव एक ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कर!— ऐसी भगवान् की आज्ञा है। अहा! भगवान् सर्वज्ञदेव की आज्ञा है कि हमारी दृष्टि भी छोड़! हमारी दृष्टि मत कर! अन्दर तेरा पूर्ण भगवान् है, उसे दृष्टि में ले! हमारे प्रति लक्ष्य करेगा तो तुझे राग होगा। जो व्यवहार को ही निश्चय मानकर प्रवर्तित होते हैं, वे निज भगवान् समयसार का अनुभव नहीं करते। मोक्षपाहुड़ की गाथा १६ में कहा है कि परदव्वादो दुग्गइ सद्व्वादो हु सुग्गइ होई; अर्थात्, पर की दृष्टि करना दुर्गति है और स्वद्रव्य की दृष्टि सुगति; अर्थात्, मोक्षगति है।

अहा! दिगम्बर सन्तों को कहाँ किसी की पड़ी है? समाज को रुचे या न रुचे, वे तो मार्ग को जैसा है, वैसा कहते हैं। अहाहा...! कहते हैं कि जो परमार्थ को परमार्थ जानकर प्रवर्तित होते हैं, वे ही समयसार का अनुभव करते हैं; अर्थात्, वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

‘अधिक कथन से क्या, एक परमार्थ का ही अनुभवन करो’ - इस अर्थ का काव्य कहते हैं -

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-
न्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति ॥ २४४ ॥

बहुत कथन से और बहुत दुर्विकल्पों से बस होओ! बस होओ!! यहाँ मात्र इतना ही कहना है कि इस एकमात्र परमार्थ का ही निरन्तर अनुभव करो, क्योंकि निजरस के प्रसार से पूर्ण जो ज्ञान, उसके स्फुरायमान होनेमात्र जो समयसार (परमात्मा), उससे उच्च वास्तव में दूसरा कुछ भी नहीं है; समयसार के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि 'अलम अलम; अर्थात्, बस होओ, बस होओ!' बहुत कथन से और बहुत अधिक विकल्पों से बस होओ, क्योंकि बारह अङ्ग का सार तो यही है कि परमार्थ को, एक को ही निरन्तर अनुभव करो, यह चारों अनुयोगों का सार है। अहाहा! पूर्णानन्द का नाथ अभेद एकरूप अन्दर ध्रुव त्रिकाल है, उस एक का ही अवलम्बन करो। भेद की बात तो बहुत सुनी, अब उससे क्या काम है? एक परमार्थ अभेद को ही ग्रहण करो! यहाँ इतना ही कहना है कि व्यवहार के दुर्विकल्पों से बस करके, रुक करके, अभेद एक शुद्धद्रव्य का ही निरन्तर अनुभव करो।

यद्यपि बीच में भेद के विकल्प आयेंगे अवश्य, परन्तु वे तो अभेद को जानने के लिये हैं; इसलिए भेद के विकल्प को मिटाकर, अभेद एक निश्चय शुद्धवस्तु की दृष्टि करो, उसे पकड़कर उसका निरन्तर अनुभव करो। देखो, इन केवली परमात्मा को अनन्त शक्तियों की व्यक्ति पर्याय में प्रगट हुई है; वह अन्दर जो है, वह प्रगट हुई है; इसी प्रकार भगवान! तुझमें भी अनन्त शक्तियाँ त्रिकाल विद्यमान हैं, उसकी दृष्टि कर और उसके अवलम्बन से उसका ही निरन्तर अनुभव कर; उसके फल में सादि-अनन्त समाधि सुख प्रगट होगा। भगवान! तू अन्दर अनादि-अनन्त शुद्ध विज्ञानघन प्रभु है, उस एक का ही अनुभव कर! उसका फल सादि-अनन्त काल तक अनन्तानन्त आनन्द है; इसलिए कहते हैं कि सर्व विकल्पों को मिटाकर अखण्डानन्द प्रभु एक का ही निरन्तर अनुभव करो।

अब, इसका कारण समझते हुए कहते हैं कि निजरस के फैलाव से पूर्ण जो ज्ञान, उसके स्फुरायमान होनेमात्र जो समयसार, उससे उत्कृष्ट वस्तुतः अन्य कोई नहीं है। अहो! आत्मा चैतन्य चमत्कार से भरपूर परम अद्भुत वस्तु है। अन्दर वस्तु अजब-गजब

है। जिसका कहीं अन्त नहीं, ऐसा अनादि-अनन्त विस्तृत आकाश है। उसके अनन्त क्षेत्र का ज्ञान जिसमें हो जाता है, ऐसा अचिन्त्य आत्मा का ज्ञानस्वभाव है। यहाँ कहते हैं कि ऐसे भगवान आत्मा को एक को ही अनुभव कर।

प्रश्न : परन्तु इस अनुभव का कोई साधन तो होगा न ?

उत्तर : उसका साधन दूसरा कुछ नहीं है, आत्मा के अनुभव के लिए व्यवहाररत्नत्रय की भी अपेक्षा नहीं है। अरे! अनुभव के काल में अनन्त गुणों की पर्यायें प्रगट हुईं, वहाँ एक गुण की पर्याय को दूसरे गुण की पर्याय की भी जब अपेक्षा नहीं है तो व्यवहाररत्नत्रय तो बाहर की वस्तु है, उसकी अपेक्षा कैसे हो सकती है? आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय, शरीर -कर्म अथवा राग के आधार से नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय, निश्चयरत्नत्रय का साधन है - ऐसा नहीं है।

आत्मा में करण नाम का एक गुण है, वह साधन है और आधार नाम का गुण है, वह आधार है। दूसरा कोई साधन और दूसरा कोई आधार है, ऐसा है ही नहीं। प्रभु आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड है, वहाँ एक गुण को दूसरे गुण का आधार नहीं है तो स्वानुभव की दशा को अन्य आधार है, यह कैसे सम्भव है? उस पर्याय को भी पर्याय का ही आधार है और पर्याय ही स्वयं पर्याय का साधन है। पर्याय ऐसी स्वतन्त्र है।

अरे! जैन में जन्म लेनेवालों को भी जैन तत्त्व का पता नहीं है। देखो, यह लकड़ी है न! इसका एक परमाणु दूसरे परमाणु के आधार से नहीं रहता - ऐसा प्रत्येक परमाणु का स्वतन्त्र अधिकरण है। अधिकरणगुण अन्दर है या नहीं? अहो! प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र अपने-अपने आधार से है - ऐसा अलौकिक वस्तुस्वरूप है।

कर्म का उदय तो जड़ है, वह राग का स्पर्श नहीं करता; रागभाव है, वह कर्म का स्पर्श नहीं करता तथा रागभाव है, वह शुद्ध स्वानुभव की पर्याय का स्पर्श नहीं करता - ऐसी ही वस्तु है। भाई! वस्तु का अस्तित्व ही इस प्रकार चमत्कारिक है। लोग बाहर में चमत्कार मानते हैं परन्तु उन्हें अन्दर चैतन्य के चमत्कार का पता नहीं है। वस्तु के द्रव्य-गुण-पर्याय सभी स्वतन्त्र हैं - ऐसी वस्तु की चमत्कारिक शक्ति को जाननेवाला भगवान

आत्मा, चैतन्य चमत्कारिक वस्तु है। भाई! जिसमें सब प्रत्यक्ष ज्ञात हो, ऐसे ज्ञान की पूर्णता की कोई अद्भुत अलौकिक महिमा है और ऐसी जिसकी सामर्थ्य है, वह भगवान आत्मा परम अद्भुत चैतन्य चमत्कारमय वस्तु है। यहाँ कहते हैं कि उस परमार्थ वस्तु को एक को ही अनुभव करो।

अहाहा...! निजरस के फैलाव से पूर्ण जो ज्ञान, उसके स्फुरायमान होनेमात्र जो समयसार, उससे उत्कृष्ट अन्य कोई नहीं है। अहो! जिस निर्मलपर्याय के प्रगट होने में किसी अन्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का आश्रय नहीं है, ऐसी जो निजरस से भरपूर है - ऐसी अद्भुत... अद्भुत पर्यायशक्ति की स्फुरणामात्र समयसार विश्व में परम सारभूत है - यह पर्याय की बात है।

भाई! संसार में तो खाना-कमाना और पाँच इन्द्रिय के विषय भोगने में सर्वत्र राग की होली है। पर की क्रिया का तो आत्मा कर्ता है ही नहीं, परन्तु सङ्कल्प-विकल्प का कर्ता अज्ञानी होता है, उसे स्वभाव के अपार/ अनन्त निजवैभव की खबर नहीं है; इसलिए वह पुण्य-पाप के सङ्कल्प-विकल्प करता है किन्तु पर के काम तो वह भी नहीं कर सकता।

अहो! निजरस के वैभव से भरपूर भगवान आत्मा परम अद्भुत वस्तु है। कलश २७३ में आता है कि आत्मा का यह सहज अद्भुत वैभव है। बाहर में करोड़ों के महल हों, उनमें लाखों के फर्नीचर हों, वह वैभव नहीं है; वह सब तो धूल है। बापू! उसकी तो धूल और राख ही होगी, वह तो भगवान आत्मा को स्पर्श ही नहीं करता। भगवान आत्मा का तो ऐसा सहज अद्भुत वैभव है कि अन्तर्मुख देखे तो मुक्तस्वरूप भासित होता है और बाहर में नजर करे तो राग भासित होता है। अन्दर देखो तो अभेद एकरूप भासित होता है और भेद से देखो तो अनेकरूप भासित होता है। अन्तर्मुख देखो तो कषायरहित शान्ति का पिण्ड भासित होता है और बाहर में देखो तो कषाय का क्लेश भासित होता है। अहा! ऐसा आत्मा का अद्भुत से अद्भुत महिमावन्त स्वभाव जयवन्त वर्तता है।

अहा! लोगों को आत्मा के चमत्कार का पता नहीं है, उसकी एक समय की ज्ञान की दशा तीन काल-तीन लोक को, उन्हें स्पर्श किये बिना ही जाने, ऐसा आत्मा का चमत्कारी स्वभाव है। आत्मा के स्वरूप का अनुभव होता है, वह बाह्य में राग को भी स्पर्श

किये बिना होता है - ऐसा अद्भुत उसका स्वभाव है। अहो! आत्मा का द्रव्य चमत्कारी, उसके गुण चमत्कारी और उसकी पर्याय चमत्कारी है। स्वानुभव की पर्याय को भी किसी का आधार नहीं है। वर्तमान पर्याय, पूर्व पर्याय के कारण नहीं होती, पर के कारण वह नहीं हुई; वस्तुतः तो पर्याय का कारण, अपना द्रव्य-गुण भी नहीं है।

व्यवहार से निश्चय नहीं होता, इस बात से यह स्पष्टीकरण आया है। नग्नदशा और अट्टाईस मूलगुणों के पालन द्वारा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नहीं होता। बाह्य व्यवहार को तो निर्मलपर्याय स्पर्श ही नहीं करती और जो व्यवहार का राग है, वह निर्मलपर्याय को स्पर्श नहीं करता - ऐसे चित्त्वमत्कार प्रभु आत्मा की महिमा जयवन्त वर्तती है। अहो! समयसार में अध्यात्म का सागर भरा है, एक-एक कलश और एक-एक शब्द में गजब के रहस्य भरे हैं।

अरे! इस जीव ने अपनी वस्तु को जानने की कभी दरकार नहीं की। सब मेरे हैं - शरीर मेरा, पुत्र मेरा, बँगला मेरा - ऐसी मेरे-मेरे की सिरपच्ची करके मर गया। अरे भाई! जो तुझसे पृथक् हो जाएँ, वे तेरे कैसे हो सकते हैं और जो तेरे हैं, वे तुझसे पृथक् कैसे हो सकते हैं? व्यवहार का राग भी भिन्न पड़ जाता है, वह भी तेरा; अर्थात्, आत्मा का नहीं है।

अरे भाई! साधुपना किसे कहते हैं? यह बात तो पाँचवीं गाथा में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कही है - 'निर्मल विज्ञानघन जो आत्मा, उसमें अन्तर निमग्न परमगुरु सर्वज्ञदेव और अपरगुरु गणधरादि से लेकर हमारे गुरु पर्यन्त, उनके प्रसादरूप से दिया गया जो शुद्धात्मतत्त्व का अनुग्रहपूर्वक उपदेश, उससे जिसका जन्म हुआ है।' देखो, जो विज्ञानघन आत्मा है, उसमें हमारे गुरु निमग्न थे - ऐसा कहा है परन्तु मात्र नग्न थे और व्यवहार में मग्न थे - ऐसा नहीं कहा। भाई! अन्तरनिमग्नदशा ही वास्तविक साधुपना है; व्यवहार हो भले ही, परन्तु वह मोक्षमार्ग नहीं है।

अहाहा...! निजरस से भरपूर जो ज्ञान, उसके स्फुरायमान होनेमात्र जो समयसार है, वह एक ही सारभूत है; उसके अतिरिक्त अन्य कुछ सारभूत नहीं है। आत्मा, अनन्त-अनन्त शक्ति के विस्तार से पूर्ण प्रभु है, उसमें नजर करके अन्तर निमग्न होने पर अन्दर

पर्याय में आनन्द के निधान प्रगट होते हैं। जैसे, पाताल में से झरने फूटते हैं; उसी प्रकार स्व-स्वरूप में निमग्न होने पर अन्दर चैतन्य के पाताल में से अतीन्द्रिय आनन्द के झरने फूटते हैं, इसका नाम स्वानुभवदशा और यही मोक्षमार्ग और इसी की पूर्णता होना मोक्ष है। समयसार नाटक में आता है न -

अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रसकूप।

अनुभव मारग मोक्ष को, अनुभव मोक्षस्वरूप॥

अहा! जब पर्याय में स्वस्वरूप का भान हुआ, तब समयसार हुआ। विज्ञानघनदशा में यही समयसार अर्थात् विज्ञानघन प्रभु ज्ञात हुआ, इससे उत्कृष्ट कुछ नहीं है; अर्थात्, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ हितकारी नहीं है।

अरे भाई! ऐसा मनुष्य अवतार प्राप्त हुआ और खेलना-कमाना तथा खाना-पीना, बस इसमें ही ढोर / पशु की तरह अवतार चला जाता है। आता है न मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति - अरे! मनुष्य के वेष में मानो परिभ्रमण करते हुए पशु! यहाँ तो विशेष यह कहते हैं कि इस व्यवहार से धर्म होता है, यह बात रहने दे भाई! और शुद्ध एक चैतन्यस्वरूप का ही अनुभव कर। व्यवहार है, यह तो बाह्य निमित्त के आधीन राग की स्फुरणा है; वह कहीं ज्ञान की/ चैतन्य की स्फुरणा नहीं है।

भाई! यह बात कठोर तो है, लोगों में खलबलाहट हो जाए, ऐसी है क्योंकि उन्हें लगता है कि अरे! हम व्रत पालन करते हैं, उपवासादि तप करते हैं, ब्रह्मचर्य पालन करते हैं — इत्यादि सब कुछ, कुछ भी नहीं है! हाँ भाई! यह सब कुछ भी नहीं है। यह सब तो तू पूर्व में अनन्त बार कर चुका है। अरे! नववें ग्रैवेयक के स्वर्ग में जाए - ऐसे शुक्ललेश्या के परिणाम भी तू अनन्त बार कर चुका है, परन्तु अन्तर में ज्ञान की स्फुरणामात्र स्वानुभव बिना सभी व्यर्थ हैं। देखो न! कहते हैं कि न खलु समयसारात् उत्तरं किञ्चत् अस्ति... अर्थात्, ज्ञान की स्फुरणा होनेमात्र जो समयसार, उससे उत्कृष्ट लोक में कुछ नहीं है।

... पूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करना चाहिए। इसके अतिरिक्त वास्तव में दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है।

पूर्ण ज्ञानस्वरूप कहकर भगवान आत्मा, अनन्त गुणों का सागर पूर्ण परिपूर्ण है, यह बताना है। अहा! ऐसी निज चैतन्यसत्ता का निज पर्याय में अनुभव करना; अर्थात्, स्वयं पूर्ण विज्ञानघन प्रभु है, उसका अनुभव करना ही सार है; इसके अतिरिक्त अन्य कुछ सार नहीं है। यह बाग-बँगला और जमीन-जवाहरात तो सब धूल ही है परन्तु यह व्यवहाररत्नत्रय, पञ्च महाव्रत के परिणाम, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा और शास्त्रज्ञान इत्यादि कुछ भी सारभूत नहीं है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

लो, इस एक पंक्ति में पूरा समयसार आ गया। ●

[प्रवचनरत्नाकर (गुजराती), भाग १०, पृष्ठ २८४ से २९५ तक]



वीतरागता का सन्देश

हे प्रभो ! आप तो सभी के लिए दर्पणवत् समान हैं। जिस प्रकार दर्पण के सन्मुख अपना चेहरा करनेवाले तो स्वयं ही दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखकर आनन्दित होते हैं और दर्पण की तरफ पीठ करनेवाले अपना प्रतिबिम्ब न देख पाने के कारण स्वयं ही दुःखित होते हैं; इसमें दर्पण का तो किञ्चित् भी दोष नहीं है, वह तो दोनों के लिए समानरूप से ही चेहरे को प्रतिबिम्बित करनेवाला है। इसी प्रकार आप जैसे त्रिलोकीनाथ की भक्ति करनेवाले जीव तो सहज सुखोपलब्धि करते हैं और आपसे विमुख रहनेवाले अज्ञानीजन स्वयं ही दुःखी होते हैं, इसमें आपका किञ्चित् भी दोष नहीं है, क्योंकि आप तो वीतरागी हैं, आप तो राग-द्वेषपूर्वक किसी को सुख-दुःख प्रदाता है ही नहीं।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, विषापहार प्रवचन, पृष्ठ २५

वीतरागी सन्तों का उपदेश तू स्थाप निज को मोक्षपथ में

दिगम्बरत्व के प्रबल प्रतिष्ठापक भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने जहाँ मुनिदशा में शरीर की नग्न दिगम्बरदशा को अनिवार्य प्रतिपादित किया है, वहीं मात्र शरीर की दिगम्बरदशा एवं पञ्च महाव्रतादि के पराश्रित शुभाचार को ही मोक्षमार्ग माननेवालों को सचेत करते हुए दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मुक्तिपथ में निज आत्मा को स्थापित करने की पावन प्रेरणा प्रदान की है।

आचार्यदेव के उक्त कथन के सन्दर्भ में समयसार गाथा ४११ से ४१२ व उनकी टीका पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मङ्गल प्रवचन इस प्रकार हैं—

तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिदे ।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥ ४११ ॥
मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वसु ॥ ४१२ ॥

अर्थात् इसलिए सागारों द्वारा (गृहस्थों द्वारा) अथवा अणगारों द्वारा (मुनियों द्वारा) ग्रहण किये गये लिङ्गों को छोड़कर, दर्शन-ज्ञान-चारित्र में जो कि मोक्षमार्ग है, उसमें तू आत्मा को लगा ॥ ४११ ॥

हे भव्य! तू मोक्षमार्ग में अपने आत्मा को स्थापित कर, उसी का ध्यान कर, उसी को चेत-अनुभव कर और उसी में निरन्तर विहार कर; अन्य द्रव्यों में विहार मत कर ॥ ४१२ ॥

यदि द्रव्यलिङ्ग मोक्षमार्ग नहीं है और दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है तो क्या करना चाहिए ? - ऐसा उपदेश गाथा में करते हैं ।

क्योंकि द्रव्यलिङ्ग मोक्षमार्ग नहीं है; इसलिए समस्त द्रव्यलिङ्ग का त्याग करके, दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही, वह (दर्शन-ज्ञान-चारित्र) मोक्षमार्ग होने से, आत्मा को लगाने योग्य है - ऐसी सूत्र की अनुमति है ।

अहाहा ! देखो यह वीतरागी सन्त, दिगम्बर मुनिवर आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र स्वयं स्पष्टीकरण करते हैं कि हमको जो यह बाहर में नग्नदशा और पञ्च महाव्रतादि अट्टाईस मूलगुणों का विकल्प है, वह मोक्षमार्ग नहीं है । यह तो मूल गाथा और टीका में पुकार है भाई ! अरे प्रभु ! यह तेरे हित की बात है । बापू ! तू देह की नग्नता और शुभराग से मोक्षमार्ग मानता है परन्तु यह तो मिथ्याशल्य है, बापू ! इससे तेरा महा अहित होगा । अहाहा ! देह और राग की क्रिया में मोक्षमार्ग मानकर तूने वहीं एकाग्रता की है परन्तु इससे तुझे भारी नुकसान है भाई ! क्योंकि वह मोक्षमार्ग नहीं है ।

एक समय की पर्याय तो व्यवहार आत्मा है, उस पर्याय के पीछे पूर्ण ज्ञान, आनन्द, शान्ति, प्रभुता, सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता इत्यादि अनन्त गुणस्वभावों से भरपूर भगवान स्वयं है, वह निश्चय है । अहाहा ! यहाँ कहते हैं कि ऐसे आत्मा को नग्नदशा और क्रियाकाण्ड का विकल्प, मोक्ष का कारण नहीं है क्योंकि वह परद्रव्य है । स्वद्रव्य शुद्ध निश्चय आत्मद्रव्य के आश्रय से प्रगट हुए दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मपरिणाम ही मोक्षमार्ग है । लो, ऐसी बात है ।

इसलिए यहाँ कहते हैं कि सर्व द्रव्यलिङ्ग के विकल्प को छोड़कर, एक दर्शन-ज्ञान -चारित्र में ही आत्मा को लगाने योग्य है । बहुत गम्भीर बात है भाई ! इसमें व्रत छोड़कर, अव्रत में जाने की बात नहीं है परन्तु व्रत के विकल्प से हटकर, स्वस्वरूप में रमना/थिर होना, लीन होना - ऐसी बात है । मुनिराज को बाहर में व्रत का विकल्प होता है, वहाँ से हटकर स्वरूप में लग जाने की बात है क्योंकि वही मोक्ष का पन्थ अथवा भव के अन्त का उपाय है ।

प्रभु ! आत्मा अनन्त गुणों से भरपूर है । उसके आश्रय से प्रगट हुए शुद्ध दर्शन-ज्ञान

-चारित्र के परिणाम ही मोक्ष का मार्ग है; इसलिए हे भाई! इसी में आत्मा को जोड़ने योग्य है - ऐसी सूत्र की अनुमति है। लो, यह आगम की आज्ञा और यह जिनशासन का आदेश! व्रतादि के राग में रुका रहना, भगवान का आदेश नहीं है। छठवें गुणस्थान में मुनिराज को व्रतादि का विकल्प होता है, वह द्रव्यलिङ्ग है, उसे छोड़कर निजानन्दरस में लीन हो जा! निजानन्दधाम स्वघर में जाकर निवास कर। अरे! इसने अनन्त काल में स्वघर-निजघर देखा नहीं है। भजन में आता है न!

हम तो कबहू न निज घर आये,
पर घर भ्रमत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये;
हम तो कबहू न निज घर आये ॥

अहा! पुण्य और पाप के फल में अनेक पर्यायें धारण कीं, अनेक नाम धारण किये परन्तु निजघर - जहाँ आनन्द का नाथ प्रभु है, वहाँ नहीं गया। यहाँ कहते हैं कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है; इसलिए आत्मा को उसी में जोड़ने योग्य है। लो, यह जिनसूत्र की आज्ञा, जिनशासन की आज्ञा है।

वस्त्रसहित लिङ्ग हो तो भी मुनिपना आ जाता है - ऐसा कोई विद्वान कहते हैं परन्तु वह ठीक नहीं है। समाधितन्त्र गाथा ८७-८९ के आधार से वे कहते हैं कि मोक्षमार्ग में लिङ्ग-जाति का आग्रह/अभिनिवेश नहीं होना चाहिए अर्थात् वस्त्रसहित भी मुनिलिङ्ग होता है परन्तु उनका यह मिथ्या अभिनिवेश है। समाधितन्त्र के कथन का आशय तो यह है कि देह की नग्नदशा और व्रत का विकल्प देहाश्रित है; इस कारण इनसे मोक्ष होता है अथवा यह मोक्ष का कारण है - ऐसा आग्रह छोड़ देना चाहिए।

भाई! मुनिदशा में बाह्य लिङ्ग तो नग्न ही होता है परन्तु वह मुक्तिमार्ग है - ऐसा दुर्निवेश छोड़ देने की बात वहाँ की गयी है। वस्त्रसहित मुनिपना होता है - ऐसा मार्ग तीन काल में नहीं है। मुनि को अवश्यपने नग्नदशा ही होती है; वस्त्र-पात्र इत्यादि परिग्रह मुनि को हो ही नहीं सकते। वस्त्रसहित लिङ्ग तो कुलिङ्ग ही है; अन्य लिङ्ग से मुनिपना हो - ऐसा तो मार्ग ही नहीं है।

हाथी के ओहदे पर मरुदेवी माता समवसरण में भगवान के दर्शन करने जाती थी

और वहाँ एकदम केवलज्ञान हो गया; मल्लिनाथ भगवान को स्त्री की देह थी - इत्यादि सभी बातें कल्पित/मिथ्या हैं। तीर्थङ्कर को स्त्री की देह नहीं होती, मुनिदशा भी नहीं हो सकती। स्त्री देहवालों को पाँचवें गुणस्थान से ऊपर की दशा नहीं होती। अनन्त मुनिवर और तीर्थङ्कर मोक्ष पधारे हैं, उन सबकी बाह्य नग्नदशा ही थी, तथापि यहाँ बात यह है कि बाह्य लिङ्ग मोक्ष का कारण नहीं है। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि कैसा भी लिङ्ग हो और मुनिपना आ जाए अथवा मोक्ष हो जाए। भाई! ज्ञानियों की परम्परा में परमागम की यह अनुमति है कि द्रव्यलिङ्ग मोक्ष का कारण नहीं है अर्थात् नग्नदशा और पञ्च महाव्रतादि से मोक्ष होता है - ऐसी सूत्र की अनुमति नहीं है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है, इसलिए आत्मा को वहाँ ही जोड़ना चाहिए - यह सूत्र की आज्ञा है।

यहाँ द्रव्यलिङ्ग को छोड़कर, आत्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्र में लगाने का वचन है, वह सामान्य परमार्थ वचन है। कोई यह समझेगा कि यह मुनि-श्रावक के व्रतों के छुड़ाने का उपदेश है परन्तु ऐसा नहीं है।

देखो, कहते हैं कि मुनि-श्रावक के व्रत छोड़कर, अव्रत में जाने का यह उपदेश नहीं है। व्रतरहित अव्रत की दशा में मुनिपना अथवा केवलज्ञान हो जाए - ऐसा कभी नहीं होता तथा व्रत के विकल्पमात्र से भी मुक्ति हो जाए - ऐसा भी नहीं है। तो क्या है? वही कहते हैं।

जो मात्र द्रव्यलिङ्ग को ही मोक्षमार्ग जानकर वेश धारण करते हैं, उन्हें द्रव्यलिङ्ग का पक्ष छुड़ाने का उपदेश दिया है कि वेशमात्र से अर्थात् बाह्यव्रतमात्र से मोक्ष नहीं होता। परमार्थ मोक्षमार्ग तो आत्मा के परिणाम जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, वही है।

भाई! भावलिङ्गसहित का द्रव्यलिङ्ग तो यथार्थ नग्नदशा आदिरूप ही होता है परन्तु वहाँ एक भावलिङ्ग ही मोक्ष का कारण है; द्रव्यलिङ्ग मोक्ष का कारण नहीं है, तथापि कोई द्रव्यलिङ्ग को ही मोक्ष का कारण जानकर वेश धारण करता है तो उसे द्रव्यलिङ्ग का पक्ष छुड़ाने के लिए यह उपदेश है। भाई! दिगम्बरधर्म कोई पक्ष नहीं है, वह तो वस्तुस्वरूप है। परमार्थ मोक्षमार्ग तो जो आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणाम हैं, वही है; इसलिए आत्मा को उसी में जोड़ना चाहिए - वही कहते हैं।

व्यवहार आचारसूत्र के कथनानुसार जो मुनि-श्रावक के बाह्यव्रत हैं, वे व्यवहार से निश्चयमोक्षमार्ग के साधक हैं; उन व्रतों को यहाँ नहीं छोड़ाया है किन्तु यह कहा है कि उन व्रतों का भी ममत्व छोड़कर परमार्थ मोक्षमार्ग में लगने से मोक्ष होता है; केवल वेशमात्र से-व्रतमात्र से मोक्ष नहीं होता।

देखो ! मुनि-श्रावक के बाह्यव्रतों को व्यवहार से निश्चयमोक्षमार्ग का साधक कहा है। व्यवहार से कहा है इसका अर्थ क्या ? यही कि साधक तो एक ही है परन्तु उसका कथन दो प्रकार से है। यही बात मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार में कही गयी है। मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, मोक्षमार्ग तो एक ही है, उसका कथन दो प्रकार से है। त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से जो दृष्टि -ज्ञान-रमणता हुई, वह निश्चयमोक्षमार्ग/सत्यार्थ मोक्षमार्ग है और उसके साथ व्यवहार का जो विकल्प है, उसे सहचर व बाह्य निमित्त जानकर आरोप से/ उपचार से मोक्षमार्ग कहते हैं परन्तु वह कहीं सत्यार्थ मोक्षमार्ग नहीं है तथा मुनि-श्रावक के बाह्य व्रत कहीं मोक्षमार्ग के सत्यार्थ साधक हैं - ऐसा नहीं है। श्रीमद्जी ने भी कहा है कि -

**काया की विसारी माया, स्वरूप में समाये ऐसे,
निर्ग्रन्थ का पथ, भव अन्त का उपाय है।**

अहाहा... ! जो बाह्य लिङ्ग का पक्ष छोड़कर स्वरूप में समा गये, स्वरूप के आश्रय में डूब गये, वे निर्ग्रन्थ मुनिवर हैं और ऐसे निर्ग्रन्थ का पन्थ ही मोक्षपन्थ है, वही भव के अन्त का उपाय है। बाह्य लिङ्ग तो यही होता है परन्तु वह मोक्ष का पन्थ नहीं है।

कोई-कोई लोग श्रीमद् का आधार लेकर कहते हैं कि -

**जाति वेश का भेद नहीं, कहा मार्ग जो होय।
साधे वह मुक्ति लहे, मार्ग भेद नहीं कोय॥**

इसका वे यह अर्थ करते हैं कि कैसी भी जाति और वेश होने पर भी मोक्ष हो जाता है परन्तु उनका यह कथन यथार्थ नहीं है। वास्तविकता यह है कि बाह्यलिङ्ग तो नग्नदशा और पञ्च महाव्रतादि ही होते हैं परन्तु उनका पक्ष मोक्षमार्ग नहीं है - ऐसी बात है। अन्य वेश तो बाह्य लिङ्ग ही नहीं है। अन्य वेश में मुक्ति हो जाए - ऐसा तीन काल में नहीं है।

चाण्डाल जाति, स्त्री जाति और वस्त्रसहित वेश हो और मोक्ष हो जाए – ऐसा कभी नहीं होता। यह भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की पुकार है कि तीन काल में भी वस्त्रसहित मुनिपना नहीं हो सकता। निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र – यह एक ही मोक्षमार्ग है और बाह्यलिङ्ग भी एक ही है।

कितने ही यह कहते हैं कि छद्मस्थ गुरु का केवलज्ञानी विनय करते हैं परन्तु यह भी यथार्थ नहीं है। अपने से बड़ों के बहुमान का विकल्प आता है परन्तु भगवान केवली से बड़ा कोई नहीं है तो भगवान किसकी विनय करें तथा भगवान केवली तो परम वीतराग हैं, उन्हें विनय का विकल्प कहाँ? इसलिए भगवान, छद्मस्थ गुरु का विनय करते हैं – यह कहना मिथ्या है। बात इतनी-सी है कि उन्हें केवलज्ञान में ज्ञात होता है कि ये मेरे गुरु थे।

कितने ही कहते हैं कि गुरु की भक्ति करते-करते मुक्ति हो जाती है – यह बात भी मिथ्या है। गुरु के प्रति विनय-भक्ति का शुभराग आता अवश्य है परन्तु इससे मुक्ति हो जाती है अथवा राग करते-करते वीतरागता हो जाती है, यह बात त्रिकाल में भी सत्यार्थ नहीं है।

जिसे अन्तर में निश्चयमोक्षमार्ग प्रगटा हो, उसे व्रतादि व्यवहार के विकल्प होते हैं और उन्हें बाह्य निमित्त जानकर व्यवहार से साधक कहते हैं परन्तु जिसे अन्तरङ्ग में निश्चय प्रगट ही नहीं है, उसके व्रतादि साधन कैसे हो सकते हैं? उन्हें तो व्यवहार से भी साधन नहीं कहा जा सकता। यह बात व्यवहार के पक्षवालों को नहीं बैठती, परन्तु क्या हो सकता है? मार्ग ही ऐसा है। किसी को जँचे या न जँचे, सत्य तो यही है किन्तु इस कारण व्रतों को छुड़ाया है – यह भी आशय नहीं है। आशय यह है कि व्रतों का ममत्व, व्रतादि मोक्षमार्ग है – ऐसा मिथ्या अभिप्राय छुड़ाया है।

यहाँ तात्पर्य यह है कि व्रतों का भी ममत्व छोड़कर, परमार्थ मोक्षमार्ग में लगने से मोक्ष होता है; केवल वेशमात्र से अथवा व्रतमात्र से मोक्ष नहीं होता है। स्वरूप का श्रद्धान-ज्ञान-रमणता अर्थात् स्थिरता, यह एक ही मोक्षमार्ग है, इसी में लगने से मोक्ष होता है। 'एक होय तीन काल में परमार्थ का पन्थ।' यहाँ तो केवल बाह्य वेश से मोक्षमार्ग नहीं है, यह सिद्ध करना है। बाह्यवेश कैसा भी हो – ऐसा नहीं है। बाह्यवेश तो दिगम्बर नग्नदशा

ही होती है परन्तु केवल इसी से मोक्षमार्ग अथवा मोक्ष होता है – ऐसा नहीं है। इसे साधन कहना तो उपचार से-व्यवहार से है।

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः।

एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥ २३९ ॥

अर्थात् आत्मा का तत्त्व, दर्शन-ज्ञान-चारित्रत्रयात्मक है अर्थात् आत्मा का यथार्थरूप दर्शन-ज्ञान और चारित्र के त्रिकस्वरूप है; इसलिए मोक्ष के इच्छुक पुरुष को यह दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग, एक ही सदा सेवन करने योग्य है।

आत्मा का तत्त्व अर्थात् यथार्थरूप, दर्शन-ज्ञान-चारित्र – ऐसा त्रिकस्वरूप है। आत्मतत्त्व तो त्रिकाल है, यहाँ उसका तत्त्व अर्थात् उसके वास्तविक परिणमन की बात है। आशय यह है कि निर्मल रत्नत्रयरूप परिणमन होता है, वह इसका वास्तविक तत्त्व अर्थात् स्वरूप है। व्यवहाररत्नत्रय, आत्मा का वास्तविकरूप नहीं है।

जिसे आत्मा की पूर्ण पवित्र और पूर्ण आनन्दमयदशा प्रगट करना हो, उस पुरुष को शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग एक ही सेवन करने योग्य है। बीच में ब्रतादि भले ही हों परन्तु वे सेवन योग्य नहीं हैं। ब्रतादि होते हैं, वे मात्र जाननेयोग्य हैं, वह जाने हुए प्रयोजनवान हैं; आदर करने योग्य प्रयोजनवान नहीं हैं।

हे भव्य! स्वयं अर्थात् अपना आत्मा, अनादि संसार से लेकर अपनी प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि के दोष से परद्रव्य में – रागद्वेषादि में निरन्तर स्थित रहता हुआ भी, अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा ही उसमें से पीछे हटकर, उसे अति निश्चलतापूर्वक दर्शन-ज्ञान-चारित्र में निरन्तर स्थापित कर।

आत्मा, चैतन्यमूर्ति प्रभु आनन्द का रसकन्द है परन्तु स्वयं अनादि संसार से लेकर अपने को भूला हुआ है। वह अपनी प्रज्ञा के दोष से अपने को भूला हुआ है। कर्म के कारण भूला है – ऐसा नहीं है और अनादि से निरन्तर राग-द्वेष में स्थित रहा है। पर की क्रिया तो कोई कर ही नहीं सकता। भाई! स्वयं ही अपने स्वरूप को भूलकर, पर्याय में नये-नये सङ्कल्प-विकल्प करता है, वह अपना अपराध है। अहा! पर्याय में अनादि से ऐसा भ्रम चल रहा है, अन्दर स्वयं तो ज्ञानानन्दस्वरूप जैसा है, वैसा है।

अहाहा...! भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु स्वद्रव्य है और राग-द्वेष के भाव, असंख्यात प्रकार के पुण्य-पाप के भाव, वे परद्रव्य हैं। परद्रव्य के लक्ष्य से होनेवाले वे भाव, परद्रव्य हैं। जीव, बाहर की मिठास के भ्रम में अपने को भूलकर परद्रव्यरूप असंख्यात प्रकार के राग-द्वेष के और पुण्य-पाप के भावों में स्थित रहा। स्वयं अन्दर तो अमृत का सागर प्रभु है परन्तु अपनी प्रज्ञा के दोष से अर्थात् अपने ही दोष से अपने को भूलकर पुण्य-पापरूप ज़हर का प्याला पी रहा है। पुण्य-पाप के भाव ज़हर के प्याले हैं, पुण्यभाव भी ज़हर है। भाई! स्वयं ही मूर्च्छित होकर भ्रम खड़ा किया है और स्वयं ने ही ज़हर पीया है।

भगवान आत्मा, अमाप... अमाप... अमाप शक्ति से भरा है। अज्ञानी के माप में/ ज्ञान में नहीं आया और इस पुण्य-पाप के भाव के माप करके, उसी में अनादि से स्थित होकर इसने ज़हर पीया है। यह देव क्या? मनुष्य क्या? तिर्यञ्च क्या? नारकी क्या? धनवान क्या? निर्धन क्या? राजा क्या-रङ्क क्या? चींटी, कबूतर और कौआ क्या? अरे! सर्व संसारी जीव अनादि से अपनी वस्तु को भूलकर पुण्य-पापरूप विषमभाव के विष के सेवन में पड़े हुए हैं। भाई! व्यवहाररत्नत्रय का भाव भी विषमभाव है। बापू! नियमसार कलश में कहा है कि - नाममात्र कारण ऐसे व्यवहाररत्नत्रय को भवसागर में डूबे हुए जीव ने पूर्व में भव-भव में आचरण किया है अर्थात् वह सत्यार्थ कारण नहीं है, समभाव नहीं है; विषमभाव है।

अभी बहुभाग जीव तो पाप के पोटले का भार ढोने में रुक गये हैं। वहाँ से हटकर कदाचित् पुण्यभाव में आवें तो भी क्या? पुण्यभाव भी राग है, दुःख है, ज़हर है। अहा! इस प्रकार दुःखमय भावों में ही जीव अनादि से स्थित है। वह अपनी प्रज्ञा का अपराध है। ये सेठ, राजा और देवता सभी पुण्य-पाप में स्थित रहते हुए दुःख में ही रचे-पचे हैं। भाई! तू संयोग में अपने को सुखी मानता है परन्तु बापू! तू दुःख के समुद्र में स्थित है क्योंकि पुण्य-पाप के भाव, सब दुःख का ही समुद्र है भाई!

भगवान आत्मा, सर्वज्ञस्वभावी है। स्व में रहकर पर का स्पर्श किये बिना अनन्त स्व -परपदार्थों को अपने स्व-पर प्रकाशक स्वभाव की सामर्थ्य से जानना ही उसका

स्वभाव है; अल्पज्ञता उसका स्वरूप नहीं है, तथापि कोई किञ्चित् क्षयोपशम की विशेषता का अभिमान करे तो वह दुःख में ही स्थित है, विषमभाव में ही स्थित है। क्षयोपशम का अभिमान, वह सब राग-द्वेष ही है। भाई! यदि शास्त्राभ्यास का भी अभिमान हुआ तो मर जाएगा। यूँ तो यह जीव अनन्त बार ग्यारह अङ्ग नौ पूर्व तक पढ़ चुका है परन्तु वह सब व्यर्थ गया, अज्ञान के खाते में गया, उससे केवल बन्धन ही हुआ।

अरे! इस प्रकार यह जीव अनादि से परद्रव्य में, रागादि भावों में, दुःख के भावों में अपनी प्रज्ञा के दोष से स्थित है। कर्म के कारण राग-द्वेष में स्थित है – ऐसा यहाँ नहीं कहा है। यदि किसी शास्त्र में वैसा कहा भी हो तो वह निमित्त का अथवा व्यवहार का कथन जानना चाहिए। रागादि के होने के काल में वहाँ कौन निमित्त है, यह बताया है। वरना तो 'अपने को आप भूलकर हैरान हो गया' अर्थात् स्वयं ही स्वयं को भूलकर पुण्य-पाप के भावों में मूर्च्छित है, वहीं नजर लगी है; इसलिए प्राणी दुःख के भाव में स्थित है, इसका नाम संसार है। यह स्त्री, पुत्र, घर-बार संसार नहीं हैं; रागादि परद्रव्य में स्थित होना ही संसार है, दुःख है।

अब कहते हैं कि अपनी प्रज्ञा के दोष से परद्रव्य में, राग-द्वेषादि में निरन्तर स्थित रहा होने पर भी, अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा ही वहाँ से पराङ्गमुख होकर अपने को अतिनिश्चलरूप से दर्शन-ज्ञान-चारित्र में निरन्तर स्थापित कर। अहाहा...! ज्ञान की पर्याय को अपने में-शुद्ध एक ज्ञायकस्वरूप में झुकाकर, निश्चलरूप से दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थापित कर – ऐसा कहते हैं। 'अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा' ऐसा कहा है न! वहाँ गुण अर्थात् प्रज्ञा। पर्याय, स्वद्रव्य के प्रति झुकी, एक ज्ञायक के सन्मुख हुई, वह प्रज्ञा का गुण है; पहले परसन्मुख थी, वह दोष था।

अब कहते हैं कि परद्रव्य से, राग-द्वेष से पराङ्गमुख होकर स्वसन्मुख ढल जा। पर्याय, निज-स्वरूप के प्रति ढलती है, यह प्रज्ञा का गुण है। अतः कहते हैं कि अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा ही रागादि-व्यवहार से पराङ्गमुख होकर अपने को अतिनिश्चलरूप से दर्शन-ज्ञान-चारित्र में निरन्तर स्थापित कर ले। कर्म, मार्ग दें तो रागादि से पराङ्गमुख हुआ जाए – ऐसा नहीं है। अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा ही वहाँ से पराङ्गमुख होकर, अपने को

अतिनिश्चलरूप से दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थापित कर - यह कहना है ।

अनादि से पर्याय में रागादि अशुद्धता चली आ रही है । वर्तमान पर्याय भी अशुद्ध है परन्तु स्वघर में स्थित वस्तु अर्थात् भगवान ज्ञायक पुर्णानन्द का नाथ तो त्रिकाल शुद्ध ही है । जहाँ प्रज्ञा की पर्याय को स्वसन्मुख किया कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुआ । यहाँ कहते हैं कि उसी में तू अपने को स्थाप ! अन्य सभी पन्थों से हटाकर अपने को मोक्षपन्थ में स्थाप ! अहो ! क्या भाषा है ? स्थाप निज को मोक्षपथ में ! भाषा तो सादी है परन्तु भाव जो है, वह अति गम्भीर है भाई !

अरे भाई ! तू कौन है ? इसका विचार तो कर ।

मैं कौन हूँ आया कहाँ से, और मेरा रूप क्या ?

सम्बन्ध दुःखमय कौन है, स्वीकृत करूँ परिहार क्या ?

इसका विचार विवेकपूर्वक, शान्त होकर कीजिये ।

तो सर्व आत्मिक ज्ञान के, सिद्धान्त का रस पीजिये ॥

भगवान ! तू अनादि-अनन्त अमाप-अमाप शक्तियों का सागर प्रभु है । अहाहा ! अन्दर ज्ञानानन्द का अमाप-अमाप सागर प्रभु तू ही है ! इसलिए शान्त होकर स्व-पर के विवेकपूर्वक अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा अर्थात् अन्तर्मुख प्रज्ञा की पर्याय के द्वारा अमाप का माप अर्थात् ज्ञान कर ले प्रभु ! प्रज्ञा के गुण द्वारा तू अपने को दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ऐसा स्थापित कर दे कि वहाँ से स्खलित न हो ।

अरे ! अनन्त काल में ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त हुआ है न प्रभु ! अब वक्रता कब तक ? शुभराग से धर्म होता है, यह वक्रता छोड़ दे । परलक्ष्य से होनेवाला शुभभाव संसार है, वह चौरासी के अवतार की खान है और अन्दर में तू अतीन्द्रिय आनन्द की खान है न प्रभु ! इसलिए कहते हैं कि भाई ! पर के प्रति उत्साह से हट जा और अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा निजात्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षपन्थ में स्थापित कर दे । होंश-उत्साह करने योग्य तेरी वस्तु अन्दर पड़ी है । अहा ! ऐसा उपदेश ! अहो यह समयसार तो भरतक्षेत्र का भगवान है - ऐसी अलौकिक चीज अन्यत्र कहीं नहीं है !!

अहा ! कहते हैं कि स्थाप निज को मोक्षपथ में । भाई ! तुझे यह कठिन लगता हो परन्तु इसे समझने से ही तेरा छुटकारा है । अरे ! जीव, देहादि अनित्य संयोग की ममता कर-करके, देह छोड़कर परलोक में कहीं चला जाएगा । ऐसे स्थान में जाएगा, जहाँ कोई सगा-सम्बन्धी नहीं होगा । न खाने को दाना, न पीने को पानी होगा और न पहनने को वस्त्र, न रहने को मकान होगा । अरे ! यह जीव है, ऐसा कोई पहचानेगा भी नहीं - ऐसे महादुःखमय स्थानों में चला जाएगा । इसलिए हे भाई ! तू अनित्य का प्रेम छोड़कर, निजानन्द ज्ञानानन्द प्रभु आत्मा की रुचि कर ! अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा आत्मा को अन्यत्र से हटाकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थापित कर !

प्रज्ञा के गुण द्वारा ही अर्थात् स्व-पुरुषार्थ द्वारा अपने को मोक्षपथ में स्थापित कर - ऐसा यहाँ कहना है । यह बात लोगों को एकान्त लगती है परन्तु यह सम्यक् एकान्त है क्योंकि अन्य कोई रीति है ही नहीं । तू कहता है कि व्यवहार कथञ्चित् साधन है परन्तु यह तो कथनमात्र आरोप से साधन कहा है । इससे कहीं साध्य की सिद्धि नहीं होती । अरे भाई ! तू व्यवहार को वास्तविक साधन मानता है, इसमें तेरा अहित होता है । भाई ! तू व्यवहार का पक्ष छोड़ दे, यह तो केवली के आड़तिया दिगम्बर सन्त भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य, जिनकी अवस्था में प्रचुर आनन्द उछल रहा था, उनका फरमान है ।

भाई ! इस व्यवहार के राग से पुण्यबन्ध अवश्य होगा; धर्म नहीं ।

तथा समस्त अन्य चिन्ता के निरोध द्वारा अत्यन्त एकाग्र होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही ध्यान कर ।

देखो ! देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति अथवा विनय का विकल्प, गुण-गुणी के भेद का विकल्प अथवा छह काय के जीवों की दया का विकल्प - यह सर्व अन्य चिन्ता है । यहाँ कहते हैं कि इस समस्त अन्य चिन्ता का निरोध करके, अन्तर में-स्वस्वरूप में एकाग्र होकर, दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ध्या अर्थात् अन्दर भगवान् शुद्ध चैतन्य ध्रुव है, उसे दृष्टि में लिया है; अब उस एक को ही अग्र करके शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही ध्यान कर । यहाँ पर्याय से बात है, वरना ध्यान तो त्रिकाली शुद्धद्रव्य का होता है । राग की और पर की चिन्ता/ध्यान न कर, किन्तु निर्मल रत्नत्रय का ध्यान कर । इस प्रकार पर्याय से बात करते

हैं। भाई! पर की और राग की चिन्ता है, वह तो अपध्यान है, आर्त-रौद्रध्यान है, वहाँ से हटकर निर्मलरत्नत्रय का ही ध्यान कर।

तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान का लक्षण बताते हुए कहा है कि एकाग्र-चिन्तानिरोधो ध्यानम् अर्थात् एकाग्रतापूर्वक चिन्ता का निरोध करना, ध्यान है। यहाँ भी कहते हैं कि अन्य समस्त चिन्ताओं का निरोध करके एकमात्र शुद्धचैतन्य में अग्र होकर, उसमें ही रमणता कर। लोक में उत्तम, मङ्गल और शरणरूप पदार्थ अपना आत्मा ही है; इसलिए पर से छूटकर अपनी आत्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही स्थापित कर और उसी का ध्यान कर। भाई! ध्यान करना तो तुझे आता ही है। अनादि से उल्टा ध्यान -संसार का ध्यान तू किया ही करता है परन्तु वह दुःखमय है; इसलिए अब कहते हैं कि सम्यक् ध्यान कर, स्वस्वरूप का ध्यान कर। स्व-स्वरूप में दृष्टि-ज्ञान रमणता, वह सुलटा ध्यान है और वह आनन्दकारी है, मङ्गलकारी है।

तथा समस्त कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग द्वारा शुद्ध -ज्ञान-चेतनामय होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही चेत-अनुभव कर।

दया-दान-व्रत भक्ति का भाव है, वह राग है, वह कर्मचेतना है; विकारीभाव में एकाग्रता वह कर्मचेतना है और उन रागादिभावों में हर्ष-शोक होना, वह कर्मफलचेतना है। रागादि को भोगने का भाव, कर्मफलचेतना है। जीव की पर्याय में राग का कर्तापना और भोक्तापना है, उसके त्याग द्वारा ज्ञानचेतनामय होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही चेत, उसका ही अनुभव कर। तात्पर्य यह है कि अन्दर तीन लोक का नाथ ज्ञायक प्रभु परमात्मा स्वयं है, उसमें एकाग्र होकर उसमें ही रमणता करके शुद्ध दर्शन -ज्ञान-चारित्र को ही चेत, उसका ही अनुभव कर।

भाई! शुभाशुभभाव हो, महाव्रत का भाव हो या गुण-गुणी के भेद का विकल्प हो अथवा नय के विकल्प हों, यह सब राग, कर्मचेतना हैं और उसमें हर्ष-उत्साह होना, कर्मफलचेतना है। यहाँ कहते हैं कि समस्त कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का त्याग करके, शुद्ध ज्ञानचेतनामय होकर अर्थात् स्वयं शुद्ध ज्ञानचेतनामात्र वस्तु है, उसमें एकाग्र होकर जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं, उसे ही चेत। अहाहा...! शुद्ध चैतन्य सम्पदा

से भरा भगवान स्वयं है, उसमें एकाग्र होकर शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही चेत। अहा यह पुण्य-पाप का भाव तो विपदा है, अपद है; यह तेरे रहने का स्थान नहीं है। ज्ञान और आनन्द से भरपूर शुद्ध चैतन्यतत्त्व ही निजपद है, उसका अनुभव कर, वह एक ही अनुभव करने योग्य है।

प्रश्न - अभी यह सब करें या स्त्री-पुत्रादि की जिम्मेदारी निभायें ?

उत्तर - अरे भाई! तू स्त्री-पुत्रादिक का करता ही क्या है? मैं पर का कर सकता हूँ, मैं परिवार का पालन करता हूँ - यह मान्यता ही अज्ञानी की है। तू तो व्यर्थ में राग-द्वेष किया करता है, हर्ष-शोक किया करता है; इसीलिए कहते हैं कि वहाँ से विरक्त होकर, निज चैतन्यपद में एकाग्र होकर इसी का अनुभव कर, क्योंकि वही सुख का पन्थ है, जन्म-मरण के अभाव का पन्थ है।

तथा द्रव्य के स्वभाव के वश से (अपने को) प्रतिक्षण जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, उनके द्वारा (अर्थात् परिणामीपने के द्वारा तन्मय परिणामवाला, दर्शन-ज्ञान - चारित्रमय परिणामवाला) होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही विहार कर।

देखो, द्रव्यस्वभाव के आश्रय से प्रतिक्षण दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम उत्पन्न होते हैं। द्रव्यस्वभाव के वश जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, वे निर्मलरत्नत्रय के परिणाम होते हैं। पुण्य-पाप के परिणाम, द्रव्य के आश्रय से नहीं होते; वे तो पर के-निमित्त के वश होनेवाले परिणाम हैं और दुःखरूप हैं। यहाँ तो द्रव्य को दृष्टि में लिया है; इसलिए द्रव्य का स्वभाव निर्मल-निर्मलभाव से द्रवता है, निर्मलरत्नत्रय की परिणतिरूप द्रवता है। यहाँ कहते हैं कि निर्मल-निर्मल द्रवता द्वारा तन्मय परिणामवाला होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही विहार कर; पुण्य-पाप के भाव में दुःख के भाव में तो अनन्त काल से तो विहार करता रहा है, अब अर्थात् यह अवसर है, तब इसी में विहार कर! अन्दर पूर्णानन्द का नाथ निर्मलानन्द प्रभु आत्मा है, उसके आश्रय से होनेवाले प्रतिक्षण निर्मल-निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम में विहार कर। स्वर्ग और नरक आदि चारों गतियाँ दुःखरूप हैं, इसलिए पुण्य-पाप में विहार मत कर; एक दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही विहार कर।

अब, बेचारे बनियों को यह सब समझने की फुरसत नहीं है, जिज्ञासा नहीं है,

तत्त्वाभिलाषा नहीं है; इसलिए वक्रता करते हैं और कहते हैं कि अभी नहीं, बाद में देखूँगा। भाई! बाद में क्या देखेगा? भाई! ऐसी वक्रता का फल तिर्यञ्चगति की प्राप्ति है। अरे! एकेन्द्रिय में चला जाए – ऐसा तत्त्व के अनादर का विषम फल है, इससे अधिक क्या कहें?

तथा ज्ञानरूप को एक को ही अचलतया अवलम्बन करता हुआ, जो ज्ञेयरूप होने से उपाधिस्वरूप हैं – ऐसे सर्व ओर से फैलते हुए समस्त परद्रव्यों में किञ्चित्मात्र भी विहार मत कर।

अहाहा...! परद्रव्यों में जरा भी विहार मत कर। इन शुभाशुभ रागादि भावों में मत जा। बापू! रागादिभाव तो दुःख का पन्थ है, वहाँ जाने से तेरा सुख लुटता है। तू निर्धार तो कर कि अन्दर तू एक शुद्ध ज्ञानस्वरूपी परमेश्वर है। अभी भी अन्दर परमेश्वर ही है। यदि न हो तो परमेश्वरपद प्रगटेगा कहाँ से? अहा! ज्ञानरूप का एक का ही अवलम्बन करने से पुण्य-पाप का अवलम्बन छूट जाता है और स्वतत्त्व के लक्ष्य से निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं। यहाँ कहते हैं कि उन्हीं में विहार कर; अन्यत्र परद्रव्यों में किञ्चित्मात्र भी विहार मत कर! देखो, यहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र में विहार करने के लिए कहा, वहाँ ज्ञानस्वरूप आत्मा का एक ही अवलम्बन है; दूसरा अर्थात् व्यवहार का भी अवलम्बन है, ऐसा नहीं है – ऐसी बात है।

भगवान के समवसरण में बाघ, सिंह इत्यादि सैकड़ों पशु, दिव्यध्वनि सुनने आते हैं; स्वर्ग के इन्द्र और देवों के झुण्ड तथा श्रावक-श्राविकाएँ और मुनिवर भी वाणी सुनने आते हैं। अहा! भगवान के श्रीमुख से निकली हुई वह वाणी कैसी होगी? भगवान की ओम्ध्वनि सुनकर गणधरदेव उसका विचार करते हैं और आगम की रचना करते हैं। उस वाणी की क्या महिमा कहें?

मुख ओम्कार ध्वनि सुनी, अर्थ गणधर विचारै।

रचि आगम उपदेश, भविक जीव संशय निवारै ॥

अहो! वह वाणी कैसी अलौकिक दिव्य होगी? अरे! अभी भरतक्षेत्र में भगवान का विरह पड़ गया है परन्तु वाणी रह गयी है। उस वाणी में कहते हैं कि प्रभु! तुझे अपने

द्रव्यस्वभाव का कभी विरह नहीं है, अन्दर ज्ञान-शान्ति और आनन्द का ध्रुवदल पड़ा है, उस एक को ही अचलरूप से अवलम्बन करने से प्राप्त होनेवाले निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही तू विहार कर; अन्यत्र विहार मत कर! निजस्वभाव के अवलम्बन के बिना लोक में अन्यत्र कहीं शान्ति नहीं मिल सकती है।

अरे भाई! तुझे कहाँ तक यूँ ही दुःख में रहना है? घर में एक-दो वर्ष से बीमारी का पलङ्ग हो, उसे कुछ ठीक हो तो दूसरा बीमार पड़ जाए, उसे कुछ ठीक हो तो तीसरा बीमार पड़ जाए - इस प्रकार घर में निरन्तर बीमारी चलती हो तो अकुलाकर चिल्लाता है कि रोग का पलङ्ग कभी खाली नहीं होता। इसी प्रकार अज्ञानी जीव ने अनन्त काल में एक समय के लिए भी दुःख का पलङ्ग खाली नहीं किया। अनादि से रागरूपी रोग के पलङ्ग में पड़कर परवशता से दुःख भोगता है। यहाँ करुणापूर्वक सन्त कहते हैं कि जाग रे नाथ जाग! एक बार तो जाग!! अन्दर चैतन्यस्वरूप भगवान है, उस एक का ही अवलम्बन ले। निमित्त के अर्थात् देव-गुरु-शास्त्र और राग के अवलम्बन में मत जा, क्योंकि पर के और राग के अवलम्बन से धर्म नहीं होगा, अपितु एक ध्रुव ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से ही धर्म होगा। अरे! विशेष क्या कहें? यह जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई है, उस पर्याय के अवलम्बन से भी नयी निर्मल पर्याय नहीं होगी। एक ध्रुवस्वभाव का ध्याने से ही धर्म होता है।

देखो, पुण्य के परिणाम होते हैं, वे परज्ञेयरूप उपाधिभाव हैं। धर्मी को पुण्यभाव आता अवश्य है परन्तु वह उपाधिभाव है; स्व-भाव नहीं है, समाधि नहीं है। जैसे, शरीर -मन-वाणी-इन्द्रियाँ आदि परज्ञेय हैं; इसी प्रकार शुभभाव का विकल्प ही परज्ञेय है और इसलिए वह उपाधिस्वरूप है। भाई! तू पर की ओर देखेगा तो तुझे चारों ओर से विकल्परूप उपाधि खड़ी होगी; समाधि नहीं होगी। भगवान कहते हैं कि तू मेरे सन्मुख भी देखेगा तो राग ही होगा, उपाधि होगी; धर्म नहीं होगा। यद्यपि ज्ञानियों को भी व्यवहार का शुभभाव आता है परन्तु है वह उपाधि। इसीलिए कहते हैं कि सर्व ओर से खेलते हुए परद्रव्यों में किञ्चित्मात्र भी विहार मत कर। शुद्धचैतन्य के अवलम्बन से प्रगट निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही विहार कर।

देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, भक्ति, विनय का भाव राग है, व्यवहार है। पञ्च महाव्रत पालन का परिणाम राग है, व्यवहार है। छह काय की रक्षा का भाव राग है, व्यवहार है। शास्त्र-पठन का भाव राग है, व्यवहार है। यह सब व्यवहार, ज्ञेयरूप उपाधि है; निज का भाव नहीं है, परद्रव्य है; उसमें किञ्चित्मात्र भी विहार मत कर। देखो! यह प्रभु का मार्ग है, इसमें शूरवीरों का ही काम है, यह कायर का काम नहीं है। कायर का कलेजा काँप उठे - ऐसा यह काम है। अहो! क्या अलौकिक गाथा! गाथा तो गाथा है। बारह अङ्ग का सार है! भगवान गणधरदेव ने आगम की रचना की है, उसका यह सार है। यह सुनकर भव्य जीवों को अपने संशय का निवारण करना चाहिए।

परमार्थरूप आत्मा के परिणाम दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य है, वही मोक्षमार्ग है। उसी में अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य में ही आत्मा को स्थापित करना चाहिए, उसी का ध्यान करना चाहिए, उसी का अनुभव करना चाहिए और उसी में विहार अर्थात् प्रवर्तन करना चाहिए; अन्य द्रव्यों में प्रवर्तन नहीं करना चाहिए। यहाँ परमार्थ से यही उपदेश है कि निश्चयमोक्षमार्ग का सेवन करना चाहिए; मात्र व्यवहार में ही मूढ़ नहीं रहना चाहिए। ●

[प्रवचनरत्नाकर, (गुज०) भाग-१०, पृष्ठ २४१-२५८ तक से साभार]

सज्यज्त्व के सन्मुख जीव

हे भगवान! जिसे आप प्राप्त हुए हैं, जिसे आपके प्रति भक्ति है, आपके द्वारा प्रतिपादित आत्मा की बात को जो रुचिपूर्वक सुनता है; वह जीव सम्यक्त्व के सन्मुख हुआ है, वह अल्पकाल में आत्मानुभव करेगा ही; अतः वह जीव भी कम बुद्धिवाला नहीं है। गृहीत मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा तो वह जीव भी बहुत आगे है। भले ही वर्तमान में उसे आत्मानुभव नहीं है, तथापि वह अनुभव की तैयारीवाला है; अतः वह जीव भी बहुत उत्कृष्ट है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-९७

वीतरागी सन्तों का सन्देश उन्होंने समयसार को नहीं जाना

दिगम्बरत्व के प्रबल प्रतिष्ठापक भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने जहाँ मुनिदशा में शरीर की नग्न दिगम्बरदशा को अनिवार्य प्रतिपादित किया है, वहीं मात्र शरीर की दिगम्बरदशा एवं पञ्च महाव्रतादि के पराश्रित शुभाचार को ही मोक्षमार्ग माननेवालों को सचेत करते हुए कहा है कि इस मान्यतावालों ने भगवान समयसार को नहीं जाना है।

आचार्यदेव के उक्त कथन के सन्दर्भ में समयसार गाथा ४१३ एवं उनकी टीका पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मङ्गल प्रवचन इस प्रकार हैं —

पासंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तिं तेहिं ण णादं समयसारं ॥

अर्थात् जो बहुत प्रकार के मुनिलिङ्गों में अथवा गृहस्थलिङ्गों में ममता करते हैं अर्थात् यह मानते हैं कि यह द्रव्यलिङ्ग ही मोक्ष का दाता है, उन्होंने समयसार को नहीं जाना है।

जो वास्तव में 'मैं श्रमण हूँ, मैं श्रमणोपासक अर्थात् श्रावक हूँ' इस प्रकार द्रव्यलिङ्ग में ममत्वभाव के द्वारा मिथ्या अहङ्कार करते हैं, वे अनादिरूढ़ अर्थात् अनादिकाल से समागत व्यवहार में मूढ़/मोही होते हुए....।

अहा! कोई नग्न-दिगम्बर मुनिलिङ्ग धारण करे, पञ्च महाव्रतादि क्रियाओं का पालन करे और उसके द्वारा द्रव्यलिङ्ग में ममत्व करके मिथ्या अहङ्कार करे कि मैं श्रमण

हूँ, मुनि हूँ तो यहाँ कहते हैं कि वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। बहुत कठोर बात है परन्तु यह हित की बात है प्रभु! तुझे पता नहीं, परन्तु वीतराग का मार्ग तो चैतन्य के वीतरागी परिणाम से उत्पन्न होता है; राग से उत्पन्न नहीं होता। पञ्च महाव्रतादि जैसे भगवान ने कहे हैं, वैसा निर्दोष पालन करे तो भी वह राग है; धर्म नहीं। उस राग द्वारा तू यह माने कि मैं मुनि-साधु हो गया हूँ परन्तु यह तेरा दुर्निवेश/मिथ्या मान्यता है।

इसी प्रकार कोई श्रावक का नाम धारण करके, बारह व्रतों का पालन करे; दया, दान, पूजा, भक्ति आदि में प्रवृत्ते और उसके द्वारा मिथ्या अहङ्कार करे कि मैं श्रावक हूँ तो उसे भी आत्मा का पता नहीं है, वह भी मूढ़ अज्ञानी ही है। देखो, आज कार्तिक पूर्णिमा है न! हजारों लोग शत्रुञ्जय की यात्रा जाएँगे। यदि वहाँ राग की मन्दता हो तो पुण्यबन्ध होगा; परन्तु धर्म नहीं होगा। उसमें धर्म मानना तो एकदम मूढ़ता है भाई! अरे, श्रावक किसे कहते हैं? जिसे स्व-पर का अन्तर/विवेक जागृत हुआ है और जो राग से पृथक् होकर स्वरूप में रमता है, उसे श्रावक कहते हैं। मुनिदशा तो इससे भी अधिक उत्कृष्ट प्रचुर आनन्द की दशा है।

भगवान आत्मा, अनाकुल आनन्दरस का/चैतन्यरस का कन्द प्रभु है। जो अन्तर्मुख होकर उसे जानता/अनुभव करता नहीं है और व्यवहार क्रियाकाण्ड में अपना हित मानता है, उसमें धर्म और मुनिपना-श्रावकपना मानता है, वह अनादि रूढ़ व्यवहार में मूढ़ है। शुभभाव का ऐसा व्यवहार तो अनादि से चला आ रहा है, अनन्त बार किया है। अहा! अभी नौवें ग्रैवेयक के स्वर्ग में जाने योग्य शुभभाव तो हैं नहीं, परन्तु ऐसे शुभभाव भी इसने अनन्त बार किये हैं, इसमें नया क्या है? शुभ-अशुभभाव तो निगोद का जीव भी निरन्तर करता है। यह लहसुन-प्याज होते हैं, इनके राई जितने टुकड़े में असंख्य औदारिक शरीर हैं और एक शरीर में अनन्त निगोदिया जीव हैं। सर्वज्ञ परमेश्वर ने अपने ज्ञान में यह सब देखा है, उन निगोद के जीवों को भी क्षण में शुभ और क्षण में अशुभभाव निरन्तर होते हैं।

अरे! अन्दर आनन्द का नाथ चैतन्य महाप्रभु विराजमान हैं, उसके पक्ष में न जाकर, राग के पक्ष में रूककर, जिसने चैतन्य का घात किया है, उसे पक्षघात का महारोग लागू पड़ा है। नियमसार कलश १२१ में कहा है कि जो मोक्ष का कथनमात्र कारण है, ऐसे

व्यवहाररत्नत्रय को भवसागर में डूबे हुए जीवों ने पूर्व में भव-भव में सुना है और आचरण किया है परन्तु अरे रे ! खेद है कि जो सर्वदा एक ज्ञान है, उसे जीव ने सुना नहीं है, उसका आचरण नहीं किया है। भाई ! स्वभाव के भान बिना, व्यवहार के क्रियाकाण्ड तो तूने अनन्तबार किये हैं परन्तु उससे क्या ? वह सब तो व्यर्थ ही है, उससे स्वरूप प्राप्ति नहीं होती।

प्रौढ़ विवेकवाले निश्चय (निश्चयनय) पर आरूढ़ न होते हुए, परमार्थसत्य अर्थात् जो परमार्थ से सत्यार्थ है, ऐसे भगवान समयसार को नहीं देखते-अनुभव नहीं करते।

पापपरिणाम तो दुर्गति का कारण है ही और पुण्य के परिणाम से स्वर्गादि प्राप्त हो, वह भी दुर्गति है क्योंकि उससे आत्मा का धर्म प्राप्त नहीं होता। शुभभाव को हितकर मानना तो मिथ्यात्व है, वह अनन्त संसार का मूल है। भाई ! मिथ्यात्व का अंश भी बुरा है। अज्ञानी जीव, अनादिरूढ़ व्यवहार में मूढ़ होकर प्रौढ़ विवेकयुक्त निश्चय पर अनारूढ़ वर्तते हैं। अहो ! राग की क्रिया से शुद्ध चैतन्यतत्त्व अन्दर भिन्न है, ऐसे प्रौढ़ विवेकवाले निश्चय पर अज्ञानी आरूढ़ नहीं होता। अहा ! राग के/व्यवहार के पक्ष में चढ़कर अज्ञानी चतुर्गति में परिभ्रमण करता है, उसे प्रौढ़ विवेकयुक्त निश्चय प्रगट नहीं होता। भाई ! यह सब अभी समझना पड़ेगा, वरना तो बड़ा करोड़पति सेठ हो, वह भी मरकर कहीं पशुगति में चला जाएगा।

क्या हो सकता है ? माँस-शराब इत्यादि का सेवन नहीं है; इसलिए नरक नहीं जाएगा तथा स्वाध्याय, दान, भक्ति आदि शुभभाव का भी ठिकाना नहीं है; इसलिए स्वर्ग अथवा मनुष्यगति में भी नहीं जाएगा। तात्पर्य यह है कि तीव्र लालसावाले जीव, अनेक प्रकार के मायाचार द्वारा मरकर तिर्यञ्चगति में-पशुगति में जाते हैं। चौबीस घण्टे खाने-कमाने में और इन्द्रियों के विषय में समय व्यतीत करनेवाले जीव, मिथ्याभाव का सेवन करते हुए वहीं चले जाते हैं। यहाँ कहते हैं कि अनादिरूढ़ व्यवहार में मूढ़, ऐसे जीव निजस्वभाव में अनारूढ़ वर्तते हुए, परमार्थ सत्य भगवान समयसार को नहीं देखते, नहीं अनुभव करते; इसलिए वे चार गतियों में ही परिभ्रमण करते हैं।

अरे भाई ! शुक्ललेश्या तक के शुभभाव तो अभव्य को भी होते हैं परन्तु उनसे सहित वह दुःखी ही है । अनादि से अज्ञानी जीवों को यह हठ है कि इन दया, दान, व्रत, भक्ति आदि व्यवहार के भावों से मुक्ति होगी । वह व्यवहार के राग के पक्ष में आरूढ़ है; राग में आरूढ़ हुआ वह निज चैतन्यपद पर अनारूढ़ है । अहा ! ऐसे व्यवहार विमूढ़ जीव, परमार्थ सत्य भगवान समयसार को नहीं देखते-अनुभव नहीं करते ।

प्रश्न - धर्मी श्रावक और मुनि को व्रतादि का शुभभाव तो होता है ?

उत्तर - धर्मी को भी जब तक वह पूर्णरूप से स्वभाव पर आरूढ़ न हो, वहाँ तक यथासम्भव व्रतादि का शुभराग होता है परन्तु उसे वे सत्यार्थ मोक्षमार्ग नहीं जानते, वह भाव आदरणीय है - ऐसा नहीं मानते । भाई ! जो शुभभाव आता है, उसे तू व्यवहाररूप से मात्र जान, परन्तु उससे अपना कल्याण होता है - ऐसा मानना छोड़ दे ।

व्यवहार, मोक्षमार्ग है - ऐसा व्यवहार से स्थापित किया गया है परन्तु वह सच्चा मोक्षमार्ग कहाँ है ? वास्तव में तो वह राग ही होने से बन्धन के कारणरूप है । साधकदशा में वह शुभभाव आता है, उसे जानना चाहिए, परन्तु उससे जीव का कल्याण होता है - ऐसा मानना छोड़ देना चाहिए । अज्ञानी तो दया, दान, व्रत आदि के शुभभाव को ही अपना सर्वस्व मानकर उसमें मूढ़ हो गया है । अहा ! प्रौढ़ विवेक को प्राप्त नहीं होने योग्य शुद्ध निश्चय निज चैतन्यपद पर वह अनारूढ़ वर्तता हुआ, निज समयसार को प्राप्त नहीं होता-अनुभव नहीं करता ।

समकृति को व्यवहार होता अवश्य है परन्तु उसमें वह आरूढ़ नहीं है; वह तो एक शुद्ध निज चैतन्यपद पर आरूढ़ है । व्यवहार है - ऐसा बस धर्मी उसका जानने-देखनेवाला है, उससे मेरा भला होगा, इस प्रकार वह व्यवहार में मोहित/मूढ़ नहीं है । भाई ! धर्मी को शुभभाव आता है, इतनी मर्यादा है परन्तु वह कोई उसके कल्याण का कारण नहीं है ।

अहो ! केवली के आढृतिया वीतरागी सन्तों ने यह माल जगत् के समक्ष जाहिर किया है । भाई ! तेरा चैतन्यपद ज्ञान और आनन्द के स्वभाव से पूर्ण भरा हुआ है, उस पर आरूढ़ हो तो तुझे निराकुल आनन्द की प्राप्ति होगी । जो निज चैतन्यपद पर अनारूढ़ वर्तते हुए, व्यवहार में मूढ़ होकर प्रवर्तते हैं, वे चार गति के परिभ्रमण के कारण में/मार्ग में पड़े

हुए हैं। प्रवचनसार में कहा है कि शुभ और अशुभ में दोनों में कुछ अन्तर नहीं है - ऐसा जो नहीं मानते, वे मोह से मूर्च्छित होते हुए घोर अपार संसार सागर में डूबे हुए हैं। भाई! शुभ-अशुभ दोनों ही जगपन्थ हैं।

प्रश्न - परन्तु हम निवृत्ति लेकर ब्रह्मचर्य से रहें तो ?

उत्तर - ब्रह्मचर्य किसे कहते हैं बापू! ब्रह्म अर्थात् आत्मा, शुद्ध चिदानन्द चैतन्य चिन्तामणि प्रभु में चर्य अर्थात् चरना; शुद्ध चैतन्य में चरण का नाम ब्रह्मचर्य है। शरीर से ब्रह्मचर्य पालन का विकल्प तो शुभभाव है, उससे पुण्य बँधता है; धर्म नहीं होता। उससे धर्म होना मानना तो मिथ्यात्व का महापाप है। अरे! ऐसे मिथ्यात्व को सेवन करके तो तू परिभ्रमण कर रहा है।

अरे! अनेक प्रकार की सांसारिक चिन्ताओं से, कुटुम्ब परिवार आदि से निवृत्त हुआ तो शुभभाव और शुभभाव के निमित्तों में चिपट गया, इनसे ही मेरा कल्याण होगा - ऐसा मानने लगा, परन्तु भाई रे! मोक्षपाहुड़ में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव फरमाते हैं कि **पर दव्वावो दुग्गई** अर्थात् परमानन्दमय निज चैतन्यमय प्रभु है, उसे छोड़कर जितना परद्रव्य - कुटुम्ब परिवार अथवा देव-गुरु-शास्त्र के प्रति लक्ष्य जाता है, वह समस्त राग, दुर्गति है; वह आत्मा की/चैतन्य की गति नहीं है। शुभभाव से स्वर्गगति प्राप्त होती है परन्तु वह दुर्गति है। जिससे गति मिले, वह भाव, दुर्गति है और वह गति, दुर्गति है। अहाहा! भगवान कहते हैं कि हम तेरे लिये परद्रव्य हैं, हमारे लक्ष्य से तुझे राग होगा। स्वरूप में रमना छोड़कर, तू हमारा लक्ष्य करता है, वह दुर्गति है।

यह नग्नदशा, पञ्च महाव्रत का पालन, अट्टाईस मूलगुण की क्रिया - ये सभी शुभभाव हैं, इसमें कोई माने कि यह मेरा धर्म है और यह मेरा मुनिपना है तो उससे सन्त कहते हैं कि प्रभु! तू एक बार सुन बापू! तू दूसरे/उल्टे रास्ते चढ़ गया है, मोक्षमार्ग का/आत्मा के हित का यह मार्ग नहीं है।

इस प्रकार यहाँ तीन बोल कहे - अनादिरूढ़, व्यवहारमूढ़ और निश्चयस्वभाव में अनारूढ़। अहो! इस गाथा में तो अकेला मक्खन भरा है। किसी भाग्यवन्त को ही प्राप्त होगा। कहा है न कि -

गगनमण्डप मां गौव्वा विहानी, वसुधा दूध जमाया ।
माखन था सो तो विरला ने पाया, जगत् छाछ भरमाया ॥

अहा ! अन्तरिक्ष में भगवान विराजते हैं । वहाँ से ओम्ध्वनि का प्रवाह छूटा, भव्यों के कान पर वाणी पड़ी, उस वाणी में से चैतन्यतत्त्वरूप माखन निकला, वह तो किसी विरले भाग्यवन्त को प्राप्त हुआ और जगत् तो व्यवहार की छाछ में ही भरमा गया, प्रसन्न-प्रसन्न हो गया । भाई ! महाव्रतादि के परिणाम छाछ अर्थात् कुछ नहीं है । तूझे पता नहीं है परन्तु इस राग से आत्मप्राप्ति नहीं होती - ऐसा मार्ग है प्रभु । तू शत्रुञ्जय और सम्मेदशिखर की यात्रा करके मान लेता है कि मुझे धर्म हुआ, परन्तु सुन तो सही; इसमें धूल भी धर्म नहीं होता । धर्म तो कोई अलग अन्तर की अलौकिक वस्तु है बापू !

प्रश्न - पूजा में तो ऐसा आता है कि एक बार वन्दे जो कोई, ताको नरक-पशुगति नहीं होई... ?

उत्तर - भई ! यदि यात्रा में विशेष भक्ति का शुभभाव हो तो कदाचित् स्वर्ग जाए, परन्तु आत्मदर्शन के बिना वहाँ से निकलकर कहाँ जाएगा ? क्रम-क्रम से नरक, तिर्यञ्च में जाएगा । यहाँ तो भव के अभाव की बात है और उस शुभभाव में भव का अभाव करने की सामर्थ्य नहीं है । स्व-स्वरूप का अनुभव किये बिना, शुभाशुभभाव हुआ ही करेंगे और उससे चौरासी के परिभ्रमण फलित होंगे - ऐसी बात है ।

अहो ! सन्तों को अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्दरस का प्याला फट पड़ा है ! वे कहते हैं कि अतीन्द्रियरस के वेदन/संवेदन बिना मात्र क्रियाकाण्ड और बाह्यवेश से कोई मान ले कि मैं श्रमण या श्रावक हूँ तो वह मिथ्या है । व्यवहार विमूढ़ और निश्चय पर अनारूढ़ वह जीव, परमार्थ पद को प्राप्त नहीं करता, अनुभव नहीं करता ।

अहो ! यह समयसार शास्त्र संवत् १९७८ में हमारे हाथ में आया, तभी से लगा कि मार्ग दूसरा है । यह क्रियाकाण्ड और वेश कोई मार्ग नहीं है; राग से भिन्न निज चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव करना ही मोक्ष का उपाय और धर्म है । शुभभाव छोड़कर पाप में प्रवर्तन करना - ऐसी बात तो यहाँ है ही नहीं, परन्तु शुभभाव, मोक्ष का उपाय नहीं है - ऐसा जानकर उसका लक्ष्य छोड़कर, अन्तरस्वभाव में दृष्टि करना और वहीं लीन होकर प्रवर्तन करना - बस, यही उपाय है ।

अनादिकालीन परद्रव्य के संयोग से होनेवाले व्यवहार में ही जो पुरुष, मूढ़ अर्थात् मोहित हैं, वे यह मानते हैं कि 'यह बाह्य महाव्रतादिरूप वेश ही हमें मोक्ष प्राप्त करा देगा', परन्तु जिससे भेदज्ञान होता है, ऐसे निश्चय को वे नहीं जानते। ऐसे पुरुष सत्यार्थ, परमात्मरूप, शुद्धज्ञानमय समयसार को नहीं देखते।

भगवान् आत्मा, त्रिकाल शुद्ध एक ज्ञायकस्वरूप है; यह बाह्य व्रतादि का वेश उसका स्वरूप नहीं है। यह सब तो परद्रव्य के संयोग से उत्पन्न हुए भाव हैं। यह पञ्च महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दया, दान, भक्ति, पूजा इत्यादि के भाव - ये सभी परद्रव्य के संयोग से उत्पन्न हुए संयोगीभाव हैं। यह परद्रव्य के संयोग से उत्पन्न हुआ जो व्यवहार है, उसी में जो पुरुष मूढ़ हैं, मोहित हैं, वे मानते हैं कि यह बाह्य व्रतादिक वेश ही हमको मोक्ष प्राप्त करायेगा, परन्तु वह यथार्थ नहीं है क्योंकि वह भाव अबन्ध नहीं; बन्धरूप है, दुःखरूप है तथा वे भाव चैतन्यमय नहीं हैं किन्तु अचेतन हैं। जिनसे भेदज्ञान होता है - ऐसे निश्चय को वे नहीं जानते; इसलिए व्यवहार विमूढ़ ऐसे पुरुष शुद्धज्ञानमय भगवान् समयसार को नहीं देखते-नहीं अनुभव करते।

अहो! अन्दर वस्तु तो स्वयं एक ज्ञायक चैतन्य के आनन्द का पूर प्रभु है। अहा! ऐसी निज वस्तु की अन्तरदृष्टि द्वारा उसके आश्रय से जो प्रचुर आनन्द की दशा प्रगट होती है, वह मोक्षमार्ग है और पूर्ण आनन्द की दशा प्रगट होना मोक्ष है। अरे! इसने अन्दर में नजर नहीं की और परद्रव्य के आश्रय से ही परिणमित हुआ करता है। वहाँ अव्रत के परिणाम हों, वे पाप हैं और व्रत के परिणाम हों, वे पुण्य हैं। वहाँ पुण्यभाव में मोहित/मूर्च्छित होकर, इससे मेरा मोक्ष होगा - ऐसा यह मानता है किन्तु भेदाभ्यास करके जिससे भेदज्ञान हो, ऐसे निश्चय को नहीं जानता। शुभभाव के मोहपाश से बँधे हुए इसने निश्चय वस्तु को जानने की दरकार नहीं की; इस कारण बहिरात्मदृष्टि ऐसा यह जीव, सत्यार्थ स्वरूप निज समयसार को प्राप्त नहीं करता, अनुभव नहीं करता।

अहा! राग की/आस्रव की क्रियाएँ तो जीव अनादिकाल से करता आया है। अव्रत के पापभाव भी अनादि से किये हैं और व्रत के पुण्यभाव भी अनादि से अनन्त बार किये हैं, उसमें नया क्या है? वे पुण्य-पाप के विकारी संयोगीभाव बन्धपद्धति है, मोक्षपद्धति

नहीं; इसलिए तो अनन्त बार शुभभाव करने पर भी चतुर्गति का परिभ्रमण खड़ा है; इसलिए तो अनन्त काल से तू चौरासी के अवतार में परिभ्रमण कर रहा है। भाई! यह व्यवहार का शुभभाव मुझे मोक्ष की प्राप्ति करायेगा - ऐसा तू मानता है परन्तु तेरी यह मान्यता समीचीन नहीं है, इस मान्यता ने ही तुझे परिभ्रमण कराया है; इसलिए यदि तुझे मोक्ष की इच्छा है तो अन्तर्मुख दृष्टि करके भेदज्ञान कर! अन्तर्मुख दृष्टि द्वारा ही भेदज्ञान होता है, भेदज्ञान द्वारा ही अन्दर शुद्धनिश्चय वस्तु स्वयं है, उसका अनुभव होता है, इसी का नाम धर्म है और इसी का नाम मोक्ष का उपाय है।

अनादिकाल के भव भ्रमण मिटाने का यह एक ही उपाय है; इसके अतिरिक्त शुभभाव की क्रियाओं में धर्म माननेवाले व्यवहार में विमोहित पुरुष, अनेक प्रकार के क्रियाकाण्ड का आचरण करने पर भी शुद्धज्ञानमय निज समयसार को नहीं देखते-अनुभव नहीं करते - ऐसी स्पष्ट बात है। ●

(- प्रवचनरत्नाकर, गुजराती, भाग-१०, पृष्ठ २७१ से २७६)



मुनिराज की परिणति में वैराग्य का ज्वार

जैसे पूर्णमासी के दिन पूर्णचन्द्र के योग से समुद्र में ज्वार आता है; उसी प्रकार मुनिराज को पूर्ण चैतन्यचन्द्र के एकाग्र अवलोकन से आत्मसमुद्र में ज्वार आता है; वैराग्य का ज्वार आता है, आनन्द का ज्वार आता है, सर्व गुण-पर्याय का यथासम्भव ज्वार आता है। यह ज्वार बाहर से नहीं, भीतर से आता है। पूर्ण चैतन्यचन्द्र को स्थिरतापूर्वक निहारने पर अन्दर से चेतना उछलती है, चारित्र उछलता है, सुख उछलता है, वीर्य उछलता है; सब कुछ उछलता है। धन्य है वह मुनिदशा। — जिणसासणं सव्वं, ४०३, पृष्ठ ११३

दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग

दिगम्बरत्व के प्रबल प्रतिष्ठापक भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने जहाँ मुनिदशा में शरीर की नग्न दिगम्बरदशा को अनिवार्य प्रतिपादित किया है, वहीं मात्र शरीर की दिगम्बरदशा एवं पञ्च महाव्रतादि के पराश्रित शुभाचार को ही मोक्षमार्ग माननेवालों को सचेत भी किया है।

आचार्यदेव के उक्त कथन के सन्दर्भ में समयसार कलश २३८ एवं गाथा ४०८ से ४१० व उनकी टीका पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मङ्गल प्रवचन इस प्रकार हैं —

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिंगं मोक्षकारणम् ॥ २३८ ॥

पासंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घेत्तुं वदन्ति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति ॥ ४०८ ॥
ण दु होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेवन्ति ॥ ४०९ ॥
ण वि एस मोक्खमग्गो पासंडीगिहिमयाणि लिंगाणि।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा बेंति ॥ ४१० ॥

अर्थात् इस प्रकार शुद्धज्ञान के देह ही नहीं है; इसलिए ज्ञाता को देहमय चिह्न मोक्ष का कारण नहीं है ॥ २३८ ॥

गाथार्थ - बहुत प्रकार के मुनिलिङ्गों को अथवा गृहीलिङ्गों को ग्रहण करके मूढजन (अज्ञानीजन) यह कहते हैं कि यह (बाह्य) लिङ्ग, मोक्षमार्ग है।

परन्तु लिङ्ग मोक्षमार्ग नहीं है क्योंकि अरहन्तदेव, देह के प्रति निर्मम वर्तते हुए लिङ्ग को छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही सेवन करते हैं।

मुनियों और गृहस्थ के लिङ्ग (चिह्न), यह मोक्षमार्ग नहीं है; दर्शन-ज्ञान-चारित्र को जिनदेव मोक्षमार्ग कहते हैं।

शुद्धज्ञान अर्थात् भगवान आत्मा को देह ही नहीं है। देह नहीं हैं; इसलिए देहमय लिङ्ग-नग्नदशा का वेष, मोक्ष का कारण नहीं है। देह है, वह तो बाह्य वस्तु है; वह मोक्ष का कारण कैसे होगी? मुनिराज को बाह्य में देह की नग्नदशा और पञ्च महाव्रतादि का विकल्प होता है परन्तु वह मोक्ष का कारण नहीं है।

आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु अनन्त शक्ति का संग्रह/स्थान है। अनन्त शक्तियों का सागर प्रभु आत्मा है। यह अमाप... अमाप... अमाप... ऐसा अनन्त प्रदेशी आकाश है, उसके अनन्त प्रदेशों से अनन्तगुने आत्मा में गुण हैं। जिसकी एक समय की पूर्ण ज्ञान की दशा-केवलज्ञान की दशा, विश्व के छह द्रव्य, उनके अनन्त गुण और उनकी तीन काल की अनन्त पर्यायें, इन सर्व को युगपत् एक समय में स्पर्श किये बिना ही जान लेती है - ऐसा बेहद ज्ञानस्व भावी प्रभु आत्मा है। यह शास्त्रज्ञान हो, वह ज्ञान - ऐसा नहीं है, वास्तव में तो द्रव्यस्वभाव को स्पर्शकर अर्थात् उसके सन्मुख होकर प्रगट होनेवाला ज्ञान ही ज्ञान है - ऐसे अचिन्त्य बेहद ज्ञानानन्दस्वभावी प्रभु आत्मा को देह ही नहीं है।

प्रश्न - आत्मा को देह ही नहीं है, यह तो एकान्त हो गया।

उत्तर - हो गया तो हो गया। यह सम्यक् एकान्त है क्योंकि आत्मा को देह है ही नहीं, देह आत्मा की वस्तु है ही नहीं।

देह की प्रति समय की अवस्था होती है, वह जड़ की जड़ में होती है; वह अवस्था आत्मा की नहीं है, आत्मा में नहीं है, आत्मा से नहीं है। देह की अवस्था में आत्मा नहीं है और आत्मा की अवस्था में देह की अवस्था नहीं है; इसलिए कहते हैं कि ज्ञाता को/

भगवान आत्मा को, देहमय लिङ्ग मोक्ष का कारण नहीं है। आत्मा, स्व को जानते हुए अनन्त परद्रव्यों को जाने - ऐसा स्व-परप्रकाशक ज्ञाता प्रभु है परन्तु जिसे अन्दर में स्व-स्वरूप का ज्ञान नहीं हुआ, उसे देहादि पर का भी यथार्थ ज्ञान नहीं है। जिसे निजस्वरूपग्राही ज्ञान अन्दर में प्रगट हुआ है, उसे ही स्व-परप्रकाशक यथार्थ ज्ञान होता है। वह यथार्थ जानता है कि देहमय लिङ्ग मोक्ष का कारण नहीं है।

आत्मा, ज्ञातादृष्टा प्रभु है। जिसे उसका अन्दर में भान हुआ है, उसे निजस्वरूपग्राही ज्ञान प्रगट हुआ है। उसे देहादि परपदार्थों का भी सत्यार्थ ज्ञान हुआ है। जिसे स्वरूप की अन्तरदृष्टि और स्वानुभव की दशा प्रगट हुई है, उसे देहमय लिङ्ग मोक्ष का कारण नहीं है - ऐसा सच्चा ज्ञान होता है। अहो ! मुनिराज को बाह्य में द्रव्यलिङ्ग होता नहीं - ऐसा नहीं है; होता तो अवश्य है परन्तु वह मोक्ष का कारण नहीं है - ऐसा सत्यार्थ ज्ञान उसे होता है। भाई ! व्रतादि के विकल्प भी देहमयी लिङ्ग ही हैं और मुनिराज-भावलिङ्गी सन्त उन्हें मोक्ष का कारण नहीं जानते-नहीं मानते।

लोक में तो ऐसा मानते हैं कि भगवान की भक्ति करते-करते, गुरु की भक्ति करते-करते कल्याण हो जाएगा। बापू ! यह तो मिथ्यात्व की महा शल्य है। यहाँ तो यह कहना है कि जीव अपने स्वरूप को जाने, तब उसे देहादि पदार्थों का और राग का सच्चा ज्ञान होता है। जिस सत्ता में जानने का कार्य होता है, उसे जाननेवाले को ही पर का यथार्थ ज्ञान होता है और उसे व्यवहार कहा जाता है। वह ज्ञानी पुरुष, देहमय लिङ्ग को-द्रव्यलिङ्ग को मोक्ष का कारण नहीं जानते। बाह्य लिङ्ग द्वारा अपना कल्याण होना नहीं मानते।

कितने ही लोग अज्ञान से द्रव्यलिङ्ग को मोक्षमार्ग मानते हुए मोह से द्रव्यलिङ्ग ही ग्रहण करते हैं। यह (द्रव्यलिङ्ग को मोक्षमार्ग मानकर ग्रहण करना, सो) अनुपपन्न अर्थात् अयुक्त है।

देखो, नग्नदशा और पञ्च महाव्रत के परिणाम, वह द्रव्यलिङ्ग है। अज्ञान से जीव उन्हें मोक्षमार्ग मानकर, मोह से द्रव्यलिङ्ग को ही ग्रहण करता है। 'ग्रहण करता है' - ऐसा कहा है न! तो आत्मा, द्रव्यलिङ्ग को ग्रहण कर सकता है, यह सिद्ध नहीं करना है। तो क्यों कहा ? नग्नदशा जीव ग्रहण नहीं कर सकता, परन्तु अज्ञानी ग्रहण करना मानता है, इस

अपेक्षा से नाममात्र कहा है। पर को ग्रहण करता है और छोड़ता है, ऐसा कहना तो व्यवहार कथन है। समझाना है न! तो अन्य किस प्रकार कहें? यह बात तो गाथा ३४ की टीका में भी आ गयी है कि आत्मा को राग के त्याग का कर्तापना नाममात्र है। परमार्थ से आत्मा, राग का कर्ता नहीं है, राग के त्याग का कर्ता भी आत्मा नहीं है। राग का त्याग करना, वास्तव में आत्मा में लागू ही नहीं होता। भाई! जहाँ जो नय विवक्षा हो, उसे यथार्थ समझना चाहिए। यहाँ कहते हैं कि द्रव्यलिङ्ग को मोक्षमार्ग मानकर उसे ग्रहण करना अयुक्त है। क्यों अयुक्त है? तो कहते हैं कि -

क्योंकि सभी भगवान अरहन्तदेवों के शुद्धज्ञानमयता होने से द्रव्यलिङ्ग के आश्रयभूत शरीर के ममत्व का त्याग होता है; इसलिए शरीराश्रित द्रव्यलिङ्ग के त्याग से दर्शन-ज्ञान-चारित्र की मोक्षमार्गरूप से उपासना देखी जाती है (अर्थात् वे शरीराश्रित द्रव्यलिङ्ग का त्याग करके, दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग के रूप में सेवन करते हुए देखे जाते हैं।)

कहते हैं कि समस्त भगवान अरहन्तदेवों को शुद्धज्ञानमयपना है। भगवान आत्मा तो सदा शुद्धज्ञानमय ज्ञातादृष्टा प्रभु है, उसके आश्रय से उत्पन्न आत्मा की निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय परिणति, वह मोक्षमार्ग है। यहाँ कहते हैं कि समस्त भगवान अरहन्तदेवों के द्रव्यलिङ्ग के आश्रयभूत शरीर के ममत्व का त्याग है और इसीलिए शरीर आश्रित द्रव्यलिङ्ग के त्याग द्वारा उनके शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र की मोक्षमार्गरूप से उपासना देखने में आती है।

देखो! शरीर की क्रिया और राग की क्रिया का त्याग/अभाव करके दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उपासना करना, वह जिनमार्ग है, मोक्षमार्ग है। समस्त भगवान अरहन्तदेवों ने इस मोक्षमार्ग की उपासना करके मोक्षपद प्राप्त किया है। भाई! द्रव्यलिङ्ग हो, परन्तु वह मोक्षमार्गरूप नहीं है। कठोर बात है बापू! कायरों के कलेजे काँप उठें, ऐसी बात है परन्तु यह सत्य बात है। अरे! लोगों ने बाहर की तपस्या और बाह्य त्याग में अर्थात् द्रव्यलिङ्ग में धर्म मान लिया है परन्तु भाई! यह मार्ग नहीं है, जिनमार्ग नहीं है। स्व-स्वरूप में उग्र रमणता करने का नाम चारित्र है, वही धर्म है, तप है। भगवान ने ऐसी तपश्चर्या करके मोक्ष की साधना की है।

यहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उपासना करना कही, वह तो निर्मल रत्नत्रय के परिणाम को प्राप्त करने की अपेक्षा बात है। वरना सेवा, उपासना तो शुद्ध ज्ञानमय त्रिकाल द्रव्य की ही करना है। त्रिकाली शुद्ध निज ज्ञायकस्वरूप की दृष्टिपूर्वक उसमें ही रमणता करने से निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वीतरागीदशा प्रगट होती है और उसे रत्नत्रय की सेवा/उपासना कहते हैं। कहीं पर्याय की दृष्टि और उपासना करना है - ऐसा अर्थ नहीं है।

पर्याय का सेवन करते हुए देखने में आते हैं - ऐसा क्यों कहा ? इसलिए कि नग्नदशा और राग की सेवा का अभाव है तो निर्मल रत्नत्रय का सेवन करते हैं - ऐसा कहा है। वरना सेवा तो त्रिकाली द्रव्य की ही है। ध्यान का ध्येय तो शुद्ध ज्ञायक ही है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा, वह ध्यान की पर्याय है और ध्यान का ध्येय, त्रिकाली शुद्धद्रव्य है। ध्यान की पर्याय का ध्येय द्रव्य ही होने से, राग ध्येय नहीं होने से, ध्यान की पर्याय का सेवन करते हैं - ऐसा यहाँ कहा है।

वस्तुतः तो नग्नता और राग के त्याग का कर्तापन ही आत्मा को नहीं है। इसे तो स्व-स्वरूप में दृष्टि-रमणता है। स्व-स्वरूप में दृष्टि-रमणता करने से शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रगट होती है। उसे वे सेवन करते हैं - ऐसा यहाँ कहा है और तब द्रव्यलिङ्ग का त्याग तो सहज ही है। इस बात को 'वे शरीराश्रित द्रव्यलिङ्ग का त्याग करके दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्गरूप से सेवन करते देखने में आते हैं' - इन शब्दों में कहा है।

यदि देहमय द्रव्यलिङ्ग मोक्ष का कारण होता तो अरहन्तदेव आदि देह का ममत्व छोड़कर, दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन क्यों करते ?; द्रव्यलिङ्ग से ही मोक्ष प्राप्त कर लेते। इससे यह निश्चय हुआ कि देहमय लिङ्ग मोक्षमार्ग नहीं है, परमार्थतः दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है।

यह शरीर की नग्नदशा पाँच महाव्रत और अट्टाईस मूलगुण को धारण करना - ऐसा जो द्रव्यलिङ्ग है, वह यदि मोक्ष का कारण होता तो अरहन्त भगवन और मुनिवर, देह और शुभराग का ममत्व त्यागकर, दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन किसलिए करते हैं। यदि द्रव्यलिङ्ग से ही मुक्ति होती हो तो वे दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन क्यों करते ? यह

अट्टाईस मूलगुणों का बाह्य व्यवहार वास्तविक मुनिपना नहीं है। भाई! वह तो भावलिङ्गी सन्त मुनिवरो को सहचररूप होता है, निमित्तरूप होता है; इसलिए उसे द्रव्यलिङ्ग कहा है। देखो! द्रव्यलिङ्ग नहीं है, ऐसा भी नहीं है और द्रव्यलिङ्ग सत्यार्थ मोक्षमार्ग है, ऐसा भी नहीं है। भाई! मार्ग जैसा है, वैसा यथार्थ जानना चाहिए। कोई वस्त्रादि रखे, वह तो भावलिङ्ग भी नहीं है और द्रव्यलिङ्ग भी नहीं है; वह तो कुलिङ्ग है। छहढाला में आता है न कि 'धारें कुलिङ्ग लहे महत भाव, ते कुगुरु जन्म-जल-उपलनाव' - ऐसी बात है।

प्रश्न - किन्तु हम तो अपने बाप-दादा करते थे, वही कर रहे हैं ?

उत्तर - ऐसा नहीं होता भाई! यहाँ मोक्षमार्ग में बाप-दादा का अर्थात् कुलपद्धति का क्या काम है? बाप-दादा माने, वैसा ही मानना और करना, यह मार्ग नहीं है।

जिसे अन्तर में निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय भावलिङ्ग प्रगट हुआ है, उसे बाह्य में अट्टाईस मूलगुण के विकल्परूप द्रव्यलिङ्ग होता है परन्तु यह सब तो राग है। भाई! मुनिराज तो इस राग को छेद करके परममुक्ति पद को प्राप्त होते हैं। भाई! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है।

अरे! इसने निजशुद्ध चेतन की भावना भाकर, कभी सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं किया। भजन में आता है न -

**शुद्ध बुद्ध सुखकन्द मनोहर, चेतनभाव न भाये,
हम तो कबहूँ न निज घर आये।**

अरे! इसने कभी निजघर में/चैतन्यघर में प्रवेश नहीं किया। शास्त्र अध्ययन करे और कुछ शास्त्रज्ञान हो जाए तो वहाँ मान लेता है कि मुझे ज्ञान प्रगट हुआ है परन्तु यह तो शब्दज्ञान, शब्दश्रुत है। बापू! यह कहाँ आत्मज्ञान है! वीतराग परमेश्वर की वाणी जो जिनवाणी, उसके निमित्त से उत्पन्न हुआ ज्ञान, शब्दश्रुत है, इस ज्ञान को शब्द का आश्रय है न! शब्द के आश्रय से होनेवाले ज्ञान को शब्दश्रुत कहा है। यह तो वीतराग की वाणी की बात है, बाकी श्वेताम्बरादि के शास्त्र तो कल्पित हैं, वह तो कुश्रुत है। यह तो भगवान् जिनेश्वरदेव के कहे हुए शास्त्रों का ज्ञान होता है, वह शब्दश्रुत है, द्रव्यश्रुत है, वह

सम्यग्ज्ञान-आत्मज्ञान नहीं है। अहाहा... ! जिनशास्त्रों का अध्ययन वह ज्ञान; नव तत्त्वों का भेदरूप श्रद्धान, वह दर्शन और छह जीविकाय की दया के पालन का भाव, वह चारित्र है। यह सब व्यवहार द्रव्यलिङ्ग है और वह द्रव्यलिङ्ग मोक्ष का कारण नहीं है - ऐसा यहाँ कहते हैं।

यदि द्रव्यलिङ्ग, मोक्ष का कारण होता तो मुनिवर उसका त्याग किसलिए करते? उसका ममत्व छोड़कर किसलिए दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करते? द्रव्यलिङ्ग से ही मोक्ष प्राप्त कर लेते, परन्तु ऐसा नहीं है भाई! इसलिए निश्चित हुआ कि देहमय लिङ्ग मोक्षमार्ग नहीं है। परमार्थ से दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है।

अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति, पूर्ण आनन्द की प्राप्ति होना, मोक्ष है। नास्ति से कहें तो दुःख का सर्वथा अभाव होना, दुःख से सर्वथा छूटना, वह मोक्ष है। राग का अंश भी आत्मा की शान्ति को, आनन्द को रोकनेवाला है; इसलिए मुनिवर, देह और राग का ममत्व त्यागकर, एक दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही सेवन करते हैं। यहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करते हैं - ऐसा कहा, वह पर्याय से-व्यवहार से बात है। निश्चय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र - यह तीन पर्यायभेद हैं परन्तु निश्चय से यह तीनों एक आत्मा ही है; इसलिए एक आत्मा का ही सेवन है। यह बात इसी ग्रन्थ की सोलहवीं गाथा में आ चुकी है। वहाँ कलश उन्नीस के भावार्थ में स्पष्ट किया है कि व्यवहारी लोग पर्याय से-भेद से समझते हैं; इसलिए यहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद से समझाया है।

स्व-स्वरूप के आश्रय से उत्पन्न हुए निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र, ये तीनों पर्यायें हैं और वह व्यवहार है। नव तत्त्व की भेदरूप श्रद्धा, शब्दश्रुत का ज्ञान और पञ्च महाव्रत का पालन तो असद्भूत व्यवहार है; निर्मल रत्नत्रय सद्भूत व्यवहार है और उसका आश्रयभूत भगवान् आत्मा शुद्ध एक ज्ञायक प्रभु, निश्चय है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन कहना व्यवहार है, निश्चय से तो एक आत्मा का ही सेवन है। भाई! वस्तुस्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है।

परमार्थ से दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है। भेद को छोड़कर, जिसकी अपरम्पार महिमा है - ऐसे चैतन्य चिन्तामणि आत्मा के आश्रय से प्रगट निर्मल रत्नत्रय ही सत्यार्थ मोक्षमार्ग है; बाह्य द्रव्यलिङ्ग मोक्षमार्ग नहीं है।

अब, यह सिद्ध करते हैं कि द्रव्यलिङ्ग मोक्षमार्ग नहीं है; दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है।

द्रव्यलिङ्ग, वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है क्योंकि वह (द्रव्यलिङ्ग) शरीराश्रित होने से परद्रव्य है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है क्योंकि वे आत्माश्रित होने से स्वद्रव्य है।

देखो! श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव सन्त, महन्त, महामुनिवर, जिनभगवन्तों की साक्षी देकर यह कहते हैं कि द्रव्यलिङ्ग वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है। क्यों? क्योंकि वह शरीराश्रित है, पराश्रित है और इसलिए परद्रव्य है। अहा! राग-मन्दकषाय होती है, वह भी शरीराश्रित-कर्मआश्रित भाव है; इसलिए वह परद्रव्य है। भाई! यह शास्त्र का पर सत्तावलम्बी ज्ञान है, वह परद्रव्य है, बन्ध का कारण है; वह कहीं आत्माश्रित परिणाम नहीं है।

भगवान आत्मा, निर्मालानन्द ज्ञानानन्द प्रभु अनन्त गुणों का दल अर्थात् पिण्ड है। प्रभु आत्मा अकेला ज्ञान और आनन्द का दल है। यहाँ कहते हैं कि द्रव्यलिङ्ग है, वह आत्माश्रित नहीं है; शरीराश्रित है और इसीलिए परद्रव्य है। यह व्यवहार की रागवृत्ति उत्पन्न होती है, वह पराश्रित होने से परद्रव्य है।

प्रश्न - हम यह सुनते हैं, वह क्या है ?

उत्तर - शास्त्र सुनने का जो परिणाम है, वह पराश्रित परिणाम है और इसीलिए परद्रव्य है तथा सुनकर जो शब्दज्ञान होता है, वह है तो ज्ञान की पर्याय, वह शब्दजनित नहीं होने पर भी शब्दाश्रित ही है; इसीलिए परद्रव्य है। वह आत्मा का वास्तविक ज्ञान नहीं है। बहुत सूक्ष्म बात है भाई! पञ्च महाव्रत के परिणाम पराश्रितभाव हैं और इसीलिए परद्रव्य हैं। अहा! पूर्णानन्द का नाथ प्रभु स्वयं है, उसका जिसे आश्रय नहीं है, वे सभी ज्ञान-श्रद्धान और आचरण के परिणाम पराश्रित होने से परद्रव्य हैं। भाई! यह सब शब्दश्रुतज्ञान, नव तत्त्व का भेदरूप श्रद्धान और पञ्च महाव्रत के परिणाम पराश्रितभाव हैं और इसीलिए परद्रव्य हैं क्योंकि इनमें शुद्ध चैतन्य का आश्रय नहीं है। अब यह बात कठोर तो पड़ती है क्योंकि कभी सुनी नहीं है न! परन्तु क्या हो सकता है ?

प्रश्न - नियमसार में तो स्वद्रव्य के आश्रय से हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप

निर्मल रत्नत्रय के परिणाम को भी परद्रव्य कहा है, वह किस प्रकार ?

उत्तर - हाँ, वहाँ स्व आश्रित निर्मल रत्नत्रय की पर्याय को भी परद्रव्य कहा है। वहाँ आशय यह है कि जैसे, परद्रव्य के आश्रय से अपनी नयी निर्मल मोक्षमार्ग की पर्याय प्रगट नहीं होती; उसी प्रकार मोक्षमार्ग की निर्मल पर्याय के आश्रय से भी अपनी नयी निर्मल मोक्षमार्ग की पर्याय प्रगट नहीं होती। एक शुद्ध चैतन्यसत्तामय स्वद्रव्य के आश्रय से ही नयी निर्मल-निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं; इसलिए वहाँ निर्मल रत्नत्रय की पर्याय को भी परद्रव्य कहा है। वहाँ तो पर्याय का-निर्मल पर्याय का आश्रय छुड़ाकर स्वद्रव्य का ही आश्रय कराने का प्रयोजन है।

यहाँ जो शुभराग का विकल्प है, उसे परद्रव्य कहा है क्योंकि वह पराश्रितभाव है। नव तत्त्व के भेद का श्रद्धान, भेद का ज्ञान और राग का आचरण-वेदन, ये सब पराश्रितभाव होने से परद्रव्य हैं; इसलिए वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है। एक निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है क्योंकि वह स्वाश्रित होने से स्वद्रव्य है।

आत्मा, स्वयं पूर्णानन्द का नाथ प्रभु भगवान अर्थात् ज्ञान आनन्द की लक्ष्मी का भण्डार है। पर्याय, राग और निमित्त से हटकर, उस स्वरूप के सन्मुख होने से शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रगट होती है, वह मोक्षमार्ग है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है, इस प्रकार 'ही' कहकर एकान्त किया है। यह सम्यक् एकान्त है और इसके अतिरिक्त कोई राग, व्यवहार आदि मोक्षमार्ग नहीं है - ऐसा सिद्ध करते हैं। निश्चय मोक्षमार्ग, आत्माश्रित है; इसलिए स्वद्रव्य है। निर्विकल्प, निराकुल, आनन्द की दशा का अनुभव स्वद्रव्याश्रित होने से स्वद्रव्य है। यहाँ आत्मा के आश्रय से प्रगट हुआ मोक्षमार्ग, वह आत्मा-स्वद्रव्य है और शरीराश्रित-पराश्रित जो भाव हैं, वे परद्रव्य हैं; आत्मा नहीं - ऐसी बात है।

जो मोक्ष है, सो सर्व कर्मों के अभावरूप आत्मपरिणाम हैं; इसलिए उसका कारण भी आत्मपरिणाम ही होना चाहिए। दर्शन-ज्ञान-चारित्र, आत्मा के परिमाण हैं; इसलिए निश्चय से वही मोक्ष का मार्ग है।

देखो, यह भावार्थ पण्डित श्री जयचन्दजी ने लिखा है। वे कहते हैं कि मोक्ष है, वह

सर्व कर्म के अभावरूप आत्मपरिणाम है। एक तो मोक्ष है, वह आत्मपरिणाम है और वह सर्व कर्म के अभावरूप आत्मपरिणाम है। मोक्ष अर्थात् सिद्धपद माने क्या ? आत्मा की पूर्ण पवित्र, पूर्ण वीतराग, पूर्ण आनन्दमय दशा का नाम मोक्ष है। दुःख से छूटना और पूर्ण पवित्र वीतराग परिणाम का प्रगट होना मोक्ष है। भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म के अभावरूप परिणाम का नाम, मोक्ष है। वह आत्मपरिणाम है; इसलिए कहते हैं कि उसका कारण भी आत्मा का परिणाम ही होना चाहिए। देखो, यह न्याय कहते हैं, वह इस प्रकार कि आत्मा का पूर्ण दर्शन-ज्ञान-सुख और वीर्य का परिणाम यदि मोक्ष है तो मोक्षमार्ग भी आत्मा का ही परिणाममय होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि निश्चयमोक्षमार्ग, आत्मा का परिणाम है, स्वद्रव्यरूप है।

आत्मा, स्वरूप से मुक्तस्वरूप ही है। समयसार की १४-१५वीं गाथा में आत्मा को अबद्धस्पृष्ट कहा है, वह नास्ति से बात है। अबद्धस्पृष्ट अर्थात् राग से और कर्म से बंधा हुआ तथा स्पर्शित नहीं - ऐसा भगवान आत्मा सदा मुक्तस्वरूप ही है। ऐसे निज मुक्तस्वरूप के आश्रय से जो मुक्ति की, पूर्ण पवित्रता और सुख की दशा प्रगट होती है, उसका नाम मोक्ष है। वह आत्मा का परिणाम है; इसलिए उसका कारण भी आत्मा का परिणाम होना चाहिए। पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान की दशा, अतीन्द्रिय आनन्द की दशा, अतीन्द्रिय वीर्य की दशा - ऐसा जो मोक्ष अर्थात् शिवपद है, वह यदि आत्मपरिणाम है, तो उसका कारण जो मोक्षमार्ग है, वह भी आत्मपरिणाम ही होना चाहिए। भाई! यह तो लॉजिक से-न्याय से सिद्ध करते हैं। भाषा तो सादी है, भाव तो जो है, सो है। पात्रता प्रगट करके समझे तो समझ में आ सकती है।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र, आत्मा का परिणाम है; इसलिए निश्चय से वही मोक्ष का मार्ग है।

देखो, शब्दश्रुत का ज्ञान, नव तत्त्व की भेदरूप श्रद्धा का विकल्प और पञ्च महाव्रतादि के परिणाम, वह मोक्षमार्ग नहीं हैं - ऐसा यहाँ कहना है, क्योंकि वे आत्मा के परिणाम नहीं हैं। जबकि दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा के परिणाम हैं; इसलिए निश्चय से वही मोक्षमार्ग है। अहाहा...! परम पारिणामिक ध्रुवस्वभावभाव की निर्मल रत्नत्रयरूप परिणति मोक्ष का कारण और उसकी पूर्णता होना मोक्ष है परन्तु पराश्रित परिणाम अर्थात् विभावपरिणाम

कारण और आत्मपरिणामरूप मोक्ष, उसका कार्य – ऐसा नहीं है क्योंकि व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम आत्मपरिणाम नहीं हैं; वे तो अनात्मपरिणाम हैं, अजीव के परिणाम हैं। अजीव के परिणाम से जीव के परिणामरूप मोक्ष कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता।

यह देह तो पृथक् वस्तु है, आत्मा नहीं है और देहादि पर के आश्रय से हुए शुभाशुभराग के परिणाम, वे विभाव हैं। वह भी आत्मा नहीं हैं अर्थात् द्रव्यलिङ्ग, आत्मा नहीं है। अहाहा...! त्रिकाली शुद्धद्रव्य कारणपरमात्मा प्रभु स्वयं हैं, उसका पूर्ण आश्रय होने पर परमात्मदशा/मोक्षदशा नयी प्रगट होती है, वह आत्मपरिणाम है, वह स्वद्रव्य का परिणाम है। अरे! लोग तो मोक्ष क्या है – यह भी नहीं समझते और मानते हैं कि हम धर्मात्मा हैं। सब गड़बड़ हो गयी है।

यहाँ कहते हैं कि मोक्ष, आत्मपरिणाम है और उसका कारण मोक्ष का मार्ग भी आत्माश्रित परिणाम है; इसलिए आत्मा के शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम, वह मोक्षमार्ग है परन्तु व्यवहार ज्ञान, व्यवहार आचरण मोक्षमार्ग नहीं है क्योंकि वह आत्मपरिणाम नहीं है। अहो! अत्यन्त संक्षिप्त में इतना समाहित कर दिया है। अहा! पूर्व के पण्डितों ने कैसा सरस काम किया है ?

एक विद्वान् ने पूछा कि नौवें ग्रैवेयक के देव हैं, उन्हें इकतीस सागरोपम तक स्त्री का विषय नहीं है, उन्हें अपनी तरह आहार-पानी नहीं है, हजारों वर्षों में आहार की वृत्ति उत्पन्न होने पर कण्ठ में से अमृत झर जाता है; इस प्रकार रसना इन्द्रिय का विषय नहीं है, एकेन्द्रिय जीवों का घात होना भी वहाँ नहीं है तो फिर उनके संयम कहा जाएगा या नहीं ? नहीं कहा जाएगा, क्योंकि अन्दर आत्मा का श्रद्धान होने के पश्चात् अन्तरलीनता होने पर आहारादि का विकल्प उत्पन्न नहीं होना, संयम है; मात्र बाह्य त्याग, संयम नहीं है। आजीवन बाह्य त्याग होने पर भी भगवान ने उनके संयम नहीं कहा है क्योंकि संयम तो स्वस्वरूप में लीनता/रमणता का नाम है।

अरे! लोगों को संयम क्या चीज है ? – यह भी पता नहीं है। सम्यग्दर्शन और स्वानुभूति प्रगट होने के पश्चात् निज ज्ञानानन्दस्वरूप में विशेष लीनता होना, अतीन्द्रिय आनन्द की भरपूर जमावट होना, संयम है। यहाँ यही कहते हैं कि निश्चय से शुद्ध दर्शन-

ज्ञान-चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है। भगवान आत्मा निर्मलानन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु है, उसे स्पर्श कर, उसमें एकाग्रता-लीनता-रमणतापूर्वक जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणाम होता है, वही मोक्ष का कारण है क्योंकि उसकी पूर्णता होना मोक्ष है। मोक्ष भी आत्मा का परिणाम है और उसका कारण भी आत्मपरिणाम है - यह सिद्धान्त है। व्यवहारनय के आश्रयवाले परिणाम कभी मोक्ष का कारण नहीं होते, क्योंकि वे अनात्मपरिणाम हैं।

जो लिङ्ग है, सो देहमय है और जो देह है, वह पुद्गलद्रव्यमय है; इसलिए आत्मा के लिए देह, मोक्षमार्ग नहीं है। परमार्थ से अन्य द्रव्य कुछ नहीं करता - ऐसा नियम है।

यह देह की नग्नदशा, पञ्च महाव्रत के परिणाम, अट्टाईस मूलगुणों का पालन - यह देहमय लिङ्ग है; इसलिए पुद्गलद्रव्यमय है। मुनिराज को वह होता अवश्य है परन्तु वह मोक्षमार्ग नहीं है। व्रतादि के परिणाम रागभाव हैं, वह देहाश्रित पराश्रितभाव हैं और परद्रव्यमय-पुद्गलद्रव्यमय हैं; इसलिए वह मोक्षमार्ग नहीं हैं।

जिनागम में इतना स्पष्ट कथन होने पर भी कई लोग शुभोपयोग मोक्षमार्ग है - ऐसी पुकार करते हैं और यह कहते हैं कि शुभराग को धर्म नहीं मानना तुम्हारा एकान्त है। भाई! कोई कुछ भी कहे; यहाँ तो स्पष्ट बात है कि शुभभाव है, वह राग है, विभाव है, दुःख है। अहा! दुःख के वे परिणाम, शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र का कारण कैसे हो सकते हैं? मोक्ष का कारण कैसे हो सकते हैं? कभी नहीं हो सकते।

अरे! यह जीव, पर के प्रति राग की रुचि के कारण तो अनन्त काल से परिभ्रमण कर रहा है। राग की रुचि का अभाव हुए बिना अन्दर ध्रुव एक ज्ञायकभाव स्वयं है, उसकी रुचि नहीं होती। अहाहा...! अनन्त-अनन्त गुणों की खान एक ज्ञायकस्वभावमय स्वयं है। उसकी दृष्टि और रुचि कब होती है? राग की महिमा और राग की बुद्धि, पर्यायबुद्धि मिटे, तब। पर्यायबुद्धि, यह मिथ्या एकान्तबुद्धि है और एक ज्ञायकभाव की महिमा लाकर, उसका आश्रय करने से मिटती है, तभी धर्म प्रगट होता है। यह धर्म ही मोक्ष का मार्ग है। यह सम्यक् एकान्त है।

आत्मा के आश्रय से भी धर्म होता है और शुभराग के-द्रव्यलिङ्ग के आश्रय से भी धर्म होता है - यह अनेकान्त नहीं है, स्याद्वाद नहीं है; यह तो फुदड़ीवाद है। स्व-स्वरूप का आश्रय छोड़कर शुभराग से धर्म होना मानना, महा-अज्ञान है। अहा.... ! वीतरागस्वभावी भगवान आत्मा का वीतरागभाव से विरुद्ध किसी भाव के साथ सम्बन्ध नहीं है। मोक्ष है, वह आत्मा के आश्रय से होनेवाला परिणाम है और उसका कारण भी आत्माश्रित परिणाम ही है। राग तो विभाव है; वह आत्मपरिणाम नहीं है। निश्चय से उसे पुद्गलपरिणाम और पुद्गल कहा गया है।

अरे ! अनन्त काल से इसने आत्मदृष्टि नहीं की है। अन्दर स्वरूप में नजर नहीं की है, आत्मा, अन्दर शान्तरस, चैतन्यरस, वीतरागरस से पूर्ण भरा हुआ अखण्डानन्द प्रभु है। उसके आश्रय से पूर्ण पवित्र, पूर्ण ज्ञान और पूर्ण आनन्द की दशा प्रगट हो, वह मोक्ष है और मोक्ष का मार्ग भी वीतरागीदशा ही है; राग नहीं। राग तो पुद्गल स्वभाव है, उससे मोक्ष कैसे हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता।

अहा ! भगवान जिनेश्वर देव ने क्या कहा है ? उसका इस जीव ने कभी विचार नहीं किया। भाई ! देख तो सही बापू ! सर्वज्ञदेव ऐसा कहते हैं कि देहमय लिङ्ग, मोक्ष का मार्ग नहीं है। अब, इसमें तू शुभ छोड़कर अशुभ में जा - ऐसी बात कहाँ है ? तूझे व्यवहार छोड़कर नीचे जाने की बात इसमें नहीं है परन्तु व्यवहार से ऊपर उठकर स्व-स्वरूप में रमणता और अन्तरलीनता करने की यह बात है। सम्यग्दर्शनसहित सम्यक्चारित्र आत्मा के अवलम्बन से प्रगट होता है, व्यवहार के राग से नहीं; इसलिए जो व्रतादि के विकल्प होते हैं, उन्हें छोड़कर स्वरूप में लीन हो जाने की यह बात है। भाई ! शुभराग के परिणाम को देहमय लिङ्ग कहा है और वह अन्य द्रव्यमय होने से मोक्षमार्गरूप नहीं है - ऐसा कहते हैं। द्रव्यलिङ्ग के पक्षवालों को कठोर लगे, परन्तु यह सत्य बात है।

अरे ! निजस्वरूप के भान बिना अज्ञान से इस जीव ने अनन्त-अनन्त अवतार धारण किये हैं। अभी यदि इस अवसर में भी मिथ्यात्व रह जाएगा, तो ऐसे अनन्त भव सिर पर आ पड़ेंगे। भाई ! अभी भी अन्दर चैतन्य चमत्कार से भरा हुआ महाभगवान है, उसका चमत्कार क्या कहें ? उसके आश्रय में जाने से निर्मल-निर्मल रत्नत्रय के परिणाम प्रगट

होते हैं, मोक्षमार्ग और मोक्ष प्रगट होता है। अरे! परन्तु स्वयं, स्वयं को ही भूल गया है और भूल की भ्रमणा से भव-भ्रमण किया करता है। कभी उठता है तो देहमयलिङ्ग में-द्रव्यलिङ्ग में मूर्च्छित होकर उसे ही मोक्षमार्ग मान लेता है परन्तु भाई! लिङ्ग देहमय है, जड़ पुद्गलद्रव्यमय है; वह मोक्ष का कारण नहीं है। शरीर की क्रिया और राग की क्रिया मोक्ष का कारण नहीं है।

श्रोता - यह तो सोनगढ़ का नया पन्थ है।

गुरुदेवश्री - बापू! यह कोई नया पन्थ नहीं है। किसी के घर का पन्थ नहीं है, सोनगढ़ का पन्थ नहीं है, यह तो अनादिकालीन वीतराग का पन्थ है।

बहिनश्री के वचनामृत में आता है कि स्वर्ण को जङ्ग नहीं लगती, अग्नि को दीमक नहीं लगती; इसी प्रकार आत्मा को आवरण, हीनता अथवा अशुद्धि नहीं है। अहाहा... ! आत्मा परिपूर्ण प्रभु त्रिकाल निरावरण शुद्ध है, बेहद ज्ञान और आनन्द का भण्डार है। उसके आश्रय से उत्पन्न होनेवाला परिणाम मोक्ष का कारण होता है किन्तु देहमय लिङ्ग, मोक्ष का कारण नहीं है क्योंकि परमार्थ से अन्य द्रव्य को अन्य द्रव्य करता नहीं है - यह नियम है। कर्ता कहना व्यवहार है परन्तु परमार्थ से वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है अर्थात् अन्य द्रव्य, अन्य द्रव्य का कुछ करे - ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है।

अनन्त काल से ऐसा अवसर प्राप्त हुआ तो इसका निर्णय करना। भाई! अभी नहीं करेगा तो कब करेगा? बापू! बाहर के प्रतिकूल प्रसङ्ग में भी इस वस्तु को पकड़ना। कोई उपसर्ग आवे, उसको भी मत गिनना। अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्द का सागर लबालब भरा है, उसमें डुबकी लगाकर उसमें निमग्न हो जा। यही मोक्ष का मार्ग है और इसका ही फल मोक्ष है। राग कोई मार्ग नहीं है, देहमय लिङ्ग मार्ग नहीं है क्योंकि अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य कुछ नहीं करता - ऐसी बात है, समझ में आया। ●

(- प्रवचनरत्नाकर, गुजराती, भाग-१०, पृष्ठ २२८-२३९)

मुनिराज : स्वरूप में ही लीला और विचरण

स्वरूप की लीला जात्यन्तर है।

भगवान आत्मा के स्वरूप की लीला जात्यन्तर है। क्या कहा? वीतराग दृष्टि, वीतरागी ज्ञान, वीतरागी चरित्र, वीतरागी आनन्द-अहा! आत्मा की वह लीला राग की जाति से अन्य प्रकार की है। भगवान आत्मा की स्वरूपलीला ही सच्ची लीला है। लोग भगवान की लीला कहते हैं। अरे! वह लीला कहाँ थी? ज्ञान-दर्शन-आनन्दादि अनन्त गुणों से परिपूर्ण जो ज्ञायकप्रभु, उसके स्वरूप की लीला अर्थात् स्वाश्रित दशा वह जात्यन्तर है; राग और अजीव की जाति से उस ज्ञायक-लीला की जाति भिन्न है। आनन्दधनजी के स्तवन में आता है —

**कोई कहे लीला अलख तणी रे, लख पूरे मन आश।
दोष रहित ने लीला नवि घटे रे, लीला दोष विलास॥**

अहा! चैतन्य का जो त्रैकालिक स्वरूप - ज्ञान, आनन्द, प्रभुता, ईश्वरता, शुद्धता, स्वच्छता उसकी पर्याय में लीला-स्वाश्रित दशा हो वह राग की जाति से जात्यन्तर है। उसमें से उत्पन्न होनेवाली दशा वह वीतरागी दशा है, राग नहीं। निजस्वरूप में प्रभु विल से, क्रीड़ा करे वह लीला ही अन्य प्रकार की है। भिन्न-भिन्न राग की लीला वह उसकी लीला नहीं है। यह तो जात्यन्तर लीला है।

अहा हा! यह पुस्तक अभी हिन्दुस्तान में सबके पास नहीं पहुँची है, किन्हीं

-किन्हीं लोगों तक पहुँची है। जब पहुँचेगी और पढ़ेंगे तब लगेगा कि - अहा! ऐसी बात है! समझ में आया कुछ? क्या कहा? कि आत्मा की लीला जात्यन्तर है। दुनिया एकदम राग में परिवर्तन करे, तीव्रराग में से मन्दराग हो जाए तथा देह के परमाणु एकदम पलट जाएँ, परमाणु का रङ्ग हरे से पीला हो जाए - यह जगत् की जड़ लीला है। अहा! ज्ञायक चैतन्य प्रभु की लीला कोई और ही प्रकार की है। अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ, ज्ञान का सागर, जिसने दृष्टि में लिया उसकी पर्याय में भिन्न-भिन्न प्रकार की अद्भुत वीतरागी दशा उत्पन्न होती है, वह उसकी जात्यन्तर लीला है।

अहा! आत्मा की लीला तो देखो! पहले क्षण मतिश्रुत हो और दूसरे ही क्षण अनन्त केवलज्ञान प्रगट हो जाए! जगत् से उसकी जाति ही भिन्न है। एक क्षण पहले चक्रवर्ती राज्य में बैठा हो और दूसरे क्षण देखो तो नग्नदशा और अन्तर में केवलज्ञान की जगमग ज्योति! ज्ञायक प्रभु पूर्णस्वरूप से भरपूर हैं; उसमें स्वाभाविक विचित्रताएँ-अद्भुत से अद्भुत दशाएँ होती हैं, वह उसकी लीला है।

यहाँ विशाल भवन और धनधान्यवाला करोड़पति हो और घड़ी भर में सातवें नगर का नारकी हो जाता है; गाय के पेट से बछड़ा बनकर जन्म ले, बरकी के पेट से बच्चा बनकर पैदा हो - यह सब पुद्गल की लीला है। अहा! इस जड़ की लीला से आत्मा की लीला बिलकुल जात्यन्तर है।

क्या कहते हैं? कि बाह्य में जो यह शरीर, वाणी एवं कर्म के संयोग की विचित्रता दिखायी देती है वह सब इन्द्रजाल है, पुद्गल की लीला है। अतीन्द्रिय ज्ञान एवं आनन्द का सागर ऐसा जो निज भगवान आत्मा, उसकी जिसे दृष्टि हुई, उसका स्वीकार हुआ और वह कोई महान् माहात्म्यवाली वस्तु है ऐसी जिसे अन्तर में-सम्यग्दर्शन में प्रतीति हुई ऐसे जीव को यहाँ मुख्यरूप से मुनि को लिया है-स्वरूप की लीला जात्यन्तर है। अहा! जगत् की पुण्य-पाप की सामग्री की-लीला से इस चैतन्य की लीला कोई अजब-गजब अद्भुत अलौकिक है। यह भगवान आत्मा अपने पूर्ण स्वभाव से एकत्वमय और राग के विकल्प से भिन्न ऐसा चैतन्यस्वरूप है ऐसी जिसे अन्तर में प्रतीति हुई और यही करने

योग्य है ऐसा अन्तर से लगा - उसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा स्वरूपाचरण आ गये- उसकी लीला कोई अलौकिक है।

सम्यग्दृष्टि कदाचित् युद्ध में गया, उस प्रकार का अशुभ राग आया परन्तु वहाँ से छूटकर जहाँ भीतर अपने ज्ञायकगृह में आता है, वहाँ निर्विकल्प ध्यान में आ जाता है। अहा! देखो उसकी लीला! अन्तर में आनन्द सागर ऐसे स्वयं की प्रतीति हुई है और राग से भिन्न शक्ति की व्यक्ति हुई उसकी लीला जात्यन्तर है। जगत् की लीला में जीव क्षण में राजा और क्षण में रङ्ग हो जाता है-यह सब कर्म की लीला है, अलग बात है। परन्तु जिसके अन्तर में अनन्त आनन्द का सागर भरा है ऐसो जो स्वयंभूस्वरूप भगवान् आत्मा उसकी लीला तो कोई अलौकिक है!

अहा! सहजानन्दस्वरूप वस्तु अन्तर में जहाँ खिल उठी, राग और आत्मा की एकत्वबुद्धि का ताला लगा रखा था - अरे! निज सम्पदा को ताला लगा रखा था, वह जहाँ खोल दिया, राग और आत्मा को जहाँ भिन्न कर दिया, स्वरूप के साथ एकता और राग से भिन्नता हुई वहाँ उसके लिए भण्डार खुल गया। वह जीव कदाचित् विषय-वासना में आ गया हो, तथापि अन्तर में पूर्णानन्द का नाथ जागृत होने से दूसरे ही क्षण वह विकल्प तोड़कर निर्विकल्प हो जाता है। उसके स्वरूप-परिणमन की लीला कोई जात्यन्तर है।

‘जागकर देखूँ तो जगत् दिखे नहीं, नींद में अटपटे भोग भासैं।’ सम्यग्दृष्टि आत्मा को अन्तर में ज्ञान की लीला जागृत हुई है। उस ज्ञान लीला के बिना जीव चाहे जितने व्रत, तप और भक्ति करे वह सब मिथ्यात्व के बन्धन में जाता है क्योंकि वह शुभभाव को ठीक धर्म मानता है।

प्रभु! तेरी लीला का पार नहीं है। भाई! अपने अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द की लीला की तो तुझे खबर नहीं है। जगत् की-ईश्वर की लीलाएँ तो सब कल्पना की बातें हैं। स्वरूप की लीला जात्यन्तर है; जगत् की जाति से भिन्न जाति की है। यह बात तूने कभी सुनी नहीं है।

मुनिराज चैतन्य के बाग में क्रीड़ा करते-करते कर्म के फल का नाश करते हैं।

जैसे, कोई फूलों की सुगन्ध लेने बाग में जाए और वहाँ उनकी सौरभ में तल्लीन हो जाए, वैसे ही मुनिराज राग की क्रीड़ा छोड़कर चैतन्य के बाग में खेलते-खेलते कर्म के फल का नाश करते हैं और अतीन्द्रिय आनन्द के फल का वेदन करते हैं, अनुभव करते हैं। चैतन्य के बाग में क्रीड़ा करनेवाले मुनिराज को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक चारित्र्य हुआ है, आनन्दादि अनन्तगुण खिल उठे हैं, अन्तर्निमग्नदशा तीव्र प्रगट हुई। अहा! मुनिपना बड़ी कठिन वस्तु है भाई! जैन परमेश्वर तो मुनिपना उसे कहते हैं कि जिसके वस्त्र का टुकड़ा भी न हो, पात्र न हो, बाह्य में शरीर की नग्नदशा हो और अन्तर में मात्र आनन्द के नाथ आत्मा का प्रचुर अनुभव हो। ऐसे मुनिराज ज्ञानादि अनन्तगुणों से प्रफुल्लित निज चैतन्य उद्यान में-क्रीड़ा करते-करते विभाव का नाश करते हैं; उनको कर्म के फल का नाश हो जाता है; कर्म उदय में आकर खिर जाते हैं।

बाग में हजारों पुष्पवृक्ष होते हैं, उसी प्रकार मुनिराज को भगवान आत्मा के बाग में अनन्त गुण निर्मल पर्यायोंरूप से खिल उठे हैं, क्योंकि चारित्र्य है ना! मुनिराज आत्म-उद्यान में खेलते-खेलते, लीला करते-करते, किञ्चित् दुःख बिना अन्तर में अनन्त आनन्द की धारा में निमग्न रहकर कर्म के फल का नाश करते हैं। वास्तव में तो उस समय कर्मफल उत्पन्न ही नहीं होता उसे 'नाश करते हैं' - ऐसा कहा जाता है।

बाह्य में आसक्ति थी उसे तोड़कर स्वरूप में मन्थरस्वरूप में लीन हो गये हैं।

बाह्य में जो राग था-आसक्ति थी उसे तोड़कर अन्तर में जहाँ अतीन्द्रिय आनन्दादि गुण भरे हैं - ऐसे निजस्वरूप में मुनिराज लीन हो गये हैं। महाव्रतादि के विकल्प से भी भिन्न होकर अर्थात् शुभराग का भी रस तोड़कर मुनिस्वरूप में मन्थर-अतीन्द्रिय आनन्द में, स्वरूप के रस में लीन हो गये हैं।

स्वरूप ही उनका आसन, स्वरूप की निद्रा, स्वरूप ही आहार है; वे स्वरूप में ही लीला, स्वरूप में ही विचरण करते हैं।

स्वरूप में लीनता वही मुनि का आसन है; बाह्य में उदासीन हैं, राग में उनका आसन नहीं है, राग में वे बैठे नहीं हैं। भीतर जो पूर्णानन्दघन प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर भगवान ज्ञायक आत्मा है, उसमें मुनिराज बैठे हैं, वहीं विश्राम करते हैं अथवा

स्वरूप-मन्थरदशा ही उनका आसन है और वहीं उनका आसन-बैठक है ।

प्रभु! तेरे भीतर अनन्त सम्पदा पड़ी है, तू पूर्ण सम्पदा का स्वामी है; नाथ! तू छोटा नहीं है, तू पामर नहीं है; तू पुरुष नहीं है, स्त्री नहीं; तू देव नहीं, मनुष्य नहीं; तू पर्याप्त या अपर्याप्त नहीं; तू राग नहीं, द्वेष नहीं; प्रभु! तुझमें ज्ञान, आनन्द, वीर्यादि प्रभुता का-सम्पदा का पार नहीं है। ऐसी प्रभुता में जिन्हें लीनता हुई है, अन्तर-आनन्द की केलि में मस्त हैं ऐसे मुनिराज की राग में या व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प में बैठक नहीं है, वे तो निर्विकल्प आनन्दरूप निजस्वरूप में ही आराम से बैठे हैं। बेन की भाषा सादी है किन्तु भाव बहुत ऊँचे हैं। समझ में आये उतना समझना। श्रीमद् के एक पत्र में ऐसा आता है कि हमारा बैठना और खाना-पीना सब आनन्द है।

ज्ञानी को भले ही रागादि आयें, तथापि उनका आदर नहीं है, आदर तो त्रैकालिक ज्ञायकस्वभाव का है; वहीं ज्ञानी का आसन है, ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि का आसन तो स्वरूप में ही है क्योंकि उनको अन्तर से पूर्णानन्द का आदर है, स्वानुभूति का उपभोग है। यहाँ तो मुनिदशा की बात चलती है। मुनिराज को विशेष चारित्रदशा होने से अन्तर में क्षण में और पल में छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान आता है। अहा! उन मुनिराज की दशा अद्भुत है! श्रीमद् ने 'अपूर्व अवसर' में कहा है —

एकाकी विचरतो वळी श्मशानमां,
वळी पवर्तमां वाघ सिंह संयोग जो;
अडोल आसन, ने मनमां नहीं क्षोभता,
परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो.... अपूर्व....

दिगम्बर सन्त मुनिराज वन में विचरते हैं; बाहर वे बाघ और सिंह जैसे हिंसक पशुओं के बीच बैठे होते हैं भीतर आनन्द की लहर में मस्त होते हैं। कोई सिंह शरीर खाने के लिए आ जाए तो मुनि को ऐसे भाव होते हैं कि शरीर मेरा है ही नहीं और मुझे उसकी आवश्यकता भी नहीं है, उसे चाहिए हो तो भले ले जाए। इस प्रकार निर्भयरूप से आत्मा की साधना में लीन हैं और गर्जना करते हुए हिंसक पशुओं के बीच अकेले बैठे हैं। शरीर चलायमान नहीं होता किन्तु मन भी नहीं डिगता ऐसी जिनकी दशा है ऐसे मुनिराज को

अन्तर में स्वरूप की निद्रा आयी है अर्थात् वे स्वरूप में-अतीन्द्रिय आनन्द में सो रहे हैं। जैसे, कोई घोर निद्रा में पड़ा सोता है। उसी प्रकार मुनिराज स्वरूप-निद्रा में सो रहे-स्वरूप में लीन हो गये हैं।

मुनिराज का आहार भी स्वरूप ही है। बाह्य भोजन उनका आहार नहीं है; उनके तो अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन है। ऋषभदेव भगवान ने मुनिदशा में प्रथम छह महीने के उपवास किये तब आहार का विकल्प तक नहीं आया; पश्चात् आहार का विकल्प आने पर आहार के लिये जाते थे किन्तु मिलता नहीं था। लोगों को आहारदान की विधि का ज्ञान नहीं था। भगवान का विकल्प टूट जाता और वे पुनः अन्तर में-आनन्द के भोजन में चले जाते। छह महीने और बीत गये। लोगों को विचार आया कि भगवान यह सब क्यों नहीं लेते? परन्तु भगवान दुःखी नहीं थे; त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्करदेव अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन कर रहे थे। बाह्य आहार के कौर-ग्रास तो जड़ परवस्तु हैं, उन्हें आत्मा नहीं ले सकता, नहीं खा सकता। मुनिराज को तो अतीन्द्रिय आनन्द का आहार है। यह बात लोगों को कठिन लगती है क्योंकि कभी सुनी नहीं है।

मुनिराज स्वरूप में ही लीला और स्वरूप में ही विचरण करते हैं। वैसे तो सम्यग्दृष्टि भी स्वरूप में लीला करते हैं, किन्तु उन्हें राग का भाव कुछ विशेष आता है, यद्यपि अभिप्राय में उसका आदर नहीं है। सम्यग्दृष्टि को भी भक्ति, पूजा, दानादि का शुभराग आता है, व्यवहारनय का विषय आता है, होता है परन्तु वे उसे हेयरूप जानते हैं। सम्यग्दर्शन धर्म की पहली सीढ़ी है; वह प्राप्त होने पर जीव अपने आनन्दस्वरूप में लीन रहता है; राग आये परन्तु उसमें एकत्वबुद्धिपूर्वक लीनता नहीं है।

पूजा, भक्ति और यात्रा करके लोग मान बैठते हैं कि धर्म हो गया परन्तु वह धर्म तो नहीं है किन्तु पुण्यानुबन्धी पुण्य भी नहीं है। जिसे अन्तर में दया-दानादि राग का विकल्प भी दुःखरूप लगे, रागरहित स्वरूप के आनन्द का स्वाद आये - ऐसे जीव को हेयबुद्धिपूर्वक जो शुभभाव आये और पुण्य बँधे, उसे पुण्यानुबन्धी पुण्य कहा जाता है। पुण्य की रुचिवाले को जो पुण्य बँधता है, उसे पापानुबन्धी पुण्य कहा जाता है।

यहाँ तो कहते हैं कि मुनि पुण्य-पाप के भावरहित निजस्वरूप में ही लीला करते

हैं; उनकी क्रीड़ा आत्मा के स्वरूप में है, राग की क्रीड़ा से वे छूट गये हैं।

निजपद रमे सो राम कहिये।

आत्मा में रमे उसे राम और राग तथा पुण्य के परिणाम में रमे उसे हराम कहते हैं। वीतराग सर्वज्ञ का मार्ग अति अपूर्व... अपूर्व.... अपूर्व लाभदायक है। आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ प्राप्त हो - ऐसा लाभदायक है।

मुनिराज स्वरूप में ही विचरण करते हैं, राग में नहीं विचरते। प्रभु! तेरा स्वरूप तो अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ईश्वरता, अतीन्द्रिय शान्ति, अतीन्द्रिय स्वच्छता तथा अतीन्द्रिय निरोगता से भरपूर तत्त्व है। धर्मी जीव अपने स्वच्छ स्वरूप में विचरते हैं। उन्हें व्यवहाररत्नत्रय का राग आये तथापि उसका आदर नहीं है अर्थात् वे उस राग में नहीं विचरते। राग से भिन्न चैतन्य की जिन्हें प्रतीति नहीं है वे सब विषयों के भिखारी हैं, रङ्ग हैं; भले ही वे अरबपति हों या बड़े देव हों परन्तु आत्मानुभवरूप चैतन्यप्राण से रहित होने के कारण वे चलते हुए मुरदे हैं। पुण्य-पाप के राग का जिसमें अवकाश नहीं है - ऐसे त्रैकालिक चैतन्यप्राण में जिनकी लीनता है - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-रमणतारूप परिणति वर्तती है ऐसे सन्त-मुनि स्वरूप में ही विचरण करते हैं।

सम्पूर्ण श्रामण्य प्रगट करके वे लीलामात्र में श्रेणी माँडकर केवलज्ञान प्रगट करते हैं।

भरत चक्रवर्ती सम्यक्त्वी, आत्मज्ञानी, स्वानुभवी थे। वे राग का एक कण भी आदरणीय नहीं मानते थे। उनको छह खण्ड के राग की आसक्ति छूटी वहाँ नवकोटि से वस्त्रादि परिग्रह का त्याग हो जाता है। पश्चात् ध्यान में लीन होते हैं - अन्तर शुद्धोपयोगदशा में रमते हैं और केवलज्ञान हो जाता है। वे शीशमहल में बैठे थे वहाँ अन्तर से निवृत्ति हो गई। सम्यग्दृष्टि तो पहले से थे ही। शीशमहल के उद्यान में नवकोटि से वस्त्रादि छूटकर नग्नदशा हो गई। सम्पूर्ण मुनिदशा प्रगट करके अन्तर में रमणता करते-करते अन्तर के वीररस द्वारा लीलामात्र में श्रेणी माँडकर अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रगट किया।

वीररस से भरपूर ऐसे वीर्य के पिण्डस्वरूप भगवान आत्मा का, राग और निमित्त

से पृथक् होकर, जिसे सम्यग्दर्शन हुआ और स्वरूप की स्वीकृति में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया, उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि कहते हैं। उस स्वाद में रमण करने से चारित्र हो जाता है। सम्पूर्ण मुनिपना प्रगट करके उस स्वाद में एकाग्र होने पर-विशेष स्थिर होने पर लीलामात्र में केवलज्ञान हो जाता है। भाई! जगत् कहाँ खड़ा है यह सब खबर है। दया-दान, व्रत-तप, भक्ति आदि सब शुभराग है। उस व्यवहार के शुभराग में जो खड़े हैं, उसे धर्म मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं और जो चैतन्य के उद्यान में-ज्ञायकस्वभाव में खड़े हैं, वे धर्मात्मा-सम्यग्दृष्टि हैं। ●

(वचनामृत प्रवचन, 1/206)



अज्ञानरूपी अन्धकार कैसे रहेगा ?

हे देव! आपके गुण में हमारा चित्त लगते ही वह पापरहित विशुद्ध हो जाता है; इसलिए 'मेरा क्या होगा? मैं कर्मों से कब छूटूँगा?' – ऐसी आशंका आपके भक्त को नहीं होती। यहाँ भक्ति में अकेले राग की बात नहीं है, यह तो सर्वज्ञस्वभाव की दृष्टिपूर्वक की भक्ति है। 'मोह मेरा कुछ नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ' – ऐसे लक्ष्य द्वारा धर्मात्मा, समस्त कर्मों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करता है। अहो देव! आपकी भक्ति से जहाँ ऐसा स्वानुभवरूपी सूर्य उदित हुआ, वहाँ अब हमारे अन्तर में अज्ञानरूपी अन्धकार कैसे रहेगा? भवरहित स्वभाव को भूलकर, अज्ञान से अनन्त भव हो गये, परन्तु अब जिनदेव के शासन में ऐसी भवरहित ज्ञानस्वभाव की भावना में आया, वहाँ अनन्त भव का नाश होकर मोक्ष की साधना प्रारम्भ हो गयी है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य, पृष्ठ ५५

हमें तो पूर्ण दशा ही चाहिए

मुनिराज कहते हैं – हमारा आत्मा तो अनन्त गुणों से भरपूर, अनन्त अमृतरस से भरपूर, अक्षय घट है। उस घट में से पतली धार से अल्प अमृत पिया जाए – ऐसे स्वसंवेदन से हमें सन्तोष नहीं होता। हमें तो प्रति समय पूर्ण अमृत का पान हो – ऐसी पूर्ण दशा चाहिए। उस पूर्ण दशा में सादि-अनन्त काल पर्यन्त प्रति समय पूरा अमृत पिया जाता है और घट भी सदा परिपूर्ण भरा रहता है। चमत्कारिक पूर्ण शक्तिवान शाश्वत् द्रव्य और प्रति समय ऐसी ही पूर्ण व्यक्तिवाला परिणामन! ऐसी उत्कृष्ट-निर्मलदशा की भावना भाते हैं। (ऐसी भावना के समय भी मुनिराज की दृष्टि तो सदा शुद्ध आत्मद्रव्य पर ही है।)।

मुनिराज कैसे होते हैं ? – वह कहते हैं। पहले निज शुद्धात्मा का स्वानुभूतिसहित सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् स्वरूपस्थिरता में आगे बढ़कर जिनको अन्तर में, अनन्तानुबन्धी आदि तीन कषायों का अभाव हुआ होने से, आनन्द का प्रचुर स्वसंवेदन सतत् वर्तता है, वे भावलिङ्गी मुनिराज हैं। महाव्रतादि की शुभक्रिया अथवा शुभपरिणाम तथा नग्नता आदि परमार्थ से मुनिपना नहीं है। अन्तर में जो आनन्द का सहज प्रचुर स्वसंवेदन है, वही भावलिङ्गी मुनिराज का अन्तरङ्ग चिह्न है। अविरत सम्यग्दृष्टि को भी आनन्दमुद्रित स्वसंवेदन है परन्तु वह अल्प है, मुनिराज को तो प्रचुर, अर्थात् तीव्र है। प्रचुर-स्वसंवेदनदशारूप परिणामित हुए मुनिराज कहते हैं –

शरीर, इन्द्रियाँ तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों से सर्वथा भिन्न और शुभाशुभ

विभावभावों से भी परमार्थतः रहित – ऐसा यह आत्मा स्वभावतः ज्ञान एवं आनन्दादि अनन्त गुणों से सदा भरपूर है। धर्मी जीव की दृष्टि में अपने आत्मा / ज्ञायकभाव के अतिरिक्त जगत् की अन्य कोई वस्तु अधिक दिखायी नहीं देती। ज्ञानादि अनन्त गुणों से परिपूर्ण, अनन्त अमृतरस से भरपूर यह आत्मा, अक्षय अर्थात् जिसका कभी क्षय नाश नहीं होता, जिसके आलम्बन से पर्याय में पूर्ण अमृतरस प्रगट होने पर भी जो अपूर्ण नहीं होता, ऐसा सदा अविनाशी एवं परिपूर्ण घट है। यह शरीर भी घट जैसा है न! भीतर शरीर-प्रमाण रहा हुआ आत्मा भी ज्ञान और आनन्दादि से भरपूर अक्षय घट है। प्रचुर-स्वसंवेदनधारी मुनिराज कहते हैं कि —

मुनिराज को प्रचुर स्वसंवेदन होने पर भी वह अमृतरस, केवलज्ञानी परमात्मा की अपेक्षा अत्यल्प है। केवली भगवान, चैतन्यघट के पूर्ण अमृतरस का पान करते हैं और मुनिराज तो पतली धार से पीते हैं। मुनिराज कहते हैं कि पतली धार से आनन्दामृत का पान करें – ऐसे अपूर्ण स्वसंवेदन से हमें सन्तोष नहीं होता। जहाँ राग से भिन्न भगवान आत्मा का अनुभव हुआ, वहाँ भेदज्ञान की धारा का आरम्भ हुआ; वहाँ अतीन्द्रिय अमृत की धारा भी साथ ही प्रवाहित है। चौथे-पाँचवें गुणस्थानवर्ती ज्ञानी की अपेक्षा छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए भावलिङ्गी मुनिराज को अमृतधारा का प्रचुर स्वसंवेदन है परन्तु चैतन्यघट में से आनन्द का जो पूर्ण वेदन आना चाहिए, वह नहीं आता। वह अमृतरस पतली धार से वेदन में आता है। इसलिए मुनिराज कहते हैं कि पतली धार से अल्प अमृतपान हो – ऐसे स्वसंवेदन से हमें सन्तोष नहीं होता।

छठवें गुणस्थान में आत्मज्ञानी स्वानुभवी मुनिराज को – सच्चे निर्ग्रन्थ दिगम्बर सन्तों को भगवान आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर ध्रुव धरातल में एकाग्रता से पर्याय में आनन्दामृत की प्रचुर धारा चलती है। ‘घट-घट अन्तर जिन बसे, घट-घट न्तर जैन।’ जिन प्रभु, अर्थात् वीतराग अमृत का सागर; घट-घट में प्रत्येक आत्मा में विराजमान है। शरीररूपी इस जड़ घट से भिन्न भीतर चैतन्यघट है। मुनिराज को मुनियोग्य प्रचुर अमृतधारा का वेदन सतत् वर्त रहा है, तथापि इतने से सन्तोष नहीं है; उनको तो प्रति समय आनन्द घट में भरा हुआ परिपूर्ण अमृत पिया जाए – ऐसी पूर्ण दशा चाहिए।

अहा ! देखो तो मुनिराज की यह दशा ! भगवान उन्हें सच्चा मुनि कहते हैं । उनको महाव्रतादि अट्टाईस मूलगुण के विकल्प-शुभभाव आते हैं परन्तु वे अन्तर में दुःखरूप लगाने से तथा बन्ध का कारण होने से, उनकी भावना नहीं है; भावना तो स्वरूप में पूर्ण स्थिरतासहित-असंख्यात समय में ख्याल आये ऐसी पतली धारा से वर्तते हुए प्रचुर स्वसंवेदनरूप अपूर्ण दशा छूटकर पूर्ण अमृत का पान हो – ऐसी पूर्ण दशा की है ।

अहा ! ‘मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो ।’ पञ्च महाव्रत का निर्दोषरूप पालन करके अनन्त बार नववें ग्रैवेयक का अहमिन्द्र हुआ परन्तु आत्मा के अनुभव बिना आनन्द की एक बूँद भी नहीं मिली । महाव्रत के परिणाम भी दुःखरूप हैं, इसलिए मुनिराज भावना भाते हैं कि व्रतादि के दुःखमय विकल्प छूटकर प्रति समय पूर्ण अमृत पिया जाए – ऐसी पूर्ण दशा हमें प्राप्त हो जाए ।

मुनिराज को पूर्ण दशा की भावना है । पूर्ण दशा का प्रारम्भ है परन्तु उसका भविष्य में कभी अन्त नहीं है । ‘सादि-अनन्त अनन्त समाधिसुख में, अनन्त दर्शन, ज्ञान अनन्त सहित जो ।’ – इस प्रकार जहाँ प्रति समय पूर्ण अमृत का पान होने पर भी घट परिपूर्ण भरा रहे – ऐसी पूर्ण दशा की आवश्यकता है ।

पर्याय में निर्विकल्प आनन्द की पूर्णता का नाम मोक्ष है । मोक्षस्वरूप पूर्ण दशा में सादि-अनन्त काल पर्यन्त प्रति समय पूर्ण अमृत का पान होता है, फिर भी आनन्दामृत घट-भगवान आत्मा, आनन्द सामर्थ्य से सदा परिपूर्ण भरा रहता है, उसमें कभी न्यूनता नहीं आती । दुनियाँ को यह बात कठिन लगेगी परन्तु क्या किया जाए ? वस्तुस्वरूप और सत्यमार्ग तो यही है ।

द्रव्यस्वभाव तथा गुणस्वभाव में कभी न्यूनता नहीं आती; पर्याय में अल्प आनन्द आये या पूर्ण आनन्द आये तब भी घट, अर्थात् चमत्कारिक शक्तिवाला शाश्वत द्रव्य तो सदा परिपूर्ण रहता है । अहा ! है न आश्चर्यजनक बात !! अन्तर में / तल में अमृतघट परिपूर्ण भरा होने पर भी, पर्याय में अल्प अमृत पिया जाए, वह मुनिदशा और परिपूर्ण अमृत का पान हो, वह परमात्मदशा है ।

आत्मा स्वभाव से कभी हीनाधिक नहीं होता – ऐसा चमत्कारिक पूर्ण शक्तिवाला

शाश्वत द्रव्य है। वह साधारण मनुष्य के ख्याल में नहीं आता। पर्याय में परिपूर्ण आनन्द आया तो पूर्ण स्वभाव में से कुछ कमी हुई या नहीं? – नहीं; परिपूर्ण आनन्दामृतस्वरूप भगवान् आत्मा में से पूर्ण आनन्द तथा केवलज्ञान प्रगट होने पर भी ज्ञायक घट तो सदा परिपूर्ण ही है। द्रव्य और गुण तो सदा परिपूर्ण भरे पड़े हैं। अहा! वस्तुस्वरूप ही कोई चमत्कारिक है! परन्तु लोगों को किस प्रकार बैठे? वस्तु की भाँति गुणस्वभाव भी ऐसा ही चमत्कारिक है। प्रति समय पूर्ण व्यक्तिवाला परिणमन प्रगट होने पर भी पूर्ण शक्तिवान् शाश्वत् द्रव्य किञ्चित् हीनाधिक हुए बिना, ज्यों का त्यों पूर्ण रहता है – यही उसका कोई अजब चमत्कार है। अहा! जैसा चमत्कारिक पूर्ण शक्तिवान् शाश्वत् आत्मद्रव्य, वैसा ही चमत्कारी उसका प्रति समय होता पूर्ण व्यक्तिवाला परिणमन!

वस्तु का गुणस्वभाव ऐसा ही कोई चमत्कारिक है कि शक्ति अपेक्षा से सदा परिपूर्ण तथा व्यक्ति अपेक्षा से भी ऐसा ही परिपूर्ण परिणमन! प्रति समय पूर्ण आनन्द वेदन में आए, तथापि वस्तु तो शक्तिरूप से सदैव परिपूर्ण भरी पड़ी है। अतीन्द्रिय आनन्द का जिस परमात्मदशा में परिपूर्ण वेदन हुआ, उसमें भी षड्गुण हानिवृद्धिरूप से; अर्थात्, अनन्त भाग हानि, असंख्यात भाग हानि, संख्यात भाग हानि, संख्यात गुण हानि, असंख्यात गुण हानि, अनन्त गुण हानि तथा अनन्त भाग वृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भाग वृद्धिरूप, संख्यात भाग वृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, अनन्त भाग वृद्धिरूप से परिणमन है; तथापि परिपूर्णता में किञ्चित् न्यूनता नहीं आती। अहा! कैसा चमत्कारिक स्वरूप! वस्तु तो कोई वस्तु है! द्रव्य, गुण और पर्यायें – तीनों चमत्कारिक! अहा! पूर्ण शक्तिवान् शाश्वत् चमत्कारिक द्रव्य! और प्रति समय ऐसी पूर्ण व्यक्तिवाला चमत्कारिक परिणमन! मुनिराज भावना भाते हैं कि ऐसी उत्कृष्ट निर्मलदशा हमें प्रगट हो!

ज्ञानी की पूर्ण दशा की भावना के समय भी, दृष्टि तो त्रिकाल शुद्ध निज ज्ञायक द्रव्यसामान्य पर ही है, परिपूर्ण पर्याय पर नहीं है। पूर्ण पर्याय की भावना के समय भी और पूर्ण पर्याय के काल में भी दृष्टि तो सदा शुद्ध आत्मद्रव्य पर ही होती है। शुद्धात्मद्रव्यसामान्य पर से दृष्टि कभी हटती नहीं है। अहा! वस्तुस्वरूप की महिमा कोई अलौकिक है! ●

(वचनामृत प्रवचन, 4/321)

(बहिनश्री के वचनामृत - ४१५ पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन)

वीतरागी सन्तों का मधुर सम्बोधन
जिनमार्ग के प्रति अभक्ति मत करना

हे जीव ! शुद्ध रत्नत्रयस्वरूप सुन्दर जिनमार्ग की अत्यन्त भक्तिपूर्वक आराधना करना । अज्ञानीजन इस मार्ग की निन्दा करे तो भी तू इस मार्ग का परित्याग मत करना क्योंकि किसी के द्वारा निन्दा करनेमात्र से यह सुन्दर मार्ग बिगड़ नहीं जाता है । - यह भाव आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने नियमसार की गाथा 186 में प्रगट किया है । आचार्यदेव के इस प्रेरणास्पद भाव पर हुए पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के मङ्गल प्रवचन इस प्रकार है—

ईसाभावेण पुणो केई णिंदंति सुन्दरं मग्गं ।
तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे ॥ 186 ॥
जो कोई सुन्दर मार्ग की निन्दा करे मात्सर्य में ।
सुनकर वचन उसके अभक्ति न कीजिये जिनमार्ग में ॥ 186 ॥

अर्थात् ईर्ष्याभाव से कोई लोग सुन्दर मार्ग को निन्दते हैं, उनके वचन सुनकर जिनमार्ग के प्रति अभक्ति नहीं करना ।

नियमसार की इस गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि अहो ! रागरहित शुद्ध रत्नत्रयरूप यह जिनमार्ग ही महा आनन्दरूप सुन्दर मार्ग है । यही मोक्ष के महा आनन्द का प्रदाता मार्ग है । जिनोपदेश से ऐसे सुन्दर जिनमार्ग को हमने जाना है और उसकी अत्यन्त महिमापूर्वक भक्ति से यहाँ उसका कथन किया है । अहो ! ऐसे सुन्दर मार्ग की तुम अत्यन्त भक्ति से

आराधन करना। अरे! संसार के घोर दुःखों से छूटने का ऐसा सरस वीतराग मार्ग प्राप्त हुआ है! ऐसा सुन्दर मार्ग और उसका उत्तम फल ज्ञानियों के हृदय में जयवन्त वर्तता है; इसलिए कैसी भी प्रतिकूलता के प्रसङ्ग में भी ज्ञानीजन इस मार्ग का परित्याग नहीं करते।

शुद्ध रत्नत्रय की आराधना द्वारा ही जिनभगवन्तों ने मुक्ति प्राप्त की है, इसलिए शुद्ध रत्नत्रय ही जिनमार्ग है, वहीं सुन्दर मार्ग है। हे भव्य! तू अत्यन्त भक्तिपूर्वक इस मार्ग की आराधना करना। शुद्ध चैतन्य परमतत्त्व में ही सर्वथा अन्तर्मुख और परद्रव्यों से अत्यन्त निरपेक्ष, जो रागरहित शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य हैं, वही मोक्ष का कारण है, वही मुमुक्षु जीवों को नियम से करने योग्य कर्तव्य है। जिनवचन से ऐसा मार्ग जानकर, जिनभावना का घोलन करते-करते इस नियमसार की रचना हुई है। अन्दर आत्मा की परिणति में तो शुद्ध रत्नत्रयरूप भाव नियमसार की रचना हुई है और द्रव्य श्रुतरूप यह नियमसार शास्त्र रच गया है। यह भव्य जीवों के लिए सुन्दर जिनमार्ग को प्रसिद्ध करता है। उसे, हे भव्य जीवों! भक्तिपूर्वक आराधन करना।

अहो! भगवान के द्वारा कथित शुद्ध रत्नत्रय मार्ग तो सदा आनन्दरूप महा सुन्दर मार्ग है। कारणपरमात्मतत्त्व स्वयं सदा ही आनन्दस्वरूप है और श्रद्धा-ज्ञान-आचरणरूप रत्नत्रय मार्ग भी आनन्दरूप है। हे जीव! तू ऐसे मार्ग में सदा तत्पर रहना। मिथ्यात्वादि में परायण अज्ञानी जीव, ईर्ष्या से ऐसे सुन्दर मार्ग की भी निन्दा करें तो इससे तू खेद-खिन्न होकर, स्वरूप से विकल मत हो जाना, च्युत मत हो जाना। तू परम भक्ति से इस मार्ग की आराधना में ही तत्पर रहना... अचल रहना... विचलित मत होना...!

अरे, ऐसा भी कोई मार्ग होता है! राग से कुछ लाभ नहीं... पर का कुछ करने की बात नहीं.... अकेले आत्मा की ही बात - ऐसा मार्ग होता है? इस प्रकार कोई अज्ञानीजन इस सुन्दर मार्ग की भी निन्दा करे, ईर्ष्या करे, द्वेषभाव रखे तो इससे घबराकर तू इस उत्तम मार्ग को छोड़ मत देना। इस मार्ग के प्रति जरा भी अभक्ति अथवा उत्साह मन्द मत करना। परमभक्ति से इस मार्ग में दृढ़ रहना। अज्ञानी निन्दा करे, इससे कहीं सुन्दर मार्ग बिगड़ नहीं जाता।

तू अपने स्वप्रयोजन को साधने में तत्परता से उत्साहवन्त रहना। कोई निन्दा करे

तो उसे सुनकर अपने स्वप्रयोजन में शिथिल मत होना। तू तो जगत् से निरपेक्षरूप से अकेला भी इस सुन्दर वीतराग मार्ग की साधना करना। प्रतिकूलता के ढेर आये तो भी चैतन्यस्वरूप को साधने में अपने उत्साहभाव को मन्द मत पड़ने देना। तेरे परम आनन्दस्वरूप परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धा, ज्ञान, आचरण में तू दृढ़ रहना। संसार में तो प्रतिकूलताएँ होती हैं, वे कहीं अन्तर में तेरे स्वरूप को साधने में रुकावट नहीं बनती हैं।

अरे ! अनन्त दुःख से भरपूर इस संसार में जीवों को सुख के लिए जिनमार्ग एक ही शरण है; अर्थात्, भगवान आत्मा के सम्यक्त्वादि रूप वीतरागभाव ही जीव को शान्ति देनेवाले हैं। तू अपने आत्मा में से ऐसी शान्ति प्रगट करना। जगत् के अज्ञानी जीव, कोलाहल करें, इससे तू अपनी शान्ति में से डिगना मत।

अहा ! ऐसा सरस परमशान्त रत्नत्रय मार्ग, उसकी भावना करने योग्य है। रत्नत्रय में तत्पर जीव को जगत् में कोई दुःख है ही नहीं; तब जगत् के समक्ष देखने का क्या काम है ? अन्तर में निजात्मा में उपयोग जोड़कर शुद्धरत्नत्रय परिणतिरूप से परिणमित होना, जिनभावना है। ऐसी जिनभावना परम आनन्ददायक है और ऐसी जिनभावना के लिए यह नियमसार शास्त्र की रचना है।

दुःख से भरपूर इस घोर संसार वन में चैतन्य की वीतरागदशारूप जिनशासन ही एकमात्र शरणभूत है। दर्शनमोहवाले जीवों को भव के जङ्गल में से बाहर निकलने का मार्ग नहीं सूझता है। जैनदर्शन ही चैतन्यतत्त्व का सच्चा स्वरूप बतलाकर भव से छूटने का मार्ग दर्शाता है। आचार्यदेव ने इस नियमसार परमागम में स्वयं निजभावना के लिए तथा जगत् के जीवों के हित के लिए यह सुन्दर मार्ग प्रसिद्ध किया है।

देखो, यह सूत्रकार कुन्दकुन्द आचार्यदेव की अद्भुत दशा ! जिन्होंने सर्वज्ञ परमात्मा का उपदेश जाना था, जो सैंकड़ों परम अध्यात्म शास्त्रों के रहस्य में कुशल थे, उन्होंने अपनी निजभावना के लिए इस नियमसार परमागम की रचना की है। अन्तर की चैतन्यपरिणति में शुद्ध रत्नत्रयरूप नियमसार की रचना होती जाती है और उसके निमित्त से यह नियमसार नामक द्रव्यश्रुत की रचना होती है।

नियम, अर्थात् शुद्ध रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग किस प्रकार प्रगट हो ? - उसकी विधि

इस नियमसार में बताई है। अहो ! यह नियमसार तो परमेश्वर शास्त्र है, परमेश्वर भगवान से कथित भागवत् है। इसमें कथित परमतत्त्व की भावना करने से कोई परम अपूर्व आनन्द होता है। इस भागवत् शास्त्र में कथित परमानन्दमय परमात्मतत्त्व को जिसने जाना है, उस महापुरुष ने समस्त अध्यात्मशास्त्रों के रहस्यों को जान लिया है, उन्होंने परम आनन्दरूप वीतराग सुख का स्वाद चख लिया है। वे अन्तर्मुखरूप से अपने कारणपरमात्मतत्त्व को ही भाते हुए, अनुभवते हुए, शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप होकर, सदा काल शाश्वत सुख को भोगते हैं। ऐसा इस भागवत् शास्त्र का उत्तम फल है। ●

(नियमसार परमागम पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के आठवीं बार के प्रवचन, आत्मधर्म गुजराती, दिसम्बर 1971 से साभार)



आधि-व्याधि-उपाधिरहित दशा ही समाधि

सम्यग्दर्शन और स्वानुभूतिसहित आत्मा के अवलम्बन से अन्तर में विशेष स्वरूपस्थिरता प्रगट होने पर मुनिपना प्रगट होता है। अहा ! मुनिराज तो समाधिपरिणत होते हैं, आधि-व्याधि और उपाधि से तीनों काल मुक्त, शान्त और वीतराग समाधिस्वरूप निज ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से परिणति में आधि-व्याधि और उपाधिरहित जो निराकुल शान्त और वीतरागदशा हुई, उसे समाधि कहते हैं। मन में होनेवाले सङ्कल्प-विकल्प, वे आधि हैं; शरीर में होनेवाले रोग, वह व्याधि है और स्त्री-पुत्र अथवा व्यापार-धन्धे की जञ्जाल, वह उपाधि है - इन तीनों से रहित आत्मा की जो आनन्दमय दशा, वह समाधि है। मुनिराज ऐसी समाधिरूप परिणत हैं। बाहर से अकेला नग्नपना अथवा पञ्च महाव्रत इत्यादि के शुभपरिणाम, वह कोई परमार्थ मुनिपना नहीं है। जो सहजरूप से समाधिपरिणत हों, वही मुनि कहलाते हैं।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनमृत-प्रवचन, भाग ४, पृष्ठ २०४